हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-सीरीज का ११३वाँ पुष्प

कबीर

[कबीरके व्यक्तित्व, साहित्य और दार्शनिक विचारोंकी आलोचना]

लेखक

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी डी. लिट्.

'विश्वभारती' (शान्ति निकेतन) के संस्कृत और हिन्दीके भूतपूर्व अध्यापक तथा 'हिन्दी भवन' के भूतपूर्व अध्यक्ष;
सम्प्रति हिंदू विश्वविद्यालयके
हिंदी विभागके अध्यक्ष

प्रकाशक

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई-४.

परम श्रद्धेय

आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन महोदयको

उनके बासठवें वर्षमें प्रवेश करनेके

अवसरपर

लेखककी विनम्र भेंट

भूमिका

'कबीर' लिखते समय नाना साधनाओंकी चर्चा प्रसंग-वश आ गई है। उनके उसी पहलूका परिचय विशेष रूपसे कराया गया है जिसे कबीरदासने अधिक लक्ष्य किया था। पाठक पुस्तकमें यथास्थान पढ़ेंगे कि कबीरदास बहुत-कुछको अस्वीकार करनेका अपार साहस लेकर अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने तत्काल प्रचलित नाना साधन-मार्गोंपर उग्र आक्रमण किया है। कबीरदासके इस विशेष दृष्टिकोणको स्पष्ट रूपसे हृदयंगम करानेके लिए मैंने उसकी ओर पाठककी सहानुभूति पैदा करनेकी चेष्टा की है। इसीलिए कहीं-कहीं पुस्तकमें ऐसा लग सकता है कि लेखक भी व्यक्तिगत भावसे किसी साधन-मार्गका विरोधी है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। जहाँ कहीं भी अवसर मिला है वहीं लेखकने इस भ्रमको दूर करनेका प्रयास किया है, पर फिर भी यदि कहीं भ्रमका अवकाश रह गया हो तो वह इस वक्तव्यसे दूर हो जाना चाहिए। कबीरदासने तत्कालीन नाथपन्थी योगियोंकी साधन-क्रियापर भी आक्षेप किया है, यथास्थान उसकी चर्चा की गई है। पुस्तकके अधिकांश स्थलोंमें 'योगी' शब्दसे इन्हीं नाथपन्थी योगियोंसे तात्पर्य है। समाधिके विरुद्ध जहाँ कहीं कबीरदासने कहा है वहाँ 'जड़-समाधि' अर्थ समझना चाहिए। यथाप्रसंग पुस्तकमें इसकी चर्चा आ गई है। वैसे, कबीरदास जिस सहज-समाधिकी बात कहते हैं वह योगमार्गसे असम्मत नहीं है। यहाँ यह भी कह रखना जरूरी है कि पुस्तकमें भिन्न-भिन्न साधन-मार्गोंके ऐतिहासिक विकासकी ओर ही अधिक ध्यान दिया गया है।

पुस्तकके अन्तमें उपयोगी समझकर 'कबीर-वाणी' नामसे कुछ चुने हुए पद्य संग्रह किये गये हैं। उनके शुरूके सौ पद श्री आचार्य क्षितिमोहन सेनके संग्रहके हैं। इन्हींको कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने अँग्रेजीमें अनूदित किया था। आचार्य सेनने इन पद्योंको लेनेकी अनुमति देकर हमें अनुगृहीत किया है।

पं० नाथूरामजी प्रेमीने अपने स्वाभाविक प्रेम और उत्साहके साथ पुस्तकको प्रकाशित किया है, इसके लिए लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है। भाई श्री मोहनलालजी वाजपेयीने नाना भावसे सहायता करके पुस्तकको अधिक त्रुटियुक्त होनेसे बचा लिया है। अनेक लेखकों और प्रकाशकोंके अमूल्य ग्रन्थोंकी सहायता न मिली होती तो पुस्तक लिखी ही न गई होती। जिन लोगोंके मतका कहीं-कहीं विरोध करना पड़ा है उनके प्रति मेरी गम्भीर श्रद्धा है। वस्तुतः जिनके ऊपर श्रद्धा है उन्हींके मतोंकी मैंने समीक्षा की है। इनमें कई मेरे गुरुतुल्य हैं। सब लोगोंके प्रति मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन
फाल्गुनी पूर्णिमा, १९९८ —हजारीप्रसाद द्विवेदी

संकेत विवरण

[जिन पुस्तकोंका पूरा नाम और विवरण ग्रंथमें ही दिया हुआ है उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।]

अ० रा०—अध्यात्म रामायण, श्रीमुनिलालका अनुवाद, गोरखपुर, सं० १९८९

अष्टो०—ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, १९३२

उपासक०—भारतवर्षीय उपासक संप्रदाय, श्रीअक्षयकुमार दत्त प्रणीत, कलकत्ता १३१४ बंगाब्द (द्वितीय संस्करण)

क० ग्रं०—कबीर ग्रंथावली, श्री श्यामसुन्दरदास संपादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, १९२८

क० वच०—कबीरवचनावली, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय-संपादित, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, १९१६

क० मन०, मनसूर } कबीर मनसूर, स्वामी परमानंदकृत, भानजी कुबेरजी पेंटर द्वारा प्रकाशित, बम्बई, १९०२

गोरक्ष० वि०, गोरक्षविजय } —गोरक्षविजय, श्री अब्दुल करीम संपादित, कलकत्ता, १३२४ बंगाब्द

गोपी०—गोपीचन्द्रेर गान, कलकत्ता विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित और श्री विश्वेश्वर भट्टाचार्य द्वारा संकलित

गो० सि० सं०—गोरक्ष-सिद्धान्त म० म० गोपीनाथ कविराज सम्पादित, सरस्वतीभवन टेक्स्ट्स नं. १८, काशी, १९२५

चर्या०—चर्याचर्यनिश्चय, बौ० गा० दो० में संकलित

जाति०—भारतवर्षमें जातिभेद, श्री क्षितिमोहनसेन लिखित, कलकत्ता, १९४०

ज० डि० ले०—Journal of the Department of Letter Vol. XXVIII कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३४। इसमें श्री बागची द्वारा सम्पादित निम्नलिखित ग्रन्थ—(१) तिल्लोपादका दोहा-कोष, (२) सरहपादका दोहा (३) कण्हपादका० (४) सरहपादीय दोहा-संग्रह (५) प्रकीर्ण दोहा-संग्रह

डायसन०—The system of vedant by P. Ducssen. शिकागो, १९१२

पंचदशी—विद्यारण्यस्वामीविरचित, निर्णयसागर, बम्बई १९१८

पदा०—शब्दा० देखिये

प्राण०—प्राणसंगली, सन्त संपूरणसिंहजी सम्पादित, तरनतारन, पंजाब

फर्कुहर—An Outline of the Religious Literature of India by J. N. Farquhar, Oxford, 1920

बौ० गा० दो०, बौद्ध० — बौद्ध गान ओ दोहा, म० म० हरप्रसाद शास्त्री संपादित कलकत्ता, १३२३ (बंगाब्द)

भ० र० सिं० भक्ति० र० — भक्तिरसामृतसिंधुः, श्री रूपगोस्वामिपादविरचित, मुर्शिदाबाद १३३१

मनसूर—क० मन० देखिये

मिडिएवल मिस्टि०—Medieval Mysticissm of India, श्री क्षितिमोहन सेन लिखित, लंडन, १९३५

विचार०—साधु श्री विचारदासजीकी टीका, 'कबीरसाहबका बीजक' पर, काशी, सं० १९८३

विश्व०—'बीजक कबीरसाहब' पर श्री विश्वनाथसिंहजू देव बहादुर कृत पाखण्डखण्डिनी टीका, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, सं० १९६१

वेदान्त०—वेदान्तसार, कर्नल जे० ए० जैकोब सम्पादित द्वितीय संस्करण, निर्णयसागर, बम्बई १९१६

शब्दा०—शब्दावली, कबीरसाहबकी, वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद, १९०० ई०

शारदा०—शारदातिलक-तंत्रम्—Arthur Avalon द्वारा संपादित Tantric Text Society Vol. XVI कलकत्ता, १९३३

शिव०—शिवसंहिता, पाणिनी ऑफिस, इलाहाबाद १९१४

शुक्ल०—पं० रामचन्द्र शुक्लका हिंदी साहित्यका इतिहास, प्रयाग, सं० १९९०

स० क० सा०—सत्य कबीरकी साखी, वेंकटेश्वर, बम्बई, सं० १९७७

सहजा०, सहजाम्नाय० —सहजाम्नायपंजिका, बौ० गा० दो० में संकलित

हठ०—हठयोगप्रदीपिका, पाणिनि ऑफिस, इलाहाबाद १९१५

हिंदुत्व०—श्रीरामदास गौड़ रचित, ज्ञानमंडल, काशी, १९९७

हिं० भा० सा० वि०—हिन्दी भाषा और साहित्यका विकास, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, लहेरियासराय, १९९७

विषय-सूची

कबीर

कबीर

१. प्रस्तावना

कबीरदासका लालन-पालन जुलाहा परिवारमें हुआ था, इसलिए उनके मतका महत्त्वपूर्ण अंश यदि इस जातिके परंपरागत विश्वासोंसे प्रभावित रहा हो तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। यद्यपि 'जुलाहा' शब्द फारसी भाषाका[1] है, तथापि इस जातिकी उत्पत्तिके विषयमें संस्कृतके पुराणोंमें कुछ-न-कुछ चर्चा मिलती ही है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके ब्रह्मखंडके दसवें अध्यायमें बताया गया है कि म्लेच्छसे कुविन्द-कन्यामें 'जोला' या जुलाहा जातिकी उत्पत्ति हुई है[2]। अर्थात् म्लेच्छ पिता और कुविन्द मातासे जो सन्तति हुई वही जुलाहा कहलाई। पुराणकारने म्लेच्छ और कुविन्दके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहने दिया है। विश्वकर्माने शूद्राके गर्भसे नौ शिल्पकार पुत्र उत्पन्न किये थे : माली, लुहार, शंखकार, कुविन्द, कुम्हार, कँसेरा, बढ़ई, चित्रकार और सुनार[3]। इस प्रकार कुविन्द एक शिल्पी या कलाकार है और उसका कार्य वस्त्र बुनना है। क्षत्रिय

---

१ प्रसिद्ध विद्वान् राय कृष्णदासजीने अपने एक पत्रमें मुझे बताया है कि 'जुलाहा' शब्द संस्कृत 'चोलवाय' से बना है। परन्तु मुझे संस्कृत साहित्यमें 'चोलवाय' शब्दका कहीं प्रयोग नहीं मिला।

२ म्लेच्छात् कुविन्दकन्यायां जोला जातिर्बभूव ह।
जोलात् कुविन्दकन्यायां शराकः परिकीर्तितः॥

३ विश्वकर्मा च शूद्रायां वीर्याधानं चकार ह।
ततो बभूवुः पुत्रास्ते नवैते शिल्पकारिणः॥
मालाकारः कर्मकारः शंखकारः कुविन्दकः।
कुम्भकारः कांसकारः षडेते शिल्पिनां वराः॥
सूत्रधारश्चित्रकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद् अजात्या वर्णसकराः॥

पिता और शूद्रा माताके संयोगसे म्लेच्छकी उत्पत्ति हुई। यह उत्पत्ति जिस समय हुई उस समय माता ऋतुदोषसे अपवित्र थी और पिताके मनमें पाप-भावना थी। इसलिए इस संयोगसे बलवान्, दुरन्त और पापपरायण म्लेच्छ जातियोका प्रादुर्भाव हुआ। ये जातियाँ क्रूर, निर्भय, दुर्धर्ष और विधर्मी हुई[१]। इस प्रकार हिन्दू पुराणोंके मतसे जुलाहा जातिका प्रादुर्भाव मुसलमान पिता और कुविन्द माताके आकस्मिक संयोगसे हुआ। इस देशमें इस प्रकारके आकस्मिक संयोगसे नई जातिका पैदा हो जाना अपरिचित घटना नही है। आज जो सहस्रोंकी संख्यामे जातियाँ वर्तमान हैं, वस्तुतः उनमें कई इसी प्रकार बन गई हैं; परन्तु जुलाहोंके सम्बन्धमें पुराणोंकी यह व्यवस्था कई कारणोंसे मानने योग्य नहीं मालूम होती।

हिन्दू पुराणों और धर्मग्रंथोंकी यह प्रवृत्ति रही है कि किसी जातिकी उत्पत्तिके लिए निम्नलिखित पाँच कारणोंमेंसे किसी एकको मान लेना :

(१) वर्णोंके अनुलोम विवाहसे,
(२) वर्णोंके प्रतिलोम विवाहसे,
(३) वर्णोंकी संस्कार-भ्रष्टताके कारण,
(४) वर्णोंसे बहिष्कृत समुदायसे, और
(५) भिन्न सकर जातियोके अन्तर्विवाहसे।

इन पाँच कारणोंके अतिरिक्त कोई छटा कारण हिन्दू पुराणों और स्मृतियोंमें नहीं बताया गया। जब किसी नई जातिका आविर्भाव भारतीय भूमिपर हुआ है तभी कोई-न-कोई ऐसा ही मिश्रण सोच लिया गया है। यह धारणा केवल शास्त्रीय विवेचनाओंतक ही सीमित नहीं रही है, साधारण जनतामें भी बद्धमूल हो गई है।

इस प्रकारकी कल्पनाएँ जातिकी सामाजिक मर्यादाओंका नियमन भी करती हैं। स्मृतियों और पुराणोंकी कथाओंपरसे यह अन्दाजा भी लगाया जा सकता है कि जिस समय ये कथाएँ लिखी गई थी उस समय किसी जातिकी सामाजिक मर्यादा

---

१ क्षत्रवीर्येण शूद्रायामृतुदोषेण पापतः।
बलवन्त्यो दुरन्ताश्च बभूवुर्म्लेच्छजातयः।
अविद्धकर्णाः क्रूराश्च निर्भया रणदुर्जयाः।
शौचाचारविहीनाश्च दुर्धर्षा धर्मवर्जिताः॥

क्या और कैसी थी। यह ध्यान देनेकी बात है कि कई जातियोंके सम्बन्धमें संस्कृत-ग्रन्थोंमें जो कथाएँ कही गई हैं उन्हें वे जातियाँ स्वयं नहीं मानतीं। प्रायः आर्येतर जातियाँ अपनी उत्पत्ति और मर्यादाके विषयमें कोई-न-कोई पौराणिक कथा बताया करती हैं। इन कथाओंमें साधारणतः उनका श्रेष्ठत्व प्रतिपादित किया गया होता है और कभी-कभी यह भी बताया गया है कि वर्तमान कालमें उनकी सामाजिक मर्यादा किस अभिशापवश या किस धोखेके कारण हीन हो गई है। उदाहरणार्थ, पटवेगर नामक कपड़ा बुननेवाली जाति अपनी उत्पत्ति शिवकी जिह्वासे बताती है और यह दावा करती है कि मानव-जातिकी लज्जा बचानेके लिए शिवजीने इन्हें वस्त्र बुननेका सबसे पवित्र कार्य सौंपा है। इनके आदि पुरुषोंको उपवीत और वेद प्राप्त हुए थे[1]।

आधुनिक कालमें मनुष्य-गणनाके समय जुलाहा जातिके सम्बन्धमें जो तथ्य प्राप्त हुए हैं उनपरसे पुराण-समर्थित आकस्मिक संयोगवाली बातका समर्थन नहीं होता। जुलाहे मुसलमान हैं, पर इनसे अन्य मुसलमानोंका मौलिक भेद है। सन् १९०१ की मनुष्य-गणनाके आधारपर रिजली साहबने 'पीपुल्स आफ इण्डिया' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रंथमें उन्होंने तीन मुसलमान जातियोंकी तुलना की थी। वे तीन हैं; सैयद, पठान और जुलाहे। इनमें पठान तो भारतवर्षमें सर्वत्र फैले हुए हैं पर उनकी संख्या कहीं भी बहुत अधिक नहीं है। जान पड़ता है कि बाहरसे आकर ये नाना स्थानोंपर अपनी सुविधाके अनुसार बस गये। पर जुलाहे पजाब, युक्तप्रान्त, बिहार और बंगालमें ही पाये जाते हैं। ये जहाँ हैं वहाँ थोकके थोक हैं। एक पूराका पूरा भूखण्ड इनके द्वारा अध्युषित है। पजाबमें इनकी संख्या ६,९५,११९, युक्तप्रान्तमें ९,२३,०३२ और बंगाल-बिहारमें ९२,४२,०४९ थी। पंजाबमें इनकी बस्ती काश्मीर रियासतकी दक्षिण सीमासे शुरू होकर कुछ दूरतक पंजाबके उत्तरी किनारेपर फैली हुई है। उत्तर प्रदेश जहाँपर राजपूताना और मध्यभारतकी सीमाओंसे मिलता है वहाँसे लेकर बनारस और गोरखपुर कमिश्नरीकी पूर्वी सीमातक एक मेखलाकी भाँतिके भूखण्डमें इनकी दूसरी बस्ती है। बिहारके उत्तरी अंशमें और नेपालकी दक्षिण-पूर्व सीमातक इनकी घनी बस्ती है। फिर दक्षिण बिहारमें भी इनकी एक छोटी-सी बस्ती है। दक्षिणी बंगालमें बर्दवानसे ढाका कमिश्नरीतक

१ माइसोर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि० ४, पृ० १७६-७, 'जातिभेद' से उद्धृत।

ये बसे हुए हैं। इस प्रकार उत्तरी पंजाबसे लेकर ढाका कमिश्नरीतक एक अर्ध-चन्द्राकृति भूभागमें ये फैले हुए हैं। इन प्रदेशोंमें कभी नाथपन्थी योगियोंका बड़ा जबरदस्त प्रभाव था। रिजली साहबका अनुमान है कि यह जुलाहा जाति किसी निम्न स्तरकी भारतीय जातिका मुसलमानी रूप है। सामाजिक परिस्थिति इनकी अच्छी नहीं रही और नवागत धर्ममें कुछ अच्छा स्थान पा जानेकी आशासे इन्होंने समूह-रूपमें धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। यही कारण है कि ये सैयद और पठानोंकी भाँति सारे भारतवर्षमें फैले हुए नहीं हैं बल्कि अपने मूल निवासस्थानमें ही पाये जाते हैं।[1]

जिन दिनों कबीरदास इस जुलाहा-जातिको अलंकृत कर रहे थे उन दिनों, ऐसा जान पड़ता है कि इस जातिने अभी एकाध पुश्तसे ही मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीरदासकी वाणीको समझनेके लिए यह निहायत जरूरी है कि हम इस बातकी जानकारी प्राप्त कर लें कि उन दिनों इस जातिके बचे-खुचे पुराने संस्कार क्या थे।

सन् १९०१ की मनुष्य-गणनाके आधारपर सर आर्थन्टेल बेन्सने Grundriss der Indo-orischen philologie and Altertumskunde सीरीजमें भारतीय जातियोंके सम्बन्धमें जो अध्ययन उपस्थित किया उसमें २२ प्रकारकी वयनजीवी (कपड़ा बुनकर जीविका चलानेवाली) जातियोंका उल्लेख है। इनकी संख्या एक करोड़से ऊपर है। सारे भारतवर्षमें इन सभी जातियोंकी सामाजिक मर्यादा एक ही-सी नहीं है। निचले बंगालके ताँती इनमें सबसे अधिक ऊँची सामाजिक मर्यादाके अधिकारी बताये गये हैं। अधिक धनी और सम्भ्रान्त होनेपर ये लोग कायस्थोंके साथ विवाह-सम्बन्ध भी कर लेते हैं। इसी प्रकार गुजरात और मध्यभारतकी खत्री पटवे जातिकी सामाजिक मर्यादा भी अच्छी बताई जाती है। पर साधारणतः वयनजीवी जातियाँ निम्न श्रेणीकी मानी जाती हैं। पण्डितोंका अनुमान है कि इन २२ प्रकारकी वयनजीवी जातियोंमेंसे अधिकांश मूल द्रविड अधिवासियोंमेंसे बनी होंगी। उड़ीसा और मध्यप्रदेशकी पहाड़ियोंमें कुछ कोल या द्रविड श्रेणियोंका जुलाहा होना अब भी जारी है। पाँका और गाँडा ऐसी ही जातियाँ हैं। इनमें पाँका जातिके अधिकांश व्यक्ति कबीरपंथी हो रहे हैं।

---

१ 'पीपुल्स ऑफ इण्डिया', पृ० १२३

उत्तरभारतके वयनजीवियोंमें कोरी मुख्य हैं। बेन्स जुलाहोंको कोरियोंकी समशील (Corresponding) जाति ही मानते हैं। कुछ एक पंडितोंने यह भी अनुमान किया है कि मुसलमानी धर्म ग्रहण करनेवाले कोरी ही जुलाहे हैं। यह उल्लेख किया जा सकता है कि कबीरदास जहाँ अपनेको बार-बार जुलाहा कहते हैं[1] वहाँ कभी-कभी अपनेको कोरी भी कह गये हैं[2]। ऐसा जान पड़ता है कि यद्यपि कबीरदासके युगमें जुलाहोंने मुसलमानी धर्म ग्रहण कर लिया था पर साधारण जनतामें तब भी कोरी नामसे परिचित थे। कबीरदासने बुनाईके रूपकों और उलटबाँसियोंमें कई जगह 'जुलाहा'के स्थानपर 'कोरी' नाम लिया है। आजकल कोरियोंमेंसे बहुतोंने कबीरपंथ स्वीकार कर लिया है, पर बहुत-से हिन्दू विचारोंके कट्टर अनुयायी भी हैं। आजकल इनमें उच्च श्रेणीके हिन्दुओंकी आचारनिष्ठाके अनुकरणकी प्रवृत्ति जोरोंपर पाई जाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी प्रस्तुत लेखक यह नहीं मानता कि कोरियोंका ही मुसलमान संस्करण जुलाहा है। अबतक उपर्युक्त अनुमानका पोषक न तो कोई सामाजिक कारण बताया गया है, न वैज्ञानिक नाप-जोख। इसलिए कोरियों और जुलाहोंको एक श्रेणीकी दो जातियाँ मान लेनेका कोई प्रमाण नहीं है।

कबीरदासकी वाणियोंसे जान पड़ता है कि मुसलमान होनेके बाद न तो जुलाहा जाति अपने पूर्व संस्कारोंसे एकदम मुक्त हो सकी थी और न उसकी सामाजिक मर्यादा बहुत ऊँची हो सकी थी। यह दूसरी बात विचारणीय है। रिजलीके जो अनुमान ऊपर दिये गये हैं उनमें एक यह है कि सामाजिक मर्यादाकी उन्नतिके लिए इस जातिने समूहरूपमें धर्मान्तर ग्रहण किया होगा। समूहरूपमें धर्मान्तर ग्रहण करनेके विषयमें कोई सन्देह नहीं है, पर साधारणतः इस देशके निचली जातिके लोग उस कारणसे धर्मान्तर ग्रहण करते नहीं देखे जाते। नीचीसे नीची श्रेणीका हिन्दू अपनेको विधर्मीसे उत्तम जातिका समझता है और कबीरकी गवाहीपर तो हम निश्चित रूपसे कह सकते हैं कि न तो

---

१ (१) जाति जुलाहा मतिकौ धीर। हरषि हरषि गुन रमै कबीर।

(२) तू ब्राह्मन मैं काशीका जुलाहा।—क० ग्र०, पद २७० इत्यादि।

२ परिहरि काम राम कह बौरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरिको नाँव अभै-पद-दाता कहै कबीरा कोरी॥

—क० ग्रं०, पद ३४६

लोककी दृष्टिमें और न अपने आपकी ही दृष्टिमें जुलाहा जाति उच्चतर सामाजिक मर्यादा पा सकी थी। आज भी जुलाहोंके सम्बन्धमें जो लोकोक्तियाँ और किस्से-कहानियाँ आदि प्रचलित हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि सब मिलकर यह जाति आज भी साधारण जनताकी दृष्टिमें ऊँची नहीं उठ सकी। स्वयं रिजली साहबने भी अपनी पुस्तकमें ऐसी लोकोक्तियोंका मनोरंजक संग्रह किया है। कबीरदासने जुलाहोंकी जातिको कमीनी जाति कहा है[१] और यह भी बताया है कि उन दिनों भी यह जाति जनसाधारणमें उपहास और मजाककी पात्र थी। साधारणतः मूर्खतासम्बन्धी कहानियोंका एक बहुत बड़ा अंश सारे भारतवर्षमें जुलाहोंसे भी बना है।

अब प्रश्न यह है कि इतना बड़ा जनसमूह एक ही साथ मुसलमान क्यों हो गया? सामाजिक मर्यादाकी उन्नतिवाली बात तो कबीरकी अपनी गवाहीसे ही परास्त हो जाती है। इस प्रश्नको जरा विचारपूर्वक जाँच करनेकी चेष्टा की जाय। एक विचित्र बात यह है कि अधिकांश वयनजीवी जातियोंमें यह एक उल्लेख-योग्य विशेषता पाई जाती है कि वे अपने आपको उसी सामाजिक स्तरमें रखनेको प्रस्तुत नहीं हैं जिसमें साधारणतः उन्हें रखा गया है। ये लोग अपनी उत्पत्ति और इतिहास अलगसे बताया करते हैं और अपनी वंशगत श्रेष्ठताका दावा करते हैं। कभी-कभी वे अपनेको ब्राह्मण भी कहते हैं। इस प्रकार तामिल और तंजोर प्रान्तकी पटलूनकर जाति (जो गुजरात-काठियावाड़की आदिम अधिवासी होनेके कारण 'सौराष्ट्रक' भी कहलाती है) अपनेको ब्राह्मण कहती है और उपवीत धारण करती तथा आयंगर आदि पदवियोंका व्यवहार करती है।[२] पटवेगर जातिकी चर्चा पहले ही हो गई है। दाक्षिणात्यके साले भी अपनेको ब्राह्मण कहने और शास्त्री आदि पदवियाँ धारण करने लगे हैं। ब्राह्मणोंकी भाँति इनकी शाखाएँ और गोत्र भी हैं। शायद ही किसी अन्य जातिमें अपनी वर्तमान सामाजिक मर्यादाके विषयमें ऐसा तीव्र असन्तोष हो जैसा कि वयनजीवी जातियोंमें पाया

---

१ सरगलोकमें क्या दुख पड़िया तुम आई कलिमाहीं।
जाति जुलाहा नाम कबीरा अजहुँ पतीजौ नाहीं ॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटम्बर अगरचँदन घसि लीना।
आइ हमारै कहा करौगी हम तौ जाति कमीना ॥ —क० ग्रं०, पद २७०

२ माइसौर ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स, जि० ४, पृ० ४७४—'जाति-भेद' से।

जाता है। ऐसा जान पड़ता है, किसी कालमें यह पेशा उत्तम गिना जाता था और किसी अज्ञात कारणसे इस पेशेके लोग अपनी ऊँची मर्यादासे अधःपतित हुए हैं और इनके भीतर उनकी पुरानी महिमाके जो संस्मरण बचे रहे हैं वे ही उन्हें असन्तुष्ट बनाये हुए हैं। सम्भवतः इस देशमें ब्राह्मण-श्रेष्ठता प्रतिष्ठित होनेके पूर्व इन बाईस वयनजीवी जातियोंमेंसे कई जैन-बौद्धादि ब्राह्मणेतर धर्मोंमें उन्नत स्थानकी अधिकारिणी रही होंगी।

बंगाल-बिहारकी 'सराक' जाति ताँतियोंकी ही एक शाखा है। इनके विषयमें हालहीमें एक अत्यन्त मनोरंजक तथ्यका रहस्योद्घाटन हुआ है। ब्रह्मवैवर्त पुराणके अनुसार 'शराक' जातिकी उत्पत्ति जुलाहा पिता कुविन्द (ताँती) मातासे हुई है[1]। परन्तु आधुनिक खोजोंमे पता चला है कि ये शराक असलमें श्रावकोंके अर्थात् जैनियोंके भग्नावशेष है जो अवस्था-दुर्विपाकसे समाजके निचले स्तरमें डाल दिये गये हैं। अब भी इनके सामाजिक आचारोंमे बहुत-कुछ जैन आचार रह ही गये हैं। अब फिरसे जैन मुनियोंने इनकी ओर ध्यान देना शुरू किया है।

सराक (शराक = श्रावक) जातिके इस रहस्योद्घाटनपरसे यह अनुमान पुष्ट होता है कि अन्यान्य वयनजीवियोंकी वर्तमान अवस्थाका कारण उनका ब्राह्मणेतर विश्वासका आश्रय होना चाहिए। शायद इन्होंने शुरू-शुरूमें ब्राह्मण धर्मका जबर्दस्त विरोध किया होगा। विरोधकी मात्राका कुछ अनुमान तो कबीरके पदोंसे ही हो जाता है।

लेकिन इन वयनजीवी जातियोंमें सबसे मनोरंजक बंगालके 'जुगी' या योगी हैं। सन् १९२१ की मनुष्य-गणनाके अनुसार अकेले बंगालमें इन जुगी या योगी लोगोंकी संख्या २,६५,९१० थी। ये सारे बगालमे फैले हुए हैं और कपड़ा बुननेका काम करते हैं। हिन्दू समाजमें इनका स्थान क्या है, यह इस एक बातसे अनुमान किया जा सकता है कि १९२१ ई० की मनुष्य-गणनाके समय जब एक जुगी परिवारने अपनेको स्थानीय प्रचलनके अनुसार 'जुगी' न लिखकर 'योगी' लिखाना चाहा तथा अपनी स्त्रियोंके नामके सामने 'देवी' जुड़वानेकी इच्छा प्रकट की, तो गणना-लेखक ब्राह्मण-कर्मचारीने कहा था कि मैं अपना हाथ कटा देना अच्छा समझूँगा, पर 'जुगी' को 'योगी' और इनकी स्त्रियोंको

---

१. जोलात् कुविन्दकन्यायां शराकः परिकीर्तितः। —ब्र० वै० पुराण १०।१२१

'देवी' नहीं लिख सकूँगा ! आजकल इन योगियोंकी दृढ़ संघटित सभा है जो जोगियोंके सम्बन्धमें अच्छी जानकारी संग्रह कर रही है। ये लोग अपनेको 'योगी ब्राह्मण' भी कहने लगे हैं। इस प्रकारकी योगी जातियाँ बिहारमें भी पाई जाती हैं और उत्तर प्रदेशमें भी किसी जमानेमें थीं। आचार्य क्षितिमोहन सेन महाशयने अपने 'भारतवर्षमें जाति-भेद' नामक ग्रन्थमें लिखा है (पृ० १४४) कि "बंगालके युगी (जुगी) या नाथ लोग पहले तो वेद-स्मृतिशासित हिन्दू ही नहीं थे। नाथ-धर्म एक स्वतन्त्र और पुराना धर्म है। मध्य युगमें इनमेंके अधिकांश बाध्य होकर मुसलमान हो गये थे। ये ही जुलाहे हुए। ये स्वयं अपना पौरोहित्य किया करते थे। बादमें उन लोगोंने, जो पुरोहितका काम करते थे, जनेऊ पहनना शुरू किया। इससे समाजमें एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। टिपरा जिलेके कृष्णचन्द्र दलालने जनेऊ पहननेका आन्दोलन किया था।...अब इनमें कितने ही बाहर जाकर 'पण्डित', 'शर्मा' और 'उपाध्याय' बनकर बाकायदा ब्राह्मण बन गये हैं। ऐसी कई घटनायें मैं व्यक्तिगत रूपसे जानता हूँ।"

कलकत्ता विश्वविद्यालयने 'गोपीचन्देर गान' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित की है। इसके दूसरे भागकी भूमिकामें (पृ० ३६-७) संपादकने लिखा है कि, "योगियोंका पूर्व प्रभाव अब कुछ भी नहीं रह गया है। ये लोग क्रमशः विशुद्ध हिन्दुत्वकी ओर झुके आ रहे हैं और जीविका चलानेके लिए उन्होंने कपड़ा बुनना, चूना बेचना और अन्यान्य व्यवसाय आरंभ किये हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें नाना भाँतिकी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। शायद ये नाना जातिके मिश्रणसे बने हुए किसी धर्म-सम्प्रदायके भग्नावशेष हैं। आज भी रंगपुर जिलेके योगियोंके परम उपास्य देवता 'धर्म' ही हैं। इनके स्मरणीय महा-पुरुष हैं गोरखनाथ, धीरनाथ, छायानाथ और रघुनाथ आदि। ये कार्तिक और वैशाख मासमें भीख माँगकर चावल संग्रह करते और उससे 'धर्म' देवताकी पूजा करते हैं। इस पूजामें हंस और कबूतर वगैरः उत्सर्ग तो किये जाते हैं पर मारे नहीं जाते।...'धर्म' की कोई मूर्ति नहीं बनाई जाती। इनके गुरु और पुरोहित ब्राह्मण नहीं होते बल्कि इनकी अपनी ही जातिके आदमी होते हैं। पुरोहितको 'अधिकारी' कहते हैं। स्त्रियोंको पूजाके लिए अधिकारीकी मध्यस्थता जरूरी नहीं होती। जन्मके बाद क्षौर-कर्मके समय बालकोंका कान चीर देना निहायत

जरूरी समझा जाता है। तीन वर्षकी उमरमें ही गुरु-मन्त्र ग्रहण करना आवश्यक होता है अन्यथा शिशुका पंक्ति-भोजनका अधिकार जाता रहता है। मृत-देहको 'योड़आसन' या योगासनमें समाधि दी जाती है। यह भी सुना गया है कि कहीं-कहीं धर्म ठाकुरको चूनेका उपहार दिया जाता है। चूना बेचना और भीख माँगना रंगपुरके योगियोंका प्रधान व्यवसाय है। किन्तु ढाका और टिपरा जिलेमें कपड़ा बुनना ही प्रधान व्यवसाय है।..."

ऐसा जान पड़ता है कि मुसलमानोंके आनेके पहले इस देशमें एक ऐसी श्रेणी वर्तमान थी जो ब्राह्मणोंसे असन्तुष्ट थी और वर्णाश्रमके नियमोंकी कायल नहीं थी। नाथपंथी योगी ऐसे ही थे। रमाई-पंडितके 'शून्यपुराण' से जान पड़ता है कि एक प्रकारके तान्त्रिक बौद्ध उन दिनों मुसलमानोंको धर्म-ठाकुरका अवतार समझने लगे थे। उन्हें यह आशा हो चली थी कि अब पुनः एक बार बौद्ध धर्मका उद्धार होगा। शायद उन्होंने हिन्दू-विरोधी सभी मतोंको बौद्ध ही मान लिया था। जो हो, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियोंकी एक बहुत बड़ी जाति थी, जो न हिन्दू थी और न मुसलमान। इस प्रसंगमें श्री राय कृष्णदासजीसे मुझे यह महत्त्वपूर्ण सूचना प्राप्त हुई है कि बनारसके अलईपुराके जुलाहे अपनेको 'गिरस्त' (=गृहस्थ) कहते हैं। यह शब्द बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जुलाहा जाति भी रही होगी। बंगालकी युगी जाति इसी सम्प्रदायमूलक जातिका भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचनेको प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहा-वंशमें पालित हुए थे वह इसी प्रकारके नाथमतावलम्बी गृहस्थ योगियोंका मुसलमानी रूप था।

सबसे पहले लगनेवाली बात यह है कि कबीरदासने अपनेको जुलाहा तो कई बार कहा है, पर मुसलमान एक बार भी नहीं कहा। वे बराबर अपनेको 'ना-हिन्दू ना-मुसलमान' कहते रहे। आध्यात्मिक पक्षमें निस्सन्देह यह बहुत ऊँचा भाव है, पर कबीरदासने कुछ इस ढंगसे अपनेको उभय-विशेष बताया है कि कभी-कभी यह सन्देह होता है कि वे आध्यात्मिक सत्यके अतिरिक्त एक सामाजिक तथ्यकी ओर भी इशारा कर रहे हैं। उन दिनों वयन जीवी नाथ-मतावलम्बी गृहस्थ योगियोंकी जाति सचमुच ही 'ना-हिन्दू-ना-मुसलमान' थी। कबीरदासने कमसे कम एक पदमें स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है कि हिन्दू और हैं,

मुसलमान और हैं और योगी और हैं, क्योंकि योगी या जोगी गोरख-गोरख करता है, हिन्दू राम-राम उच्चारता है और मुसलमान खुदा-खुदा कहा करता है[१]।

यह स्पष्ट रूपसे विचार कर लेना चाहिए कि यहाँ हिन्दू, जोगी और मुसलमानसे कबीरदासका क्या मतलब रहा होगा। जहाँ-जहाँ कबीरदासने हिन्दू शब्दका व्यवहार किया है वहाँ-वहाँ निम्नलिखित तीन शब्दोंमेंसे तीनों, दो या एकका मतलब रहता है। ये तीन बातें हैं वेद, ब्राह्मण और पौराणिक मत। इन तीनोंको माननेवालेको ही कबीरदास 'हिन्दू' कहते हैं। मुसलमान शब्दकी व्याख्या करनेकी जरूरत नहीं। इस शब्दसे कबीरदास हू-ब-हू वही अर्थ लेते हैं जो सदासे लिया जाता रहा है। 'हिन्दू' शब्दका व्यवहार आजकल उन सभी धर्म-मतोंके लिए होने लगा है जो भारतवर्षमें उत्पन्न हुए हैं और जिनके अनुयायी अपनेको अहिन्दू नहीं कहते। कबीरदास इस शब्दका यह अर्थ नहीं लेते जान पड़ते।

'योगी' शब्द और भी अस्पष्ट है। योग-क्रिया करनेवालेको योगी कहते हैं। इनके विषयमें हम आगे विस्तारपूर्वक चर्चा करनेका अवसर पायेंगे। हिन्दू लोग ब्राह्मणको श्रेष्ठ और पूज्य मानते हैं। संन्यासी और योगी भी उनके लिए पूज्य हैं। किन्तु आश्रम-भ्रष्ट योगी और संन्यासी हिन्दू समाजमें बहुत निकृष्ट समझे जाते हैं। यदि कोई सन्यासी फिरसे गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट हो जाय तो उसकी सन्तति अस्पृश्य हो जाती है। इस देशके हर हिस्सेमें भ्रष्ट संन्यासियोंसे बनी हुई जातियाँ पाई जाती हैं। उत्तरभारतकी गोसाईं, वैरागी, अतीत, साधु, जोगी और फकीर जातियाँ तथा दक्षिणभारतकी आण्डी, दासरी और पानिसवन जातियाँ ऐसी ही हैं। जबतक संन्यासी अपने संन्यासाश्रममें होता है वह हिन्दूका पूज्य होता है, पर घरबारी होकर वह उसकी आँखोंमें गिरकर भ्रष्ट हो जाता है। घरबारी संन्यासियोंकी संततिसे जो जातियाँ बनती हैं वे समाजके निचले स्तरमें चली जाती हैं। इसलिए साधक योगी और गृहस्थ जातिके योगीमें बड़ा भेद है। योगी जाति अर्थात् आश्रमभ्रष्ट योगियोंकी सन्तति न तो किसी आश्रम-व्यवस्थाके अन्तर्गत आती है और न वर्ण-व्यवस्थाके। आजकल इन जातियोंमेंसे कई अपनेको 'ब्राह्मण' कहने

---

१ जोगी गोरख गोरख करै। हिन्दू राम-नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ। कबीरको स्वामी घटि घटि रह्यो समाइ॥
—क० ग्रं०, पद ३००

लगी हैं। कइयोंने तो अपना दावा ब्राह्मणत्वके भी ऊपर उठा दिया है। अतीत लोग अपनेको ब्रह्माके मस्तकसे उत्पन्न कहते हैं और इसपरसे यह तर्क और उपस्थित करते हैं कि वे ब्राह्मणसे ऊंचे हैं क्योंकि ब्राह्मण तो ब्रह्माके मुखसे ही उत्पन्न हैं, और हम मस्तकसे ! मस्तक निस्सन्देह मुखसे ऊँचा है। वस्तुतः ये जातियाँ एक जमानेमें आश्रमभ्रष्ट होनेके कारण वर्णाश्रम-व्यवस्थाके बाहर पड़ती थीं। सर्वग्रासी हिन्दू जातिने उन्हें अब सम्पूर्ण रूपसे आत्मसात् कर लिया है।

परन्तु इन आश्रम-भ्रष्ट जातियोंमेंसे अधिकांश अब भी भेष धारण करती हैं, भिक्षापर निर्वाह करती हैं और अनेकानेक सामाजिक कृत्योंमें गृहस्थ-धर्मकी विधिके बदले संन्यासियोंमें निहित विधिका अनुष्ठान करती है। बहुतोंका मृतक-संस्कार नहीं होता और सन्यासियोंकी भाँति समाधि दी जाती है। ऊपर हमने देखा है कि बंगालमें योगियोंको कहीं तो समाधि दी जाती है (अर्थात शवको गाड़ दिया जाता है) और कहीं-कहीं उनका अग्नि-संस्कार भी किया जाता है (अर्थात् गृहस्थ हिन्दुओंकी भाँति शवको जलाया जाता है)। मेरे एक मित्र पूर्व बंगालके निवासी हैं। उन्होंने बताया है कि त्रिपुरा जिलेके योगियोंको पहले अग्निदाह करते हैं और फिर समाधि भी दे देते हैं अर्थात् मिट्टीमें गाड़ भी देते हैं। कबीरदासके विषयमें प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्युके बाद कुछ फूल बच रहे थे जिनमेंसे आधेको हिन्दुओंने जलाया और आधेको मुसलमानोंने गाड़ दिया। कई पंडितोंने इस बातको करामाती किंवदन्ती कह कर उड़ा दिया है, पर मेरा अनुमान है कि सचमुच ही कबीरदासको (त्रिपुरा जिलेके वर्तमान योगियोंकी भाँति) समाधि भी दी गई होगी और उनका अग्निसंस्कार भी किया गया होगा। यदि यह अनुमान सत्य है तो दृढ़ताके साथ ही कहा जा सकता है कि कबीरदास जिस जुलाहा जातिमें पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहलेके योगी जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जातिसे मुसल्मान हुई थी या अभी होनेकी राहमें थी।

जोगी जातिका सम्बन्ध नाथपंथसे है। जान पड़ता है, कबीरके वंशमें भी यह नाथ-पंथी संस्कार पूरी मात्रामें थे। यदि नाथ-पथी सिद्धान्तोंकी जानकारी न हो, तो कबीरकी वाणियोंको समझ सकना भी मुश्किल है।

आजसे कई सौ वर्ष पहलेकी जोगी जातिका जो विवरण उपलब्ध हुआ है उससे भी जान पड़ता है कि वे उन दिनों वेद-स्मृति-शासित हिन्दू समाजसे बाहर थे और कपड़ा बुनने और बेचनेका व्यवसाय किया करते थे। श्री अब्दुल करीम

साहबने आजसे लगभग ५–६ सौ वर्ष पहलेकी लिखी बताई जानेवाली 'गोरक्ष-विजय' नामकी प्राचीन बंगला पुस्तकका सम्पादन किया है। यह पुस्तक शेख फैजुल्लाह नामक एक मुसलमान बंगाली कविकी लिखी हुई है। इसमें कदली-देशके प्रसंगमें एक जोगिन (अर्थात् जोगी जातिकी स्त्री) के द्वारा गोरखनाथको भुलावा देनेके प्रसंगमें इस प्रकार कहलवाया गया है, "तुम जोगी हो, जोगीके घर जाओगे और अन्न-जल पाकर तृप्त होगे, इसमें भला सोचना-विचारना क्या है? तुम जिस जाति और गोत्रके हो मैं भी उसी जाति गोत्रकी हूँ, फिर मेरे यहाँ चलनेमें दोष क्या है? तुम बलिष्ठ और युवक योगी हो, मैं जवान जोगिन हूँ। फिर क्यों न हम अपना व्यवहार शुरू कर दें, क्यों हम किसीकी परवा करने जायँ? मैं रात-दिन तुम्हारी सेवा करूँगी और अपना-पराया कुछ भी भेद न रखूँगी। मैं चिकना सूत कात दूँगी, तुम उसकी महीन धोती बुनोगे और हाटमें बेचने ले जाओगे। इस प्रकार सम्पत्ति दिन-दिन बढ़ती रहेगी और तुम्हारी झोली और कंथामें अँटाये नहीं अँटेगी[1]।" इससे सिद्ध होता है कि आजसे ५–६ सौ वर्ष पहले भारतवर्षकी पूर्वी सीमापर जो जोगी थे, वे घरबारी हो चुके थे और सूत कातने और वस्त्र बुननेका कार्य करने लगे थे और अपनी पृथक् जाति और गोत्रमें विश्वास करने लगे थे। इसी पुस्तकसे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि मृत्युके बाद उनका अग्नि-संस्कार नहीं होता था बल्कि समाधि दी जाती थी।

---

१ युगी द्वारे युगी याइबा, अन्न-जले तिप्ति पाईबा
तार्ते आर किवा आछे कथा?
तुमि-आमि ज्ञाति जन, एक गोत्रे उतपन
तार्ते किछु दोष नाहि आर।
गभुर युगिया तुमि, जोयान योगिनी आमि
ये थाके करियु बेवहार॥
सेबिमु ये रात्रदिन, ना जानिए भिन्नभिन्न
येइ आशा आछए तोमार।
काटिमु चिकन सुति, तुमिह बुनिबा धुति
हाटे ते निबा ये बेचिबार॥
दिने दिने वेशी हइब, सम्पति बाडिया याइब,
झुलि काथा सब याइब छाडि॥
—गोरक्षविजय (कलकत्ता १३२४ सन्) पृ० ६५७

ऐसा जान पड़ता है कि ये पौराणिक धर्मके अनुकूल नहीं थे। इनमें भिन्न-भिन्न जातिके आश्रम-भ्रष्ट लोगोंकी सन्तति मिली हुई थी। ऊपर जिस जोगिनकी चर्चा है उसने अपनेको ब्राह्मण जोगिन और निरामिषाहारी बताया था (पृ० ६४)। इस प्रकार यद्यपि इनकी एक पृथक् जाति हो गई थी तथापि ये लोग वर्णाश्रम-व्यवस्था और अस्पृश्यास्पृश्य-विचारके विरोधी थे। न तो ये भगवान्‌के अवतारमें विश्वास करते थे और न त्रिदेवके ही कायल थे। इनके बाह्य मृतकादि संस्कार भी हिंदुओंकी अपेक्षा मुसलमानोंसे अधिक मिलते थे। इस प्रकार उन्हें मुसलमानी धर्ममें आत्म-साधर्म्य ज्यादा मिला और इनका एक अंश धीरे-धीरे मुसलमान होता रहा। यह क्रिया अब भी जारी है। आजकल यद्यपि योगियोंका मुसलमान होना कम हो गया है, क्योंकि अब उनकी संघटित सभायें और उन्हें ऐतिहासिक जाति होनेका गौरव प्राप्त है, पर कुछ दिन पहलेतक ये निरन्तर धीरे-धीरे मुसलमान होते जा रहे थे।

यह आश्चर्यकी बात ही कही जानी चाहिये कि योगियों और नाथ-पंथियोंके मध्ययुगीन आचार-विचारपर प्रकाश डालनेवाली जितनी भी पोथियाँ अबतक आविष्कृत हुई है, उनमेंकी अधिकांश मुसलमान कवियोंकी लिखी हुई हैं। "अली राजाका 'ज्ञानसागर', सैयद सुलतानका 'ज्ञानप्रदीप' और 'ज्ञान-चौंतीसा,' मुहम्मद शफीका 'सुर कंदिल,' मुरशिदका 'बारामास्या' (बार-मासा), 'योग कलन्दर' और 'सत्यज्ञानप्रदीप' के समान कोई ग्रंथ हिंदू कवियोंने लिखा हो, ऐसा हमारा जाना हुआ नहीं है[1]।" अनुमान है कि ये कवि-गण कबीरदासकी भाँति ही इसी प्रकारकी किसी जातिके धर्मान्तरित वंशमें उत्पन्न हुए थे। हम और भी आगे बढ़ कर कहना चाहते हैं कि कबीर, दादू, रजब, कुतबन, जायसी, नूर महम्मद, फाजिलशाह आदि हिंदीके कवियोंकी रचनायें इसी रोशनीमें विवेचित होनी चाहिए। इन सभी कवियोंकी रचनाओंकी चर्चा किसी-न-किसी बहाने आ ही जाती है।

ऊपरकी विवेचनाका निष्कर्ष यह हुआ कि :

(१) आजकी वयनजीवी जातियोंमेंसे अधिकांश किसी समय ब्राह्मणश्रेष्ठताको स्वीकार नहीं करती थीं।

---

१ 'गोरक्षविजय', पृ० १८

(२) जोगी नामक आश्रम-भ्रष्ट घरबारियोंकी एक जाति सारे उत्तर और पूर्व भारतमें फैली थी। ये नाथ-पन्थी थे, कपड़ा बुनकर और सूत कातकर या गोरख-नाथ और भरथरीके नामपर भीख माँगकर जीविका चलाया करते थे।

(३) इनमें निराकार भावकी उपासना प्रचलित थी, जातिभेद और ब्राह्मण-श्रेष्ठताके प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी, और न अवतारवादमें ही कोई आस्था थी।

(४) आसपासके बृहत्तर हिन्दू-समाजकी दृष्टिमें ये नीच और अस्पृश्य थे।

(५) मुसलमानोंके आनेके बाद ये धीरे धीरे मुसलमान होते रहे।

(६) पंजाब, युक्तप्रदेश, बिहार और बंगालमें इनकी कई बस्तियोंने सामूहिक रूपसे मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था।

(७) कबीरदास इन्हीं नव-धर्मान्तरित लोगोंमें पालित हुए थे।

इनमें जो तीसरा निष्कर्ष है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमने इस अध्यायमें उसके विषयमें अधिक प्रमाण नहीं उपस्थित किये हैं। अगले अध्यायमें हम जो कुछ कहने जा रहे हैं उससे इस तृतीय निष्कर्षका पूर्ण समर्थन हो जायगा।

परन्तु आगे हम जो कुछ कहने जा रहे हैं उसके लिए पद-पदपर प्रमाणकी जरूरत होगी। कबीरदासके नामपर जो वाणियाँ मिलती हैं उनका कोई हिसाब नहीं है। कबीर-पंथी लोगोंका विश्वास है कि सद्गुरुकी वाणी अनन्त है और सद्गुरु अर्थात् कबीरदास। यह मान लेना हमारे वशके बाहर है। यह तो सभी मानते हैं कि कबीरदासने 'मसि कागद छूआ नहीं' था। इनके समस्त उपदेश मौखिक ही हुआ करते थे। शिष्योंने ही उसे लिखा होगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। खोजमें अबतक कबीरदासके नामपर छह दर्जनके आसपास पुस्तकें मिली हैं। इनमेंसे कई तो निस्सन्देह उनकी लिखी हुई नहीं हैं और कई अन्य पुस्तकोंके भीतर

---

१ स्व० रामदास गौडने अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में ७१ पुस्तकोंकी एक लम्बी सूची दी है (पृ० ७३४) और प्रो० रामकुमार वर्माने अपने 'हिन्दी साहित्यके आलोचनात्मक इतिहास' में खोजकी रिपोर्टोंके आधारपर ६१ पुस्तकोंकी सूची दी है। गौड़जीकी सूचीमें निर्भयज्ञान, हिंडोला और अलिफनामा (एक जगह अरिफनामा) ये दो-दो बार आये हैं। इस प्रकार उनकी सूचीमें वस्तुतः ६८ ही ग्रन्थ हैं। दोनों सूचियोंके सामान्य नाम ये हैं। अठपहरा, अनुरागसागर, अमर मूल, अर्जनामा, अलिफनामा, अक्षर खंडकी रमैनी, अक्षर

आ जाती हैं। बीजमें रमैनी, शब्द, ज्ञान चौंतीसा, विप्रबतीसी, कहरा, वसन्त, चाचर, बेली, बिरहुली, हिंडोला और साखी ये ११ अंग हैं। इनमेंसे एक-एक विभागको अलग करके कभी-कैभी नई और स्वतन्त्र पुस्तक बना दी गई है। अलग किये हुए विभागोंमें यथेष्ट वृद्धि की जा रही है। फिर, 'पिय पहचानिबेको अंग', 'सत्संगको अग' आदि अंग नामक पुस्तकें वस्तुतः साखीके ही उपविभाग हैं।

प्रो० रामकुमार वर्माने इन पुस्तकोंमें किये गये कुछ प्रक्षेपोंका एक मनोरंजक लेखा दिया है। सन् १९०६–९ की खोज-रिपोर्टमें अनुरागसागरकी एक प्रति पाई गई थी, जो सन् १९६२ की लिखी थी। उसमें पद्योंकी सख्या १५९० थी। पर सन् १९०६–११ में इसी पुस्तककी इससे १६ वर्ष पुरानी एक और प्रति मिली। इस पुरानी प्रतिमें पद्योंकी संख्या १५०४ थी। अर्थात् १६ वर्षके

भेदकी रमैनी, आरती, उग्रगीता, उग्रज्ञान, मूलसिद्धांत, कबीर और धर्मदासकी गोष्टी, क० की बानी, क० अष्टक, क० गोरख गोष्टी, क० जीकी साखी, क० परिचयकी साखी, कर्मकाण्ड रमैनी (गौड़-कर्म-खण्ड०), काया-पंजी, चौका परकी रमैनी, चौंतीसा, छप्पय, जन्मबोध, तीसा यंत्र, नाम महातमकी साखी, निर्भयज्ञान, पिय पहचानिबेको अंग, पुकार, बारामासी (गौड़-बारहमासा), बीजक, ब्रह्मनिरूपण, भक्तिका अंग, रमैनी, रामरक्षा, रामसार, रेखता, विचारमाला, विवेकसार, शब्द अलहटुक, शब्द वंशावली, संत कबीर, बंदी छोर, सतनामा, साधोको अंग, स्वास गुंजार, हिंडोरा, हंसमुक्तावली, ज्ञानगूदड़ी, ज्ञानसरोदय, ज्ञानसागर, ज्ञान-संबोध और ज्ञानस्तोत्र।

इनके सिवा प्रो० वर्माकी सूचीमें ये नाम और हैं: बलखकी पैज, भाषौ खंड, चौतीस, मुहम्मद बोध, मंगल शब्द, शब्द-राग-काफी और राग फगुआ, शब्द राग गौरी और राग भैरव, सुरति संवाद, ज्ञान चौतीसी।

गौड़जीकी सूचीके अधिक नाम ये हैं। पद, दोहे, सुखनिधान, कबीरपंजी, बलखकी रमैनी, रामानन्द गोष्टी, आनन्दसागर मंगल, अनाथ मंगल, मुहम्मदकी बानी, मखहोम, वसन्त होली, झूलना, खसरा, चांचरा, आगम और शब्द पारखा तथा ज्ञानबत्तीसी।

हमने अपनी नई पुस्तक 'कबीरपन्थी साहित्य' में इन पुस्तकोंकी जाँच की है। इनमेंसे अधिकांश पुस्तकें निश्चित रूपसे दूसरोंकी लिखी हुई हैं।

अल्पकालमें अनुरागसागरमें ८६ पद्योंकी वृद्धि हो गई। हम आगे चलकर देखेंगे कि कबीर साहबके नामपर मुहम्मद, गोरखनाथ, नानक आदिके साथ जो गोष्ठियाँ चलती हैं उनके वक्तव्य-विषय वादकी साम्प्रदायिक कल्पनाओंके आधार-पर बना लिये हैं। कई ग्रन्थोंमें सम्प्रदाय और भेषकी महिमा बखानी गई है[1]। यह बात सम्पूर्ण अविश्वसनीय जान पड़ती है। कबीरदासने आजीवन सम्प्रदायवाद, बाह्याचार और बाहरी भेषभावपर कठोरतम आघात किया था। वही कबीर अचानक भेष-भाव और छापा-तिलककी महिमा बखानने लगेंगे, यह बात कुछ जँचती नहीं मालूम देती। इसीलिए कबीरदासके नामपर प्रचलित इन ग्रन्थोंकी प्रामाणिकता संदेहका ही विषय है। श्रीविश्वनाथसिंहजू देवने अपनी टीकाके अन्तमें कबीरदासका कहा जानेवाला एक पद उद्धृत किया है। जिसमें कहा गया है कि बीजकका मत ही ग्राह्य है[2]। यह पद स्वयं संदेहात्मक है; क्योंकि इसको सचमुच कबीरकी वाणी माननेके पहले यह मान लेना होगा कि कबीरकी जीवितावस्थामें ही बहुत-से जाली ग्रंथ बन गये होंगे, और जालका जंगल इतना बढ़ गया रहा होगा कि उसके निराकरणके लिए कबीरदासको स्वयं उद्योगी होकर वह पद लिखना पड़ा। जो हो, यह पद है महत्त्वपूर्ण। क्योंकि इससे कबीरदासका अपना मत प्रकट होता हो या नहीं

---

१ माला-तिलक निन्दा करें, ते परगट जमदूत।
कहे कबीर विचारिके तेई राक्षस भूत॥
द्वादश तिलक बनावई, अग-अंग अस्थान।
कहे कबीर विराजही, उज्ज्वल हंस समान॥

—कबीर मन्सूरमें 'गुरुमहिमा' से उद्धृत, पृ० १३६३

२ सायर बीजकको पद—
सन्तौ बीजक मत परमाना।
कैयक खोजी खोजि थके कोई बिरला जन पहिचाना।
चारिउ जुग और निगम चतुर्भुज गावै ग्रंथ अपारा।
विष्णु विरंचि रुद्र ऋषि गावैं शेष न पावैं पारा॥
कोई निगुण सगुण ठहरावैं कोई ज्योति बतावैं।
नाम धनीको सब ठहरावैं रूपको नहीं लखावैं॥

पर इतना निश्चित रूपसे प्रकट हो जाता है कि काफी प्राचीन कालसे कबीरके नाम-पर चलनेवाले ग्रंथ संदेहकी दृष्टिसे देखे जाते रहे हैं। महाराज विश्वनाथसिंहजूके अनुसार स्वयं बीजकके विषयमें परम्परा है कि भगवानदास नामक किसी शिष्यने कबीरदासकी जीवितावस्थामें ही बीजकका अपहरण किया था। ले भागनेके कारण ही भगवानदास 'भग्गूदास' बन गया। कहते हैं, इस शिष्यने बीजकको विकृत भी किया था। कहा गया है कि स्वयं कबीरदासने ही 'बघेल-वंश-विस्तार' में भग्गूदासकी इस करतूतकी चर्चा की है[1]। परन्तु कबीरदासके नामपर पाये जानेवाले इस कथनकी भाषा और युक्ति सभी बतलाते हैं कि यह बादकी सांप्रदायिक होड़के कारण लिखा गया है। सौभाग्यवश महात्मा भगवानदासकी शिष्य-परम्परा अब भी जीवित है और छपरा (बिहार) जिलेका धनौती मठ उसका मुख्य स्थान है।

कोउ सुच्छम कोउ थूल कहावैं कोउ अक्षर निज साँचा।
सतगुरु कहँ विरले पहिचानैं भूले फिरैं असाँचा॥
लोभके भक्ति सरैं नहिं कामा साहब परम सयाना।
अगम अगोचर धाम धनीको सबै कहैं हाँ जाना॥
देखै न पंथ मिलै नहिं पंथी ढूँढ़त ठौर-ठिकाना।
कोउ ठहरावै शून्यक कीन्हा ज्योति एक परमाना॥
कोउ कहैं रूपरेख नहिं वाके धरत कौनको ध्याना।
रोम रोममें परगट कर्ता काहे भरम भुलाना॥
पक्ष-अपक्ष सबै पचि हारे करता कोई न विचारा।
कौन रूप है साँचा साहब नहिं कोई विस्तारा॥
बहु परचे परतीति दृढ़ावै साँचेको बिसरावै।
कलपत कोटि जन्म जुग वागै दर्शन कतहुँ न पावै॥
परम दयालु परम पुरुषोत्तम ताहि चीन्ह नर कोई।
तत्पर हाल-निहाल करत है रीझत है निज सोई॥
बधिक कर्म करि भक्ति दृढ़ावै नाना मतको ज्ञानी।
बीजक-मतु कोइ विरला जानै भूलि फिरे अभिमानी॥
कह कबीर कर्तामें सब है कर्ता सकल समाना।
भेद बिना सब भरम परे कोउ बूझत सन्त सुजाना॥
—विश्व०, पृ० ६५७-८

१ भागूदासकी खबरि जनाई। ले चरणामृत साधु पियाई॥
कोऊ आप कह कालिंजर गयऊ। बीजक ग्रंथ चोराइ ले गयऊ।
सतगुरु कह वह निगुरा पंथी। काय भयौ लै बीजक ग्रन्थी।

इन लोगोंने अपना बीजक प्रकाशित भी कराया है। जो हो, मेरी धारणा है कि बीजकमें कुछ अंश अवश्य बादके हैं। कहरा बिरहुली आदिमें बिहारी भाषाके बहुत प्रयोग हैं। कहा जाता है कि बीजक बहुत दिनोंतक छपरा जिलेके धनौती मठमें पड़ा रहा। बादमें उसे प्रचारित किया गया। अपनी नई पुस्तक 'कबीरपंथी-साहित्य' में मैंने इसपर विचार किया है।

जो हो, बीजक कबीरदासके मतोंका पुराना और प्रामाणिक संग्रह है, इसमें सन्देह नहीं। एक ध्यान देने योग्य बात इसमें यह है कि बीजकमें ८४ रमैनियाँ हैं। रमैनियाँ चौपाई छन्दमें लिखी गई हैं। इनमें कुछ रमैनियाँ ऐसी हैं जिनके अन्तमें एक-एक साखी उद्धृत की गई है। साखी उद्धृत करनेका अर्थ यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानो इन रमैनियोंको लिख रहा है और इस रमैनी-रूप व्याख्याके प्रमाणमें कबीरकी साखी या गवाही पेश कर रहा है। गुरुको 'साक्षी' (या साखी) करके किसी बातका कहनेकी प्रथा बहुत पुरानी है। जालंधर-नाथके शिष्य कृष्णपाद (कानपा)ने कहा है 'साखि करब जालधरि पाए' अस्तु। बहुत थोड़ी-सी रमैनियाँ (नं० ३, २८, ३२, ४२, ५६, ६२, ७०, ८०) ऐसी हैं जिनके अन्तमें साखियाँ नहीं हैं। परन्तु इस प्रकार साखी उद्धृत करनेका क्या अर्थ हो सकता है? इस पुस्तकमें मैंने बीजकको निस्संकोच प्रमाणरूपमें व्यवहार किया है, पर स्वयं बीजक ही इस बातका प्रमाण है कि साखियोंको सबसे अधिक प्रामाणिक समझना चाहिये, क्योंकि स्वयं बीजकने ही रमैनियोंकी प्रामाणिकताके लिए साखियोंका हवाला दिया है। इसीलिए कबीरदासके सिद्धान्तोंकी जानकारीका सबसे उत्तम साधन साखियाँ हैं[1]।

साखियोंकी ही भाँति बीजकके शब्द भी बहुत प्रामाणिक हैं। बीजकमें इन शब्दोंकी प्रामाणिकता दिखानेके लिए कभी भी साखियाँ नहीं उद्धृत की गईं। इसका अर्थ यह हुआ कि बीजकमें शब्द और साखियाँ सबसे अधिक प्रामाणिक हैं। वे अपने लिए किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रखतीं। इस पुस्तकमें मैंने इसीलिए पदोंका प्रमाणरूपमे यथेच्छ व्यवहार किया है।

चोरी करि वह चोर कहाई। काह भयो बड़ भक्त कहाई ॥
बीजमूल हम प्रगट चिन्हाई। बीज न चीन्हों दुर्मति लाई ॥ इत्यादि
—विश्व०, पृ० २४

१ साखी आँखी ज्ञानकी, समुझि देखु मनमाहिं।
बिन साखी संसारकौ, झगरा छूटत नाहिं। —साखी नं० ३६९

परन्तु मैं यह नहीं मानता कि बीजकके बाहर कबीरदासने कुछ कहा ही नहीं। कबीरपंथियोंमें कबीरदासके स्वयंवेदके चार भेद बताये गये हैं—(१) कूट-वाणी, (२) टकसार, (३) मूल-ज्ञान और (४) बीजक-वाणी। इनमें कूट-वाणीको महात्मा धर्मदासने प्रचारित किया था। बाकीके बारेमें कहा जाता है कि उन्हें क्रमशः कर्नाटकके चतुर्भुजदास, दरभंगाके राय बंकेजी और शाममल्ला द्वीप और मानपुरके हीरामीराँसजी प्रचार करेंगे। सो इन अपार वाणियोंका पार पाना कठिन है। और उनकी नित्य-स्फीयमान कायाका लेखाजोखा भी दुष्कर है। पर इतना निश्चित है कि बीजकके बाहर भी कबीरदासकी कुछ वाणियाँ रही जरूर होंगी।

इधर बाबू श्यामसुंदरदासजीने काशी नागरी-प्रचारिणी-सभासे कबीर-ग्रंथा-वली नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित कराई है। कहा गया है कि इसका आधार एक बहुत पुरानी प्रति है जो सं० १५६१ ई० में लिखी गई थी। परम्परा-से प्रसिद्ध है कि कबीरदासका आविर्भाव सिकन्दर लोदीके जमानेमें हुआ था। उन्होंने स्वामी रामानन्दसे बचपनमें ही दीक्षा ली थी और मरती बार मगहरको चले गये थे। मगहरमें उनके तिरोहित होनेका काल सं० १५७५ की अगहन सुदी एकादशी कहा जाता है। सभी बातोंका विचार करके बाबू श्यामसुन्दर-दासजीको यही सम्भव जान पड़ा है कि कबीरदासजीका जन्म सं० १४५६ में और मृत्यु सवत् १५७५ मे हुई होगी। अर्थात् कबीर ग्रन्थावलीका प्रकाशन जिस प्रतिके आधारपर हुआ है वह कबीरदासकी मृत्युके १४ वर्ष पहलेकी लिखी हुई है। यदि यह बात सत्य है तो पुस्तककी प्रामाणिकता बहुत बढ़ जाती है। यद्यपि १४ वर्षकी अवधि कम नहीं होती और कबीरदासने निश्चय ही इन चौदह वर्षोंमें और बहुत-सी वाणियाँ कही होंगी जो इस संग्रहमे नहीं आ सकी होंगी और इसीलिए इस पुस्तकको एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता, तथापि इसमे जितने पद हैं वे तो निश्चय ही प्रामाणिक होंगे।

पर इस बातको मान लेनेमें एक बाधा है। नागरी-प्रचारिणी-सभाकी प्रका-शित पुस्तकमें उक्त प्रतिके अन्तिम पृष्ठका फोटो दिया गया है। उसमें जो सवत् लिखा हुआ है वह बादकी लिखावट जान पड़ती है। एक बार 'इतिश्री कबीरजी-की वाणी संपूरण समाप्तः ॥...' इत्यादि लिखकर फिरसे अपेक्षाकृत मोटी लिखावटमें 'संपूर्ण सं० १५६१' इत्यादि लिखना क्या संदेहास्पद नहीं है? पहली बारका 'संपूरण' और दूसरी बारका 'संपूर्ण' काफी संकेतपूर्ण हैं। एक ही

शब्दके ये दो रूप,—हिज्जे और आकार-प्रकारमें स्पष्ट ही बता रहे हैं कि ये एक हाथसे लिखे नहीं हैं। ऐसा जान पड़ता है कि अन्तिम डेढ़ पंक्ति किसी बुद्धिमान्‌की कृति है। इसीलिए मुझे इस पुस्तकके सं० १५६१ में लिखित होनेमें काफी संदेह है, पर, इसकी प्राचीनतामें कोई सन्देह नहीं है। यह पुस्तक १५६१ संवत्‌के बहुत बादकी लिखी हुई होनेपर भी काफी प्राचीन जान पड़ती है। फिर यह प्रति जितनी सुसंपादित है वैसी और कोई पुस्तक नहीं। इसीलिए मैंने इस पुस्तकमें इस प्रतिको प्रमाणरूपसे बराबर व्यवहार किया है। वस्तुतः यह पुस्तक परवर्ती कालकी लिखी हुई है। सम्भवतः इसका लेखन-काल अठारहवीं शताब्दी-का आदि या मध्यभाग है।

कबीर-ग्रन्थावलीके सम्पादकने परिशिष्टमें ग्रन्थसाहबमें आये हुए कबीरके पदोंका संग्रह करके बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मैंने यथावसर इन पदोंको भी प्रमाणरूपसे स्वीकार करनेमें संकोच नहीं किया। इधर डा० रामकुमार वर्माने ग्रन्थसाहबके पदोंका संग्रह 'सन्त कबीर' नामसे प्रकाशित कराया है।

कबीरदासकी वाणियोंके अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं पर उनमें सबसे अच्छा सुसम्पादित संस्करण अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की 'कबीरवचनावली' है। यह भी काशी नागरी-प्रचारिणी सभाका ही प्रकाशन है। प्रयागके बेलवेडियर प्रेसने भी कबीरदासकी शब्दावली छापी है। इस शब्दावलीका द्वितीय संस्करण मेरे पास है। यह संस्करण पहले संस्करणसे बहुत-कुछ भिन्न है। इन दोनों संग्रहोंका भी मैंने यथावसर उपयोग किया है, पर महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंके निर्णयके प्रसंगमें यथासम्भव मूल गन्थोंके उपयोग करनेकी ही चेष्टा की है।

श्री० क्षितिमोहनसेन द्वारा सम्पादित 'कबीरके पद' एक नये ढंगका प्रयास है। वे 'भक्तोंके मुखसे' सुनकर संग्रह किये गये हैं। अपनी प्रामाणिकताके लिए उन्होंने किसी पोथीकी मुखापेक्षिता नहीं रखी। परम्परासे एक मुँहसे दूसरे मुँहतक आते रहनेके कारण इन पदोंकी भाषा जरूर बदल गई होगी, पर इसके अन्तर्निहित भावोंकी प्रामाणिकता विश्वसनीय हो सकती है। फिर भी कोई विशेष स्वार्थके पोषक महात्माओंकी ओरसे इस पुस्तकके गंभीर विचारोंको उड़ा देनेकी चेष्टा की गई है। कहा गया है कि इसमें पाये जानेवाले उच्च भाव किसी प्राचीन पोथीमें नहीं मिलते। इस विशेष स्वार्थके पोषक लोग भारतीय मनीषाकी न तो कोई प्रतिष्ठा देखना चाहते हैं, न आदर पाना बर्दाश्त कर

पाते हैं। मैंने जान-बूझकर उक्त संग्रहका उपयोग नहीं किया। ऐसा मैंने इसीलिए किया है कि भारतीय मनीषाको जो लोग अस्वीकार करना चाहते हैं वे सीधे ही ऐसा करें। प्राचीन और नवीन पोथियोंका झमेला खड़ा करके अपने उद्देश्य और पाठककी निर्णयात्मिका बुद्धिके बीच पर्दा खड़ा करनेका प्रयास न करें। परन्तु मैं यहाँ अत्यन्त कृतज्ञ-भावसे निवेदन करना चाहता हूँ कि यद्यपि आचार्य सेनकी पुस्तकके पाठ इस पुस्तकमें नहीं लिये, पर उनके उपदेशोंका यथेच्छ उपयोग किया गया है। उनके साथ मेरा सम्बन्ध कुछ इतना गम्भीर है कि इस स्थानपर कृतज्ञता प्रकट करनेमें भी संकोच होता है। सच बात तो यह है कि यदि उनसे प्रेरणा न मिलती तो मैं यह पुस्तक लिख ही न पाता। उनके दृष्टिकोणमें और मेरे इस पुस्तकमें व्यवहृत दृष्टिकोणमें थोड़ा मौलिक अन्तर है। वे सन्तोंकी वाणियोंको म्यूजियमके प्रदर्शनकी वस्तु नहीं मानते और यह बात ठीक भी है। जिसे आजकल 'एकेडेमिक' आलोचना कहते हैं वह बात कुछ म्यूजियमकी रुचिको ही उत्तेजना देती है। आचार्य सेन सन्तोंकी जीवन्त वाणीको जलती हुई मशाल कहते हैं और उनका दृढ़ विश्वास है कि ये वाणियाँ यथा-समय भारतवर्षकी और संसारकी समस्याओंको सुलझायेंगी। ऐसी प्राणमयी वाणीको म्यूजियममें सजाके नहीं रखा जा सकता। मुझे स्वर्गीय कविवर रवीन्द्र-नाथ ठाकुरसे भी इस पुस्तकके लिखनेमें बहुत प्रेरणा मिली है और उनकी कविताओं और लेखोंको पढ़कर कबीरके भावोंको समझनेमें बड़ी सहायता मिली है। मेरा यह परम दुर्भाग्य है कि पुस्तक प्रेसमें जानेके पहले ही वे इहलोक त्याग कर गये। परन्तु परम सौभाग्य यह कि वे अपना आशीर्वाद छोड़ गये हैं जो आजीवन मुझे बल देता रहेगा।

श्री युगलानन्दजीकी 'सत्य कबीरकी साखी' का भी मैंने इस ग्रन्थमें उपयोग किया है जिसका सम्पादन सं० १६०० और सं० १८४२ की प्रतियोंके आधार-पर किया हुआ बताया गया है। परन्तु सब मिलकर कबीरके अध्ययन करने-लायक पर्याप्त सामग्री मुझे मिली नहीं है, यह मानसिक क्षोभ मैं पाठकोंकी सेवामें उपस्थित कर देना चाहता हूँ। मुझे नाथ, निरंजन, महिमा आदि सम्प्रदायों और आसामसे लेकर काठियावाड़तक फैले हुए विविध निर्गुणिया समाजोंका कोई प्रमाणिक विवरण प्राप्त नहीं हुआ है। इन सभी अभावों और त्रुटियोंको शिरसा स्वीकार करके ही मैंने कार्य आरम्भ किया है।

२. अवधूत कौन है ?

हमने ऊपर देखा है कि कबीरदास जिस वंशमें पालित हुए थे उसमें योग-मतका काफी प्रचार था। पर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि स्वयं कबीरदास योगमतके उपासक थे। उनका पालन-पोषण योगमतके वातावरणमें हुआ था इसीलिए उनकी युक्तियोंमें, भाषापर, तथा तर्कशैलीमें उस मतका प्रभाव रह गया है। जबतक हम ठीक-ठीक न समझ लें कि वह मत क्या था, तबतक उसके प्रभावको भी हम ठीक-ठीक नहीं समझ सकते। इसलिए इस मतकी चर्चा कर लेना बहुत आवश्यक है।

कबीरदासके पदोंमें जितने संबोधन है उन सबका एक-न-एक खास प्रयोजन है। जब उन्होंने 'अवधू या अवधूत' को पुकारा है तो यथासंभव अवधूतकी ही भाषामें उसीके क्रिया-कलापकी आलोचना की है। इस प्रसंगमें उनकी युक्ति और तर्कशैली पूर्णरूपसे अवधूत जैसी रहती है। जब वे पंडित या पाँडेको संबोधित करते हैं तो वहाँ भी उनका उद्देश्य पंडितकी ही भाषामें पंडितकी ही युक्तियोंके बलपर उसके मतका निरास करना होता है। इसी तरह मुल्ला, काजी आदि संबोधनोंको भी समझना चाहिए। जब वे अपने-आपको या सन्तोंको संबोधित करके बोलते हैं तब वे अपना मत प्रकट करते जान पड़ते हैं। वे अपने मतके माननेवालेको ही 'सन्त' या 'साधु' कहते हैं। साधारणतः वे 'भाई' संबोधनके द्वारा साधारण जनतासे बात करते हैं और जब कभी वे 'जोगिया' को पुकार उठते हैं तो स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इस भले आदमीके संबंधमें उनकी धारणा कुछ बहुत अच्छी नहीं थी। यह दावा किया गया है कि गुरुपरम्पराकी जानकारी रखनेवाले लोग कबीरदासके आत्म-संबोधनोंमें एक निश्चित संकेतकी बात बताया करते हैं। इस प्रकार 'हंस कबीर' से मुक्तात्मा, 'कहहि कबीर' से लोकविशेष-निवासी ईश्वरका उपासक और 'कबीरा' या 'कबीरन' से कभी अज्ञानी तथा वंचक गुरुओंका संकेत होता है (विचार०, पृ० ४०)।

यद्यपि कबीरदास अवधूत मतको मानते नहीं तथापि अवधूतके प्रति उनकी

अवज्ञा नहीं है, उसे वे काफी सम्मानके साथ ही पुकारते हैं। वे कभी कुछ उपदेश दे देते हैं, कभी कुछ बूझनेको ललकारते हैं, कभी उसकी साधना-पद्धतिकी व्यर्थता दिखा देते हैं और कभी-कभी तो कुछ ऐसी शर्तें रख देते हैं जिनको अगर अवधूत समझ सके तो वह कबीरदासका गुरुतक बन सकता है। प्रायः ही ये उससे संध्या-भाषा या उलट-बाँसियोंमें बात करते हैं। कहते हैं, 'भई अवधू, वही योगी मेरा गुरु हो सकता है जो इस बातका फैसला कर दे: एक वृक्ष है जो बिना जड़के ही खड़ा हुआ है। उसमें बिना फूलके ही फल लग गये हैं, न उसके शाखा है न पत्र, और फिर भी आठों दिशाओंके आकाशको उसने आच्छन्न कर रखा है! इस विचित्र वृक्षके ऊपर एक पक्षी है जो बिना पैरके ही नृत्य कर रहा है, बिना हाथोंके ही ताल दे रहा है, बिना जीभके ही गाना गा रहा है! मजा यह कि गानेवालेकी कोई रूप-रेखा तो नहीं है पर सतगुरु अगर चाहें तो उसे दिखा सकते हैं! यह पक्षी मीनका मार्ग खोज रहा है। बहुत विचार करके कबीरदास कहते हैं कि परमेश्वर अपरंपार है; उसकी इस मूर्तिकी बलिहारी है[1]।'

वह अवधू कौन है जो कबीरदासका गुरुतक बन सकता है और इस विचित्र पहेलीका ही क्या अर्थ है? महाराज श्री विश्वनाथसिंहजू देवने (विश्व० पृ० २५५) इसी पदकी व्याख्या करते समय बताया है कि "वधू जाके न होइ सो अवधू कहावै", अर्थात् अवधू वधू-हीन जीव है! स्वयं कबीरदास किन्तु ऐसा नहीं मानते। वे अवधू योगीको जगसे न्यारा मानते हैं। वह मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारणा करता है, नादसे धाराको खंडित नहीं करता, गगन-मंडलमें बसता है और दुनियाकी ओर देखता भी नहीं। वह चैतन्यकी चौकीपर

---

१ अवधू, मो योगी गुरु मेरा, जो या पदकौ करे निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलाँ फल लागा।
साखा-पत्र कछू नहिं वाकै, अष्ट गगन मुख वागा॥
पैर बिन निरति करौं बिन बाजै, जिभ्या हीणा गावै।
गावणहारके रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै॥
पंखीका खोज मीनका मारग कहै कबीर विचारी।
अपरंपार पार परसोत्तम वा मूरतिकी बलिहारी॥
—क० ग्रं०, पद १६५

विराजता है, आकाशपर चढ़ा हुआ भी आसन नहीं छोड़ता, महामधुर रसका पान करता रहता है। यद्यपि प्रकट रूपमें वह कंथामें लिपटा रहता है, पर वस्तुतः हृदयके दर्पणमें कुछ देखता रहता है। निश्चल बैठा हुआ नासिकामें २१ हजार ६ सौ धागोंको पिरोया करता है। वह ब्रह्म अग्निमें कायाको जलाता है, त्रिकुटीके संगममें जागता है, सहज और शून्यकी लौ लगाये रहता है[1], इस प्रकार यह विचित्र योगेश्वर अवधूत शुरूसे आखिरतक विचित्र पहेली है।

आखिर यह विचित्र जीव कौन है? सचमुच यह तीन लोकसे न्यारा है। निश्चय ही वधू-हीन लोग ऐसे अजीब जीव नहीं होते।

भारतीय साहित्यमें यह 'अवधू' शब्द कई सम्प्रदायोंके सिद्ध आचार्योंके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। साधारणतः जागतिक द्वन्द्वोंसे अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगीको अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियोंका है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक मतोंमें 'अवधूती वृत्ति' नामक एक विशेष प्रकारकी यौगिक-वृत्तिका उल्लेख मिलता है[2]।

आठवीं शताब्दीके बादसे नालंदा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी आदि विद्यायतनोंमें जो बौद्धधर्म प्रचलित हुआ वह एक नवीन ढंगका तान्त्रिक और योगक्रियामूलक धर्म था। इस नवीन तान्त्रिक मतमें तीन प्रधान मतोंका संधान पाया गया है—सहजयान, वज्रयान और कालचक्रयान। इन मतोंकी

---

१ अवधू जोगी जगथैं न्यारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा॥
बसै गगनमें दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा।
चढ़ि अकास आसण नहिं छांड़ै पीवै महारस मीठाँ॥
परगट कंथा माँहै जोगी दिलमैं दरपन जोवै।
सहस इकीस छसै धागा निहचल नाकै पोवै॥
ब्रह्म-अगिनिमें काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
कहै कबीर सोई जोगेश्वर सहज सुंनि ल्यो लागै॥
—क० ग्रं०, पद ६०

२ चर्यापद २७-२; १७-१ देखिये; पृ० १२४ का दोहा भी देखिये।
—बौद्ध गान ओ दोहा

अधिकांश पुस्तकें आज तिब्बती अनुवादके रूपमें ही सुरक्षित हैं। स्व० म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्रीने चर्याचर्यविनिश्चय, दोहाकोष, अद्वयवज्रसंग्रह और गुह्य-समाजतन्त्र आदि पुस्तकें प्रकाशित की हैं। सहजयान और वज्रयानमें बहुत-कुछ समानता है। शास्त्रीजीने जो चर्यापद प्रकाशित कराये हैं उनमें आर्यदेव, भूसुक, कान्ह, सरह, लुई आदि आचार्योंके पद हैं, जिन्हें तिब्बती साहित्यमें सिद्धाचार्य कहा गया है। ये आचार्यगण सहजावस्थाकी बात करते हैं। सहजावस्थाको प्राप्त करनेपर ही साधक अवधूत होता है। कान्ह सहजरूप पद्मवनमें प्रवेश करके मधु-पानसे मत्त होनेकी बात करते हैं[1] और जोर देकर कहते हैं कि पंचस्कन्धों या संस्कारोंके नष्ट होनेकी कुछ चिन्ता मत करो यदि तुम्हारा चित्त 'सहज-शून्य' से परिपूर्ण हो गया है[2]। इसी प्रकार भूसुकपाद सहजानन्द-लीलासे ही मिलनका रहस्य समझ सकनेकी घोषणा करते हैं[3] और सरहपाद कहते हैं कि 'ऐ नाविक, चित्त स्थिर कर सहजके किनारे अपनी नैया चलाये जा, रस्सीसे खींचता चल, दूसरा उपाय नहीं है[4]।' यह सहजावस्था बहुत-कुछ वैसी है जैसी परवर्ती कालके नाथपन्थियोंमें प्रसिद्ध थी और जिसकी चर्चा करनेका अवसर हमें आगे मिलेगा। ये लोग बाह्य अनुष्ठानोंमें एकदम विश्वास नहीं करते थे, ब्राह्मण, याज्ञिक, त्रिदण्डी, जटाधारी और क्षपणक आदि सभीका उपहास करते थे और किसी प्रकारकी पूजा-अर्चामें विश्वास नहीं करते थे। भला ध्यान-धारणासे, पूजोपचारसे और शास्त्रपाठसे कहीं मुक्ति होती है ?

---

१ कान्ह विलसआ आसव माता।
ससज नलिनिवन पइसि निवाता। —चर्या० ९–४

२ चिअ सहज-शून्य-सम्पुन्ना।
काँध भिओएँ मा होहि विसन्ना ॥— चर्या ४२–२

३ भूसुक भनइ मइ बूझि अकेलें।
सहजानंद महासुख लीलें ॥ २७–१०

४ चीअ थिर करि धरहु रे नाइ।
आन उपाये पार ण जाइ।
नौबा ही नौका टानअ गुणे।
मेलि मेलि सहजे जाउ ण अणे। —चर्या–३८–४–६

मोक्ख कि लब्भइ ज्झान पविट्ठा ।
किन्तह किज्जइ किन्तह णिवेज्जं
किन्तह किज्जइ किन्तह सेव्वं ।

इसीलिए सरहपादने अपने चित्तको संबोधन करके कहा है कि 'ऐ मेरे चित्त, वहाँ चलकर विश्राम करो जहाँ सूर्य और चन्द्रकी भी गति नहीं, जहाँ मन और पवन भी संचरित नहीं होते; जहाँ आदि भी नहीं, अन्त भी नहीं; मध्य भी नहीं; जन्म भी नहीं, मरण भी नहीं; अपना भी नहीं, पराया भी नहीं—जो महासुख है, जो सहजावस्था है !—

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित्त विशाम करु सरहें कहिअ उवेश ॥
आइ न अन्त न मज्झ णउ, णउ भव णउ णिव्वाण ।
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण ॥

यद्यपि हम आगे चलकर देखेंगे कि इन सिद्धोंकी वाणियोंसे कबीरदासकी वाणियोंका सम्बन्ध है तथापि आगे जो कुछ विवेचना की जा रही है उसके बल-पर मेरा अनुमान है कि कबीरपर इन सिद्धोंका प्रभाव नाथपन्थियोंकी मध्यस्थतामें ही पड़ा है । वस्तुतः जब कबीरदास अवधूतको पुकारते हैं तो इन सिद्धाचार्योंके अवधूतसे उनका सीधा अभिप्राय नहीं होता ।

निर्वाण-तन्त्र (चतुर्दश-पटल) में कहा गया है कि अवधूत वह है जो सब पंच तत्त्व सेवन करता हुआ वीराचारी होकर रहता है, संन्यासकी सभी विधियोंका यथोक्त पालन करता है, दण्डियोंकी भाँति अमावास्याके दिन मुण्डन न कराके लम्बे केस और जटा आदि धारण करता है, अस्थिमाला और रुद्राक्षको धारण करता है, दिगम्बर होकर या कौपीन-मात्र धारण करके रहता है और शरीरमें रक्त चन्दन और भस्मका लेप करता है[१] ।

---

१ शृणु देवि, प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथा भवेत् ।
वीरस्य मूर्ति जानीयात् सदा तत्त्वपरायणः ॥
यद्रूपं कथितं सर्वं संन्यासधारणं परम् ।
तद्रूपं सर्वकर्माणि प्रकुर्यात् वीरवल्लभम् ॥
दंडिनो मुण्डनं चामावस्यायामाचरेद्यथा ।
तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुण्डनं प्रिये ॥

तन्त्र-ग्रन्थोंमें चार प्रकारके अवधूतोंकी चर्चा है—ब्रह्मावधूत, शैवावधूत, भक्तावधूत और हंसावधूत। हंसावधूतोमे जो पूर्ण होते हैं वे परमहंस और जो अपूर्ण होते हैं वे परिव्राजक कहलाते हैं (प्राणतोषिणी)। परन्तु कबीरदासने न तो इतने तरहके अवधूतोंकी कहीं कोई चर्चा ही की है और न ऊपर निर्वाण-तन्त्रके बताये हुए अवधूतसे उनके अवधूतकी कोई समता ही दिखाई गयी है। 'हंसा'की बात कबीरदास कहते जरूर हैं पर वे हंस और अवधूतको शायद ही कहीं एक समझते हों। वे बराबर हंस या पक्षी शुद्ध और मुक्त जीवात्माको ही कहते हैं। परवर्ती साम्प्रदायिक टीकाकारोंने कबीरदासके 'हंसों' का धर्मदास आदि शिष्य अर्थ किया है और किसी-किसी टीकाकारने इस शब्दका 'साधु' या 'सिद्ध' अर्थ भी किया है, पर ऐसे स्थलोंपर उनका तात्पर्य ज्ञानमार्गी कुटीचर-बहूदक-हंस-परमहंस इन भेदोंसे है, तान्त्रिक या शैव 'हंसावधूत' से नहीं। कबीरदासने पंचमकारसेवी अवधूतकी कोई चर्चा नहीं की।

पंचमकारमें मदिरा भी है। इस मदिरा-सेवनका उल्लेख कबीरमें मिलता जरूर है[1] पर उसका कारण और है जो आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा। रक्त चन्दन और अस्थिमालाधारी अवधूतको तो कबीरदास जानते ही नहीं। वस्तुतः शाक्त या तान्त्रिक अवधूतकी चर्चा कबीरको अभिप्रेत नहीं थी। शाक्तों या 'साकत' लोगोंके सम्बन्धमें कबीरदासने कभी सम्मान नहीं प्रकट किया।[2]

असंस्कृतं केशजालं मुक्तालंबि कचोच्चयम्।
अस्थिमाला विभूषा वा रुद्राक्षानपि धारयेत्॥
दिगम्बरो वा वीरेन्द्रश्चाथवा कौपिनी भवेत्।
रक्तचन्दनसिक्तांगं कुर्याद् भस्मांग-भूषणम्॥

१ अवधू मेरा मन मतिवारा।
उनमनि चढ़ण मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुवा भव भाटी करि भारा।
सुषमनि नारी सहजि समानी पीवै पीवनहारा॥ —क० ग्रं०, पद ७२

२ साकत मरै सन्त-जन जीवै, भरि भरि राम-रसायन पीवै।—क० ग्रं०, ४२
तथा—बैस्नोकी छतरी भली, न साकतका बड़गाँव।
और—साकत ब्राह्मण मति मिलै, बैस्नौ मिलै चण्डाल। इत्यादि

वस्तुतः ऊपर जिस 'जगथैं न्यारे' अवधूतकी चर्चा है वह गोरखपन्थी सिद्धयोगी है। कई जगह तो कबीरने स्पष्ट ही गोरखनाथको अवधू कहा है[१]। ऊपर जिस विलक्षण योगेश्वर अवधूतकी चर्चा की गई है उसके लक्षण गोरखपन्थी कनफटे योगियोंके विषममें ही पूरे उतरते हैं। यही लोग कानमें छिद्र करके वह कुण्डल धारण करते हैं जिसे मुद्रा या 'दर्शन' कहते हैं, यही दो-तीन अंगुलकी काली सींगकी छोटी-सी सीटी गलेमें धारण करते हैं जिसे 'नाद' (शृंगीनाद) कहते हैं, और जो सेली नामक काले ऊनी धागोंसे गुँथा होता है। इनके हाथमें नारियलका एक खप्पर होता है। ये लोग गेरुआ वस्त्र और जटा धारण करते हैं, शरीरपर भभूत और ललाटपर त्रिपुण्ड्र धारण करते हैं, इन्हीं योगियोंको लक्ष्य करके कबीरदासने जो कुछ कहा है उसका भाव यह है कि असली योगी वह नहीं है जो इन बाह्य वेषोंको धारण करता है, असली तो वह है जो इन बाह्य वेषोंकी कोई परवा नहीं करता, जो मनहीमें मुद्रा और खप्पर धारण करता है, मनहीमें आसन लगाता है, मनहीमें सींगी बजाता है, जो भीतरसे योग रससे परिपक्व हो गया है[२]।

गोरखनाथके मतमें योगीके चिह्न मुद्रा, नाद, विभूति और आदेश बताये गये हैं। मुद्राका बड़ा माहात्म्य है। सिद्धसिद्धान्तपद्धतिमें कहा गया है कि 'मुद्' धातु मोदार्थक और 'रा' धातु दानार्थक है। ये दोनों जीवात्मा और परमात्माके वाचक हैं। इन दोनोंकी एकता विधान करनेवाली यह मुद्रा है, जिसके दर्शनसे देवगण प्रसन्न होते हैं और असुरगण भाग जाते हैं। यह साक्षात् कल्याणदायिनी है। इस मुद्राको कान फाड़कर पहनाया जाता है। इसीलिए इस पवित्र मुद्राके कारण क्षुरिका या क्षुरी भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इसीलिए क्षुरिकाकी महिमा वर्णनके लिए क्षुरिकोपनिषद् रचित हुई है और उस उपनिषद्में बताया

---

१ रामगुन बेलड़ी रे अवधू गौरखनाथी योगी।

—क० ग्रं०, पद १६३

२ सो जोगी जाके मनमैं मुद्रा। राति दिवस ना करई निद्रा॥
मनमैं आसण मनमैं रहणा। मनका जप-तप मनसू कहणा॥
मनमैं खपरा मनमैं सींगी। अनहद बेन बजावै रंगी॥
पंचपरजारि भसमकरि भूका। कहै कबीर सौ लहसै लंका॥

—क० ग्रं०, पद २०६

गया है कि एक बार क्षुरिकाके स्पर्शसे मनुष्य योगी हो जाता और जन्म-मरणके बंधनसे मुक्त हो जाता है[1]। नादको ही अनाहद या शृंगी नामसे कहा गया है। आदेश आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा (?) इन तीनोंकी संभूति या मिलनेको कहते हैं[2]। इस प्रकार योगियोंके सभी चिह्न असलमें आध्यात्मिक वृत्तियोंके प्रतीकमात्र हैं। परन्तु अवधूतके लिए यह सब नियम अवश्य पालनीय नहीं हैं। वह कहीं भोगी होकर, कहीं त्यागी होकर, कहीं नग्न रहकर, कहीं पिशाच-सा बना हुआ, कहीं राजा होकर, कहीं आचारपरायण बनकर, सर्वमय होता हुआ भी सर्वविवर्जित होकर रह सकता है[3]। इसी भावको बतानेके लिए भर्तृहरिने कहा है कि इस अवधूत मुनिकी बाह्य क्रियायें प्रशमित हो गई हैं। वह न दुःखको दुःख समझता है, न सुखको सुख। वह कहीं भूमिपर सो सकता है कहीं पलंगपर, कहीं कन्था धारण कर लेता है कहीं दिव्य वसन, कहीं शाकाहारपर ही दिन गुजार देता है और कहीं मधुर भोजन पानेपर उसे भी पा लेता है[4]। किन्तु कबीरदास इस प्रकार योगमें भोगको पसन्द नहीं करते। न तो वे बाहरी भेष-भावको पसन्द करते हैं और न सर्वमय होकर सर्वविवर्जित बने रहनेके आचारको। योगी तो वह है जो न भीख माँगे, न भूखा सोये, न झोली-पत्र और बटुआ रखे, न अनहद नादके बजानेसे विरत हो, पाँच जनेकी जमात (गृहस्थी) का पालन भी करे और संसारसे मुक्ति पानेकी

---

१ गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह, पृ० ९

२ वही, पृ० ९

३ क्वचिद्योगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतो विधीयते॥
—गो० सि० सं०, पृ० १०

४ क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः
क्वचित्कंथाधारी क्वचिदपि च माल्यांबरधरः।
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च दिव्योदनरुचिः
मुनिः शांतारंभो, गणयति न दुःखं न च सुखम्।
—वैराग्यशतक

साधना भी जाने। जो ऐसा नहीं वह अवधूत योगी कबीरका आदर्श नहीं हो सकता[१]।

यद्यपि इन योगियोंके संप्रदायके सिद्धोंको ही कबीरदास अवधू कहते हैं तथापि वे साधारण योगी और अवधूतके फर्कको बराबर याद रखते हैं। साधारण योगीके प्रति उनके मनमें वैसा आदरका भाव नहीं है जैसा अवधूतके बारेमें है। कभी-कभी उन्होंने स्पष्ट भाषामें योगीको और अवधूतको भिन्न रूपमें याद किया है। (तुलना कीजिये—क० ग्रं०, परिशिष्ट, पद १२६, पृ० ३०१)

इस प्रकार कबीरदासका अवधूत नाथपन्थी सिद्ध योगी है।

---

१ बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीरथ व्रत ना मेला
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।
माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर-अँगना फिरि आवै॥
पाँच जनाँकी जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देस सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला॥
—क० ग्रं०, पद २०७

३. नाथपंथियोंके सिद्धान्त और कबीरका मत

(१)

अब देखना चाहिये कि इस नाथपन्थी अवधूतका मत क्या था और कबीर-दासपर उसका कुछ प्रभाव पड़ा था या नहीं।

गोरखनाथके योगमार्गमें गुरुकी बड़ी महिमा गाई गई है। गुरु ही समस्त श्रेयोंका मूल है और एकमात्र अवधूत ही गुरुपदका अधिकारी हो सकता है। वह अवधूत, जिसके वाक्य-वाक्यमे वेद निवास करते हैं, पद-पद में तीर्थ बसते हैं, प्रत्येक दृष्टिमें कैवल्य या मोक्ष विराजमान होता है, जिसके एक हाथमें त्याग है और दूसरे हाथमें भोग और फिर भी जो त्याग और भोग दानोंसे अलिप्त है।[१] और जैसा कि सूतसंहितामे कहा गया है, वह वर्णाश्रमसे परे है और समस्त गुरुओंका साक्षात् गुरु है, न उससे कोई बड़ा है और न बराबर।[२] इस प्रकारके पक्षपात-विनिर्मुक्त योगेश्वरको ही 'नाथ-पद' की प्राप्ति होती है।

'पक्षपातरहित होने' से मतलब ब्राह्मणत्व आदि आश्रमाभिमानसे रहित होनेसे है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि मैंने गुण-कर्मविभागसे वर्णोंकी सृष्टि की है। इसपरसे गोरखपन्थी लोगोंका कहना है कि सभी वर्ण गुण-मूलक हुए और गुणमूलक अभिमानके रहते हुए ब्रह्म-प्राप्ति असम्भव है। आश्रमोंको भी ये लोग गुणमूलक ही मानते हैं इसीलिए आश्रमाभिमानको भी मुक्तिमें बाधक मानते हैं। इस प्रकार गुणमय वर्ण और गुणमय आश्रमका अभिमान रखनेवालेको गुरु

---

१ वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः॥
एकहस्ते धृतस्त्यागो योगश्चैककरे स्वयम्।
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः॥

—गो० सि० सं०, पृ० १

२ अतिवर्णाश्रमी साक्षात् गुरुणां गुरुरुच्यते।
न तत्समोऽधिको वास्मिन् लोकेऽस्त्येव न संशयः।

—अष्ट०, पृ० ४५९

नहीं बनाया जा सकता। ऐसेके साथ गुरु-शिष्यसम्बन्ध उसी प्रकार निष्फल है जिस प्रकार दो स्त्रियोंके सम्बन्धसे पुत्र-प्राप्तिकी आशा ! (गो० सि० सं० पृ०२—३)

इस अवधूतका परम पुरुषार्थ मुक्ति ही है, पर यह द्वैत और अद्वैतके द्वन्द्वसे अतीत है। अवधूत गीतामें कहा गया है कि कुछ लोग अद्वैतको चाहते हैं, कुछ लोग द्वैतको, पर इन दोनोंसे परे,—द्वैताद्वैत-विलक्षण-तत्त्वको कोई नहीं जानता। यह सम-तत्त्व कहलाता है। यदि सर्वगत देव स्थिर, पूर्ण और निरन्तर है तो क्या वह द्वैताद्वैत-विकल्पना महामोह नहीं है[1] ? कबीरदासने कुछ इसी भावसे मिलता-जुलता पद कहा है[2]। प्रसिद्ध है कि एक बार काशीके पंडितोंमें द्वैत और अद्वैत तत्त्वका शास्त्रार्थ बहुत दिनोंतक चलता रहा। जब किसी शिष्यने कबीर साहबका मत पूछा तो उन्होंने जवाबमें शिष्यसे ही कई प्रश्न किये। शिष्यने जो कुछ उत्तर दिया उसका सार-मर्म यह था कि विवदमान पंडितोंमें इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है कि भगवान् रूप, रस, गंध एवं स्पर्शसे परे हैं, गुणों और क्रियाओंके अतीत हैं, वाक्य और मनके अगोचर हैं। कबीरदासने हँसकर जवाब दिया कि भला उन लड़नेवाले पंडितोंसे पूछो कि भगवान् रूपसे निकल गया, रससे अतीत हो गया, गुणोंके ऊपर उठ गया, क्रियाओंकी पहुँचके बाहर हो रहा, वह अन्तमें आकर संख्यामें अटक जायगा ? जो सबसे परे है वह क्या संख्याके परे नहीं हो सकता ? यह कबीरका द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववाद है। नाथपन्थी लोग जोर देकर इस द्वैताद्वैत-विलक्षण समतत्त्ववादका समर्थन करते हैं। इस विषयमें कबीरदासका उनसे सीधा सम्बन्ध है। जिस स्वयं-ज्योति

---

१ अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समतत्त्वं न जानाति द्वैताद्वैतविलक्षणम् ॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ॥
—गो० सि० सं०, पृ० ११ में उद्धृत

२ गोरख-राम एको नहिं उहवाँ ना वहँ वेद विचारा।
हरिहर ब्रह्मा ना शिव-सक्ती ना वहँ तिरथ-अचारा।
माय-बाप-गुरु जाके नाहीं सो धौं दूजा कि अकेला।
कहहिं कबीर जो अबकी बूझे सोइ गुरू हम चेला ॥
बीजक, शब्द ४३

सच्चिदानन्द मूर्तिकी उपासना ये योगेश्वर लोग करते हैं वह ब्रह्मा भी नहीं है, विष्णु भी नहीं है, इन्द्र भी नहीं है, और पृथ्वी-जल-वायु-अग्नि-आकाश भी नहीं है। वह वेद और यज्ञ भी नहीं, सूर्य और चन्द्र भी नहीं, विधि और कल्प भी नहीं,—वह इन सबसे विलक्षण स्वयंजोति सत्यरूप है[१]। वह कबीरदासके रामकी भाँति ही सबसे न्यारा निरंजन है[२]। ब्रह्मा भी अंजन है, विष्णु भी अंजन है, शिव भी, गोपी भी, पुराण भी, विद्या भी, पूजा भी, देवता भी, दान भी, वेश भी, पुण्य भी, तप भी, तीर्थ भी। एकमात्र निरंजन राम है जो सबसे विलक्षण है, सबसे अतीत। कबीरदासके मतसे 'नाथ' वह है जो समस्त त्रिभुवनका एकमात्र यती,—परब्रह्म है[३]। यह कथन सिद्ध जलंधरके वाक्यमें कहे हुए उस वचनसे मिलता है जिसमें 'नाथ' की द्वैताद्वैत-विलक्षण, समस्त यतियोंमें श्रेष्ठ, शंकरस्वरूप कहकर स्तुति की गई है[४]।

---

१ न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो,
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो दिशो नैव कालः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥—सिद्धसिद्धान्तपद्धति

२ राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे।
अंजन उत्पति ओ ओंकार, अंजन माँड्या सब विस्तार।
अंजन ब्रह्मा-संकर-इंद्र, अंजन गोपीसँगि गोविंद ॥
अंजन बाणी अंजन वेद, अंजन कीया नाना भेद।
अंजन विद्या-पाठ पुराण, अंजन फोकट कथहिं गियान ॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजनकी करै अंजन सेव।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
अंजन कहाँ कहाँ लग केता, दान-पुंनि-तप-तीरथ जेता।
कहै कबीर कोई विरला जागै। अंजन छाँड़ि निरंजन लागै ॥—क० ग्रं०, पद ३३६

३ सिध सोई जो साधै इती। । नाथ सोई जो त्रिभुवन जती।—क० ग्रं०, पद ३२७

४ वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहं भानुतेजस्करं वा,
सत्कर्तृव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं,
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनं शंकरं वा ॥

यह मत वेदान्तियों, सांख्यों, मीमांसकों, बौद्धों और जैनोंके मतसे अपना वैशिष्ट्य प्रतिपादित करता है। ये लोग श्रुतिको साधिका नहीं मानते। (गो० सिं० सं० पृ० २२-२८; ७५-७६) इनके मतसे वेद दो प्रकारके हैं; स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद यज्ञ-यागका विधान करते हैं, योगियोंको इससे कोई वास्ता नहीं। (पृ० २६) उनका मतलब समस्त वेदोंके मूलभूत ओंकारमात्रसे है। क्योंकि ओंकार ही वेदका सार है। कबीर-पंथमें भी स्थूल और सूक्ष्म वेदकी कल्पना की गई है जिसकी चर्चा आगे की जायगी। 'ज्ञानचौंतीसा' के आदिमें कबीरदासने मानों इसी मतका समर्थन करते हुए कहा है कि जो ओंकार या प्रणवको जानता है वह उस पराशक्तिको जानता है जो लिखकर मिटा सकती है। अर्थात् जो सब कुछ करनेमें समर्थ है। और इसके बाद ही शायद ओंकारपर बहुत अधिक जोर देनेवाले इन योगियोंको लक्ष्य करके कहा है कि ओंकारकी बात तो सभी किया करते हैं पर इसे समझ सकनेवाले विरले ही हैं[१]।

गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रहमें पुस्तकी विद्याकी बड़ी खिल्ली उड़ाई है। इसमें कवेशय गीताकी एक कहानी उद्धृत की गई है। दुर्वासा मुनि सब शास्त्र पढ़कर महादेवकी सभामें गये। वहाँपर उनके अध्यात्मज्ञानके अभावको देखकर नारदने उन्हें 'भारवाही गर्दभ' कहा। अमर्षी दुर्वासाने सारी पुस्तकें समुद्रमें फेंक दीं और शिवसे अध्यात्म-विद्याकी भिक्षा माँगी। कबीरदासने भी पोथी पढ़-पढ़कर मरने-वाले और फिर भी रामको न जान सकनेवाले ज्ञान-मूढ़ोंकी कुछ ऐसी ही खिल्ली उड़ाई है[२]। कबीरदासका स्वर बिल्कुल इन योगियोंसे मिलता-जुलता है। योगियोंके पूर्ववर्ती सहजयानी साधकोंमें भी यह बात पाई जाती है और और भी टटोला

---

१ वो ॐकार आदि जो जानै। लिखिके मेटै ताहि सो मानै।
वो ॐकार कहैं सब कोई। जिन्हि यह लखा सो विरले होई॥

—ज्ञानचौंतीसा १-२

२ तू राम न जपहि अभागी।
वेद पुरान पढ़त अस पांडे खरचंदन जैसे भारा।
राम-नाम-तत समझत नाहीं अंति पड़े मुखि छारा॥
नारद कहै, व्यास यों भाखै सुखदेव पूछौ जाई।

—क० ग्रं०, पद ३९

जाय तो यह परम्परा बहुत पुरानी प्रतीत होगी। जो लोग कबीरदासकी इस प्रकारकी उक्तियोंको विदेशी साधकोंसे प्रभावित बताते हैं वे न जाने क्या सोचते रहते हैं। कबीरने जब कहा था कि पोथी पढ़-पढ़कर सारा संसार मर गया मगर पंडित कोई नहीं हुआ, केवल प्रियतमको मिलानेवाला एक ही अक्षर पढ़नेवाला पंडित हो जाता है[1]; तो वे गोरखपंथी योगमार्गियोंके ही स्वरमें बोल रहे थे,—घर-घरमें पुस्तकके बोझ ढोनेवाले विद्यमान हैं, नगर-ननरमें पंडितोंकी मंडली मौजूद है, वन-वनमें तपस्वियोंके झुण्ड वर्तमान हैं, किन्तु परब्रह्मको जाननेवाला और उसे पानेका उद्योग करनेवाला कोई नहीं[2]। इस प्रसंगमें कबीरदासने जो नारदादि मुनियोंका हवाला दिया है वह क्या कवेशय गीताकी उस कहानीके ही आधारपर ? (तुल०, क० ग्रं०, पद ३९)

"सभी सम्प्रदाय कहते हैं कि ग्रंथ हजारोंकी संख्यामें हैं। मैं कहता हूँ कि यदि मेरी बात मानो तो सभीको कुएँमें फेंक दो। भला जो लोग आधुनिक समयमें स्वयं मुक्त नहीं हो सके, वे दूसरेको मुक्तिका उपदेश दे सकते हैं, यह कैसे मान लिया जाय ? जो व्यक्ति लोगोंको अचरजमें डाल देनेके लिए, या अभिमानवश या जीविकाके लिए, या व्यसनके लिए, या अन्य किसी अभिलषित वस्तुकी प्राप्तिके लिए ग्रन्थ लिखा करता है वह धर्मार्थी पुरुषोंके आगे कैसे शोभनीय हो सकता है ?" (गो० सि० सं० पृ०, ७७) इसीलिए योग-बीजमें कहा है कि "सैकड़ों तर्क-व्याकरणादि ग्रन्थोंसे वृद्ध होकर ये ज्ञानमूढ़ लोग शास्त्रोंके जालमें बुरी तरह फँस गये हैं। जिस अनिर्वाच्य-पदको देवता भी नहीं बता सकते उसे ये शास्त्र क्या बतायेंगे ? और कबीरदासने मानों इसीपर

---

१ पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
एकै आखर पीवका, पढ़ै सु पंडित होइ ॥—क० ग्रं० १—९४, पृ० ३०

२ गृहे गृहे पुस्तकभारभाराः पुरे पुरे पंडितयूथयूथः।
वने वने तापसवृन्दवृन्दाः न ब्रह्मवेत्ता, न च कर्मकर्ता ॥
अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः।
पतितः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः ॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रे प्रकाश्यते ॥
—गो० सि० सं० (पृ० ३०) में उद्धृत

मुहर लगाते हुए कहा है कि हे भगवान्, तुम जैसे हो वैसा तुम्हें कोई नहीं जानता। लोग दूसरा ही कहते रहते हैं। चारों वेदके चार मतोंमें सारा संसार भूला पड़ा है और इस प्रकार श्रुति और स्मृति इन दोनोंके विश्वाससे जकड़ा हुआ संसार आशा-पाशमें व्यर्थ ही उलझा हुआ है। जब ब्रह्मादि देवता और सनकादि भक्त भी इस जालमें उलझे हुए हैं तो मुझ बेचारेकी क्या हस्ती है[1]!

अद्वैत मतसे नाथ-मतका उत्कर्ष दिखानेके लिए एक कहानी कही गई है। शंकराचार्य अपने चार शिष्योंसहित नदी-तीरपर बैठे थे। वहाँ कापालिकरूपमें भैरवने कहा कि आप तो संन्यासी हैं, आप मित्र और शत्रुको समान-दृष्टिसे देखनेवाले हैं, सो कृपया मुझे अपना सिर काट लेने दीजिये ताकि मैं उससे भैरवकी पूजा कर सकूँ। शंकराचार्य जरा सोचमें पड़ गये। यदि दे देते हैं तो पराजय होती है; यदि नहीं देते हैं तो शत्रु-मित्रमें तुल्यदृष्टिता सिद्ध नहीं होती। शंकरको इस प्रकार शिथिल देखकर उनके एक शिष्य पद्माचार्यने नृसिंहदेवका स्मरण किया और नृसिंहदेवने भी तत्काल उग्र भैरवपर आक्रमण किया। तब उग्र भैरवने कापालिक वेश परित्याग कर अपना असली स्वरूप प्रकट किया और प्रसन्न होकर मेघ गम्भीर ध्वनिमें कहा कि, 'अहो अद्वैतवाद आज पराजित हुआ! मैंने चालाक मल्लकी भाँति अपने शरीरकी हानि करके भी प्रतिद्वंद्वीको चित कर दिया। तुम्हारा सिद्धान्त पराजित हुआ। आओ, युद्ध करो।' शंकराचार्य इस ललकारका मुकाबला नहीं कर सके, क्योंकि संन्यासी लोग प्रारब्ध कर्ममें विश्वास करते हैं; अर्थात् ये मानते हैं कि ज्ञानप्राप्ति हो जानेपर संचित और क्रियमाण कर्म तो जले हुए बीजकी तरह बेकार हो जाते हैं, पर जिस कर्मका फल मनुष्य भोग रहा है वह प्रारब्ध कर्म तब भी बना रहता है। परन्तु अवधूत लोग सभी कर्मोंको योग-बलसे भस्म कर देते हैं, चाहे वह प्रारब्ध हो या सञ्चित हो या क्रियमाण हो।

---

१ जस तू तस तोहिं कोई न जान, लोग कहैं सब आनहि आन।
चारि वेद चहुँ मतका विचार, इहि भ्रमि भूलि पर्यौ संसार।
सुरति सुमृति दुइको विसवास, बाझि परै सब आसा-पास।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुरनर, मैं बपुरो धूँ कामें काकर।
जिसि तुम्ह तारौ सोइंपै तिरई। कह कबीर नांतर बाँधे मरई॥
—क० ग्रं०, पद ४७

सो, प्रारब्ध कर्मोंने शंकराचार्यको जड़ बना दिया। फिर कापालिकने योग-माया-का आवाहन किया और उसने आकर शंकरके चारों शिष्योंके सिर उतार लिये और उन्हें जलाकर भस्म कर दिया। अब जाकर आचार्य शंकरको ज्ञान हुआ कि वास्तविक शक्ति उनके अद्वैत ज्ञानमें नहीं बल्कि कापालिकोंके योग-मार्गमें है। इसके पूर्व शंकराचार्यने दक्षिण दिशामें विष्णु-सेवन और कर्मोपासनाका अनुष्ठान किया था, पूर्वमें जाकर वैद्यनाथधाममें शिवभक्तिकी साधना की थी और फिर भी पश्चिममें जब शक्तिरहित हो गये थे तो भयसे व्याकुल होकर 'सौन्दर्यलहरी' आदि शक्ति-स्तोत्र लिखे थे। आखिरकार जब वे उत्तरमें आये तो आश्चर्यके साथ देखा कि सारी उत्तर दिशा महासिद्धोंसे भरी है। यहाँ आचार्यकी मुलाकात तारानाथसे हुई। उन्होंने पूछा कि 'क्यों जी, तुम्हें तीर्था-टन ही करना है या कुछ अध्यात्म-साधना भी?' शंकर कुछ मतलब नहीं समझ सके। उनकी जिज्ञासा देखकर सिद्ध तारानाथने नाथ-पंथके अनुसार योगका उपदेश दिया। अब शंकराचार्यको वास्तविक ज्ञान हुणा और उन्होंने वज्रसूचिकोपनिषद्[1] लिखी और सिद्धान्तबिन्दु नामक योगियोंका एक ग्रंथ भी लिखा। यहाँ यह भूल नहीं जाना चाहिये कि कापलिक वस्तुतः नाथपंथी हैं। क्योंकि शाबरतंत्रमें जिन १२ आचार्योंको और उनके १२ शिष्योंको कापालिक कहा गया है वे वस्तुतः नाथपन्थी ही हैं।[2]

बारह आचार्य और बारह शिष्योंके इन नामोंमेंसे कुछकी ऐतिहासिकता संदिग्ध होनेपर भी नागार्जुन, मीननाथ, गोरक्ष और चर्पट आदि सचमुच

---

१ वज्रसूची या वज्रसूचिकोपनिषद्का कर्ता कौन है, यह विवादास्पद प्रश्न है। १९२१ ई० में हडसनने इसे नेपालमें पाया था। वहाँ इस ग्रन्थके रचयिता अश्वघोष बताये गये, बादमें इसकी एक प्रति नासिकमें पाई गई जो शंकराचार्यकी लिखी बताई गई। यह उप-निषदोंमें गिनी जाती है और निर्णयसागर प्रेसने १०८ उपनिषदोंका जो संग्रह छापा है उसमें छपी है। इस पुस्तकमें जातिभेदपर तीव्र आक्रमण किया गया है। इसके हिंदी अनुवादके लिए 'भारतवर्षमें जातिभेद', पृष्ठ ४८–५० देखिये।

२ बारह आचार्य ये हैं : आदिनाथ, अनादिनाथ, काल, अतिकाल, कराल, विकराल, महाकाल, कालभैरव, बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ और श्रीकंठ। बारह शिष्य ये हैं : नागार्जुन, जडभरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, मीननाथ, गोरक्षनाथ, चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कंथाधारी, जालंदर और मलयार्जुन (गो० सि०, पृ० १३–१९)।

ऐतिहासिक हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीने जब बौद्ध सहजयानके सिद्धाचार्योंके प्रति विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया तो जाना गया कि बहुत-से सिद्धगण और नाथपन्थके आचार्य एक ही हैं। आगे चलकर जब इस विषयकी और भी चर्चा हुई तो जाना गया कि ये नाम सिर्फ सिद्धों और नाथपंथियोंमें ही समान नहीं हैं, बल्कि, निरंजन-पंथियों, तांत्रिकों और कापालिकोंमें भी समान रूपसे प्रचलित हैं। इस सूचीमें निर्गुण-मतके संतोंका नाम भी जोड़ दिया जा सकता है। इस प्रकार इस विषयका अध्ययन केवल महत्त्वपूर्ण ही नहीं, काफी मनोरंजक भी सिद्ध हुआ है। दुर्भाग्यवश इस तरफ पंडितोंको जितना ध्यान देना चाहिये उतना अभीतक नहीं दिया गया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् म० म० पं० गोपीनाथ कविराजका कहना है कि हठयोगियों अर्थात् मत्स्येद्रनाथ, गोरखनाथ आदि नाथपंथियों, वज्रयानी और सहजयानी बौद्धों, त्रिपुरा सम्प्रदायके तांत्रिकों, नववैष्णवोंका नियमित और वैज्ञानिक अध्ययन ऐसी बहुत-सी बातोंका रहस्योद्घाटन करेगा जो इन सबमें समान रूपसे विद्यमान हैं। महायान बौद्धधर्म और तंत्रमतका संबन्ध बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और इस संबन्धमें सावधानता-पूर्ण और गम्भीर अध्ययनकी जरूरत है।

नाथपंथके आदि प्रवर्तक आदिनाथ अर्थात् स्वयं शिव माने जाते हैं। मत्स्येंद्र इन्हींके शिष्य बताये जाते हैं। इन्हीं मत्स्येंद्रनाथके कई शिष्य बड़े पंड़ित और सिद्ध हुए, जिनके प्रभावसे यह मत सारे भारतवर्षमें प्रतिष्ठित हो गया। इन शिष्योंमें सबसे प्रधान गोरखनाथ या गोरक्षक थे। सुप्रसिद्ध तिब्बती ऐतिहासिक तारानाथ (= सिद्ध तारानाथ, जिनके शंकराचार्यके साक्षात्कारकी किंवदन्तीका ऊपर ऊल्लेख हो चुका है) का कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बादमें शैव हो गये थे। इसीलिए तिब्बतके लामा लोग गोरखनाथको बड़ी घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। गोरखनाथने ही योग-मार्गके अभिनव रूप हठयोगको प्रतिष्ठित कराया। प्रसिद्ध महाराष्ट्र भक्त ज्ञाननाथने अपनेको गोरखनाथकी शिष्य-परम्परामें माना है। उनके कथनानुसार यह परम्परा इस प्रकार है: आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिनी (गैनी) नाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञाननाथ। ज्ञाननाथ तेरहवीं शताब्दीमें वर्तमान थे। इसलिए गोरखनाथ ११ वीं १२ वीं शताब्दीमें हुए होंगे। इस प्रसंगमें गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह (पृ० ४०) में बताई हुई गुरु-परम्पराका भी स्मरण कर लिया जा सकता है। एवं श्रीगुरु आदिनाथ,

मत्स्येंद्रनाथ,—सत्पुत्र उदयनाथ-दण्डनाथ-सत्यनाथ-सन्तोषनाथ-कूर्मनाथ-भव-नाथ। उनके गोरक्षनाथ ईश्वरसन्तान थे। शायद मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र-क्रमसे उदयनाथादि 'उत्तराधिकारी थे और शिष्य थे गोरखनाथ। इनके कई शिष्य बताये जाते हैं, जिनमें बलनाथ, हालीकपाव, सलीपाव आदि मुख्य थे। बंगालके राजा गोपीचंदकी माता मयनामती भी इन्हींकी शिष्या थी। हालीकपाव या हाड़िफा हाड़ी-नामक अन्त्यज जातिमें उत्पन्न हुए थे। ये पहले बौद्ध थे, बादमें नाथमार्गी हो गये थे। इन्हींका एक और नाम जालंधरनाथ बताया जाता है। गोपीचंद जालंधरनाथके ही शिष्य थे। राजा भरथरी या भर्तृहरि भी इन्हींके शिष्य थे। (तु०—क० ग्रं०, पद २९९, पृ० १८९)

इन योगियोंकी अद्भुत और आश्चर्यजनक करामातोंकी सैकड़ों कहानियाँ सारे देशमें फैली हुई हैं। जान पड़ता है कि आगे चलकर इन योगियों और निर्गुण-मतवादी सन्तोंमें लोकपर प्रभुत्व प्राप्त करनेकी होड़-सी मची हुई थी। कबीरदास और गोरखनाथके करामाती दाँव-पेंचोंकी कहानियाँ काफी प्रसिद्ध हैं। बंगालके दिनाजपुर आदि जिलोंमें गोरक्षमतके अनुवर्ती कहे जानेवाले योगियोंके 'धमाली' नामसे प्रचलित बहुतेरे अत्यन्त अश्लील गानोंका पता लगा है। योगियोंके साथ इन अश्लील गानोंका संबन्ध कैसे हुआ, यह अनुसंधान करने-योग्य प्रश्न है। अपनी 'हिंदी साहित्यकी भूमिका' में मैंने इस प्रसंगमें एक बातकी ओर सुधीवृंदका ध्यान आकृष्ट करना चाहा था। पूर्वी युक्तप्रान्त और बिहारमें होलीके अवसरपर जो अश्लील और अश्राव्य गान गाये जाते हैं उन्हें 'जोगीड़ा' कहते हैं। साधारणतः इस गानके गानेवाले किसी लड़केको स्त्री रूपमें सजाकर नाच भी कराते हैं और बीच-बीचमें 'जोगीजी धीरे-धीरे' की आवाज देते रहते हैं। 'जोगीड़ा' गा लेनेके बाद 'कबीर' गाते हैं जो अश्लीलतामें जोगीड़ोंके भी कान काटनेवाले होते हैं। क्या इन 'जोगीड़ों' और 'कबीर' के साथ योगियों और कबीरपंथियोंकी प्रति-द्वंद्विताकी कोई पुरानी स्मृति जड़ी हुई है या ये अश्लील गान भी किसी समय उलटवाँसियोंकी भाँति अप्रस्तुत अन्तर्निहित सत्यकी ओर इशारा करनेवाले माने जाते थे?

इस प्रसंगमें मेरे मित्र श्री ललितकिशोरसिंहजी 'नटवर' ने एक महत्त्वपूर्ण बातकी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया है। 'हिन्दी साहित्यकी भूमिका' में

(पृ० ४३-४४ पर) मैंने गोरखपंथियोंके पदोंसे मिलते हुए दादूके पदोंका हवाला दिया था। 'नटवर' जीने बताया है कि ये पद बिहारमें 'जोगीड़ों' के रूपमें प्रचलित हैं। उन्होंने इन पदोंको पटनेमें गाये जाते सुना है। अनुसंधित्सु पाठकोंको इस दिशामें खोज करनी चाहिये।

(२)

नाथपंथमें स्मार्त आचारोंको कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। यह बात उसे स्मार्त हिंदू-धर्मसे एकदम विरुद्ध खड़ा कर देती है।

"लोग आचार-आचार कहा करते हैं। भला यह आचार अत्याचार होकर कैसे निभता है ? भोजनमें जो घी देते हो वह भी तो चर्म-पात्रसे ही आता है ? चलते समय जो पैर में जूता देते हो, वह भी तो चमड़ेका ही है। शयनमें जो स्त्री-संग होता है उसकी तो बात ही जाने दो...। सूर्यादि ग्रहणके अवसरपर मिट्टीके बर्तन और जल आदिको अशुचि समझकर छोड़ देते हो किन्तु धान्य-घृतादिको क्यों नहीं फेंक देते ? बात यह है कि जलाशयमें जल तो बहुत मिल जाता है और कुम्हारोंके घर मिट्टीके बर्तन भी थोड़े ही दाममें मिल जाते हैं, तो फिर क्यों न इनको अपवित्र मानकर आचारवान् बन लिया जाय ! पर घी और धान्य वगैरा खरीदनेमें तो बहुत पैसे लगते हैं, फिर इन्हें कैसे अपवित्र मानते ? कहाँतक ऐसी बातें लिखी जायँ। सही बात तो यह है कि आचार वस्तु ही कल्पित है। बुद्धिमान् लोग इसे बिल्कुल नहीं मानते। पर यह न समझना चाहिये कि हमारे मतमें आचार बिल्कुल ही नहीं है। है, मगर विचार-पूर्वक। और लोग जैसा आचार पालन करते हैं वैसा तो हम करते नहीं, पर जो कुछ करते हैं वह गौण मान कर। उसीको मुख्य मान कर नहीं।" (गो० सि० पृ० ६०–६१) क्या ये युक्तियाँ कबीरदासकी युक्तियोंकी भाँति ही चकनाचूर कर देनेवाली नहीं हैं ? फिर बड़े नामी-गरामी पंडित किस मुँहसे कहा करते हैं कि भारतवर्षमें कबीरदासके पहले ऐसी युक्तियाँ अपरिचित थीं और कबीरदासमें जो इस प्रकारकी युक्तियाँ मिलती हैं वे विदेशी प्रभावके कारण ?

संक्षेपमें कहा जाय तो ये लोग आचारका खंडन करते हैं; द्वैतवाद, अद्वैतवाद और स्मार्त आदि मतोंमें दोष दिखाते हैं, गार्हस्थ्य-वर्जन और कर्मत्यागपर जोर देते हैं, शिव-शक्तिमें अभेद साबित करते हैं, रुद्रादि देवताओंमें भगवद्बुद्धि नहीं

रखते, पौराणिक कहानियोंकी खिल्ली उड़ाते हैं और यह मानते हैं कि शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करते हैं, काल संहार करते हैं, और नाथ मुक्ति देते हैं। नाथ ही एक मात्र शुद्ध आत्मा हैं, बाकी सभी बद्ध जीव हैं,—शिव भी, विष्णु भी, ब्रह्मा भी (पृ० ७०)। न तो ये लोग द्वैतवादियोंके 'क्रिया-ब्रह्म' में विश्वास करते हैं और न अद्वैतवादियोंके 'निष्क्रिय ब्रह्म' में। द्वैतवादियोंके स्थान हैं कैलास और वैकुंठ आदि, अद्वैतवादियोंका माया शबल ब्रह्म-स्थान है, योगियोंका निर्गुण स्थान है; परन्तु बन्धमुक्तिरहित परमसिद्धान्तवादी अवधूत लोग निर्गुण और सगुणसे परे उभयातीत स्थानको ही मानते हैं। क्योंकि नाथ निर्गुण और सगुण दोनोंसे अतीत परात्पर हैं (पृ० ७१)। पाठक इस बातको स्मरण रखें। कबीरमतके विकासको समझनेमें यह बहुत आवश्यक होगी।

अद्वैतके भी ऊपर विराजमान निराकार साकारसे अतीत, परमशून्य, निरंजन-स्वरूप नाथसे शुरूमें निराकार ज्योतिनाथ हुए, उनके साकारनाथ, उनकी इच्छासे सदाशिव भैरव और उनसे शक्ति भैरवी उत्पन्न हुई। सदाशिव भैरवसे ही विष्णु उत्पन्न हुए, उनसे ब्रह्मा और उनसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। नाथसे दो प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न हुई—नादरूपा और बिन्दुरूपा। हम आगे नाद और बिन्दुका दार्शनिक अर्थ समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। वहाँ वह सैद्धान्तिक अर्थ है। यहाँ एक बार व्यावहारिक अर्थ भी समझ लिया जाय। नादरूपा सृष्टि शिष्य-क्रमसे और बिन्दुरूपा पुत्र-पौत्रादिक्रमसे चलती है। नादसे नव नाथ हुए और बिन्दुसे सदाशिव-भैरव। शब्दसृष्टिमें पहले सूक्ष्म-रूपिणी सृष्टि उत्पन्न हुई फिर स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी सृष्टि है प्रणव, महागायत्री, योगशास्त्र और स्थूल-रूपिणी है ब्रह्मगायत्री और वेदत्रयी। योगशास्त्रसे तंत्रशास्त्र हुआ और वेदसे स्मृत्यादि शास्त्र हुए (गो० सि०, पृ० ७२)।

इसका मतलब यह हुआ कि इन योगियोंके मतसे योगशास्त्र और तंत्रशास्त्रका सीधा सम्बन्ध है। शारदातिलक नामक प्रसिद्ध तन्त्र-ग्रन्थमें सृष्टि-तत्त्वको जिस प्रकार समझाया गया है वह काफी साफ और ऊपरके इस वक्तव्यको समझनेमें सहायक है। शारदातिलकमें सृष्टितत्त्वको समझाते समय कहा गया है कि शिवके दो रूप हैं: निर्गुण और सगुण। जब शिवका प्रकृतिसे योग होता है तो सगुण शिव आविर्भूत होते हैं। सगुण शिवसे शक्ति उत्पन्न होती है और शक्तिसे

नाद (पर) और उससे बिन्दु (पर) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सगुण शिव,—शक्ति, परनाद,—परबिन्दु यह क्रम होता है। यहाँतक नाद और बिन्दु अव्यक्त रहते हैं। यहींसे वे व्यक्त होकर प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्थामें परबिन्दुसे तीन प्रकारकी अभिव्यक्ति होती है: अपर बिन्दु, बीज और अपर नाद। इन्हीं तीनोंसे यथाक्रम रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं और फिर सृष्टिका पहिया अविश्रान्त घूमता है।

इसका ध्यान रखना चाहिये कि प्रकृति अर्थात् शक्ति यहाँ सांख्यवादियोंके समान जड़ नहीं है। सीधी भाषामें यों समझाया गया है कि निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य है और सगुण शिव उपाधियुक्त। उपाधियुक्त चैतन्यसे उपाधियुक्त शक्ति उत्पन्न होती है। इन दोनोंके संयोगसे विश्वमें जो एक विक्षोभ होता है वही नाद है और उस विक्षोभका क्रियाशील होना ही बिन्दु है। इस नाद और बिन्दुसे सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त विशेषताहीन नाद और बिन्दुका ही ग्रहण होना चाहिये,—इसी बातको समझानेके लिए इन्हें परनाद और परबिन्दु कहा जाता है। कभी-कभी लोग परम नाद और बिन्दु भी कह देते हैं। इन्हींसे अपर या विशेषतायुक्त नाद, बीज और बिन्दु उत्पन्न होते हैं जो क्रमशः इच्छा, ज्ञान और क्रियाके प्रतीक हैं। अर्थात् अपरनाद इच्छा है, बीज ज्ञान है और अपर बिन्दु क्रिया है। इन्हींसे क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और रुद्रकी उत्पत्ति होती है। यह जो (पर) बिन्दुसे (अपर) नाद और (अपर) बिन्दु उत्पन्न हुआ वही उस भुलभुलैयावाले प्रश्नके मूलमें है कि पहले नाद प्रकट हुआ कि बिन्दु। इस प्रकार तन्त्रका निर्गुण शिव कबीरपंथके सत्यपुरुषके बराबर है, सगुण शिव निरंजन पुरुष है और शक्ति आद्याशक्ति है। नाद ही स्वयंवेद्य यानी कबीरदासकी वाणियोंके 'निर्मल वेद' के समान है और बिन्दु उसकी क्रिया। हम आगे चलकर कबीरदासके सृष्टि-तत्त्वको अच्छी तरह समझनेका अवसर पायेंगे। यहाँ योगियों और तान्त्रिकोंके नाद और बिन्दु, निर्गुण और सगुण, तथा शक्ति और शिवके रहस्यको हमें अच्छी तरह मनमें रख लेनेकी जरूरत है। आगे हम कबीरके सृष्टि-तत्त्वको इनकी सहायतासे आसानीसे समझ सकेंगे। यहाँ इसलिए भी इनकी चर्चा कर रखी गई कि जब-

---

१ देखिये, 'शारदातिलक' में ज्ञानेन्द्रलाल मजूमदारका Notes on the First Chapter (Introduction)

तक हम कबीरदासके सृष्टि-तत्त्वको समझनेका अवसर न पा सकें तबतक बीचमें अगर कदाचित् कबीरसाहब निम्नलिखित प्रश्न कर बैठें तो हमें सोचने-विचारनेकी सामग्री मिली रहे —

प्रथमे गगन कि पुहुमे प्रथमे
प्रथमे पवन कि पाँणी।
प्रथमे चन्द कि सूर प्रथमे प्रभु
प्रथमे कौन बिनांणी।
प्रथमे प्राण कि प्यंड प्रथमे प्रभु,
प्रथमे रकत कि रेतं।
प्रथमे पुरुप कि नारि प्रथमे प्रभु
प्रथमे बीज कि खेतं।
प्रथमे दिवस कि रैणि प्रथमे प्रभु
प्रथमे पाप कि पुन्यं!
कहे कबीर जहाँ बसहु निरंजन,
तहाँ कछु आहि कि सुन्यं!

---

४. हठयोगकी साधना

नाथपन्थकी साधना-पद्धतिका नाम हठयोग है। कबीरदासको समझनेके लिए इस साधना-पद्धतिकी जानकारी होनी चाहिये। इनके सिद्धान्तानुसार महा-कुण्डलिनी नामक एक शक्ति है जो सम्पूर्ण सृष्टिमें परिव्याप्त है। व्यष्टि (व्यक्ति) में व्यक्त होनेपर इसी शक्तिको कुण्डलिनी कहते हैं। कुण्डलिनी और प्राण-शक्तिको लेकर ही जीव मातृ-कुक्षिमें प्रवेश करता है। सभी जीव साधारणतः तीन अवस्थामें रहते हैं : जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्न। अर्थात् या तो वे जागते रहते हैं या सोते रहते हैं या सपना देखते होते हैं। इन तीनों ही अवस्थाओंमें कुण्डलिनी शक्ति निश्चेष्ट रहती है। इस समय इसके द्वारा शरीरधारणका कार्य होता है। इस कुण्डलिनीको ठीक-ठीक समझनेके लिए शरीरकी बनावटकी कल्पना करनी चाहिये। पीठमें स्थित मेरुदण्ड जहाँ सीधे जाकर पायु और उपस्थके मध्यभागमें लगता है वहाँ एक स्वयंभू लिंग है जो एक त्रिकोण चक्रमें अवस्थित है। इसे अग्निचक्र कहते हैं। इसी त्रिकोण या अग्निचक्रमें स्थित स्वयंभू लिंगको साढ़े तीन वलयों या वृत्तोंमें लपेटकर सर्पिणीकी भाँति कुण्डलिनी अवस्थित है। इसके ऊपर चार दलोंका एक कमल है जिसे मूलाधार चक्र कहते हैं। फिर उसके ऊपर नाभिके पास स्वाधिष्ठान चक्र है जो छह दलोंके कमलके आकारका है। इस चक्रके ऊपर मणिपूर चक्र है और इसके भी ऊपर हृदयके पास अनाहत चक्र। ये दोनों क्रमशः दस और बारह दलोंके पद्मोंके आकारके हैं। इसके भी ऊपर कण्ठके पास विशुद्धाख्य चक्र है जिसका आकार सोलह दलके पद्मके समान है। और भी ऊपर जाकर भ्रूमध्यमें आज्ञा नामक चक्र है जिसके सिर्फ दो ही दल हैं। ये ही षट्चक्र हैं। इन चक्रोंके भेद करनेके बाद मस्तकमेंका शून्य चक्र मिलता है जहाँ जीवात्माको पहुँचा देना योगीका चरम लक्ष्य है। इस स्थानपर जिस कमलकी कल्पना की गई है उसमें सहस्र दल हैं, इसलिए इसे सहस्रार-चक्र भी कहते हैं। शून्यचक्र ही गगन-मण्डल है। इसीको कैलास भी कहते हैं[1]।

---

१ अत ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डव्यस्तदेहस्थं बाह्ये तिष्ठति सर्वदा।
कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति॥—शिवसंहिता ५, १५१—२

कबीरदासने कभी-कभी जब इसी शरीरमें कैलासके उपस्थित रहनेकी बात कही है तो उनका मतलब सहस्रार चक्रसे ही रहता है। बताया गया है कि संतमतमें सहस्रार चक्रके भी ऊपर एक अष्टम चक्र,—सुरतिकमल—की कल्पना की गई है। कहते हैं कि सहस्रारतक पहुँचे हुए योगीका चित्त व्युत्थान-कालमें अर्थात् समाधि टूटनेके बाद फिर वासनाका शिकार हो जाता है, पर सुरतिकालमें विलास करनेवाले सन्तका चित्त ऐसे खतरेसे निश्चिन्त रहता है (विचार० पृ० १५४ –५)। कभी-कभी साधना-ग्रन्थोंमें कुंडली योगको हठयोगसे भिन्न माना गया है। पर अधिकांश नाथ-सम्प्रदायके ग्रंथ कुंडलिनीकी चर्चा अवश्य करते हैं।

अब मेरुदण्डमें प्राणवायुको वहन करनेवाली कई नाड़ियाँ हैं जिनमेंसे कुछका आभास हम साँस लेते समय पाते हैं। जो नाड़ी बाईं ओर है उसे इड़ा और जो दाहिनी ओर है उसे पिंगला कहते हैं। मौजी कबीरने अनुप्रास मिलानेके लिए इनकी जोड़ीका नाम 'इंगला-पिंगला' बना लिया था। ये दोनों ही बारी-बारीसे चलती रहती हैं। इन दोनोंके बीच सुषुम्ना नाड़ी है। इसीसे होकर कुण्डलिनी शक्ति ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। असलमें सुषुम्नाके भीतरकी कई सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। सुषुम्नाके भीतर वज्रा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाड़ी है जो कुण्डलिनी शक्तिका असल मार्ग है। इस प्रकार सुषुम्ना वस्तुतः तीन नाड़ियोंका एकीभाव है। हिसाबसे इड़ा, पिंगला और ये तीन नाड़ियाँ मिलकर पाँच होती हैं। इसीलिये इनको 'पंचस्रोतः' या 'पाँच धारायें' कहनेकी भी प्रथा है (हठ० ३–५२)। परन्तु व्यवहारातः इड़ा-पिंगला सुषुम्ना इन तीन नाड़ियोंकी ही चर्चा आती है। इन्हीं तीन नाड़ियोंको सिद्ध-चार्योंने 'ललना-रसना-अवधूती' कहा है (बौ० गा० दो०, पृ० ९)। अव-धूती अर्थात् सुषुम्ना। क्योंकि, जैसा कि, 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा है, वैसे तो शरीरमें ६२ हजार नाड़ियाँ हैं; पर एकमात्र सुषुम्ना ही शांभवी शक्ति है, बाकी नाड़ियाँ बेकार ही हैं[१]। कबीरदासके विद्यार्थीको अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि इड़ा या इंगला ही 'गंगा' है, पिंगला ही 'यमुना' है और सुषुम्ना ही 'सरस्वती' है। इन तीनोंका जहाँ ब्रह्मरंध्रमें संगम हुआ है, वहीं त्रिवेणी या प्रयाग है। कबीरदास कभी-कभी शिवसंहिता आदि हठयोगके ग्रन्थोंकी भाँति

---

१ द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः।—हठ० ५—१८

इसी त्रिवेणीमें स्नान करनेका विधान करते हैं। कबीरकी उलटवाँसियों और योगात्मक रूपकोंकी कुंजीके समान इन सांकेतिक शब्दोंको नहीं भूलना चाहिये।

साधक नाना प्रकारकी साधनाओंके द्वारा कुण्डलिनी शक्तिको ऊपरकी ओर या ऊर्ध्वमुख उद्बुद्ध करता है। साधारण मनुष्योंमें यह कुण्डलिनी अधोमुख रहती है, इसीलिए वह काम-क्रोधका क्रीतदास बना रहता है। कुण्डलिनी जब उद्बुद्ध होकर ऊपरकी ओर उठती है तो उससे स्फोट होता है जिसे 'नाद' कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका ही व्यक्त रूप महाबिन्दु है। यह बिन्दु तीन प्रकारका होता है : इच्छा, ज्ञान और क्रिया। पारिभाषिक तौरपर योगी लोग इन्हींको कभी सूर्य, चन्द्र और अग्नि कहते हैं और कभी ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी कहते हैं। अब, यह जो नाद और बिन्दु है वह असलमें अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त अनाहत नाद या अनहद नादका व्यष्टिमें व्यक्त रूप है। अर्थात् जो नाद अनाहत भावसे सारे विश्वमें व्याप्त है उसीका प्रकाश जब व्यक्तिमें होता है तो उसे नाद और बिन्दु कहते हैं। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर (इन श्वासोंकी संख्या दिन-रातके चौबीस घण्टोंमें २१६०० होती है) निरन्तर इड़ा और पिंगलाके मार्गमें चल रहा है। सुषुम्नाका पथ प्रायः बन्द है। यही कारण है कि बद्ध जीवके इन्द्रिय और मनकी वृत्ति बहिर्मुख है। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें और निखिल ब्रह्माण्डमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है उसे वह नहीं सुन पाता। परन्तु जब क्रिया-विशेषसे सुषुम्ना-पथ उन्मुक्त हो जाता है और कुण्डलिनी शक्ति जाग उठती है, तो प्राण स्थिर होकर शून्य पथसे निरन्तर उस अनाहत ध्वनि या अनहद नादको सुनने लगता है। अनुभवी लोगोंने बताया है कि पहले तो शरीरके भीतर समुद्र-गर्जन, मेघगर्जन, और भेरी, झर्झर आदिका-सा शब्द सुनाई देता है, फिर मर्दल, शंख, घण्टा, काहलकी-सी आवाज सुनाई देती है और अन्तमें किंकिणी, वंशी, भ्रमर और वीणाके गुंजार-सी मधुर ध्वनि सुनाई देने लगती है। जिस प्रकार मकरन्द-पानमें मत्त भौंरा गन्धकी ओर ताकता भी

---

१ इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्कपुत्रिका।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संगोऽति दुर्लभः।
ब्रह्मरंध्रमुखे तासां संगमः स्यादसंशयः।
तस्मिन् स्नाते स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः॥ शिव० ७-१३१

नहीं, उसी प्रकार योगीका नादासक्त चित्त नादमें ही रम जाता है, वह दुनियाके किसी और विषयकी परवाह भी नहीं करता[१]।

परन्तु ज्यों-ज्यों मन विशुद्ध और स्थिर होता जाता है त्यों-त्यों इन शब्दोंका सुनाई देना बंद हो जाता है। क्योंकि चिदात्मक आत्मा उस समय अपने स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और फिर बाह्य प्रकृतिसे उसका कोई सरोकार नहीं रहता। यह नाद मूलतः एक होकर भी औपाधिक संबन्धके कारण, अर्थात् भिन्न-भिन्न उपाधियोंसे युक्त होनेके कारण सात स्वरोंमें विभक्त है। शास्त्रमें जिसे प्रणव या ओंकार कहते हैं वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। किसी-किसी साधकने तथा वैयाकरणोंने इसीको 'स्फोट' कहा है। यह स्फोट अखण्डसत्तारूप ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। स्फोटको ही शब्दब्रह्म और सत्ताको ही ब्रह्म कहा गया है। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि स्फोट वाचक शब्द है और सत्ता वाच्य। इस प्रकार वाच्य (ब्रह्मसत्य) को प्रकाशित करनेवाला वाचक (स्फोट या नाद) भी ब्रह्म ही है। इसका मतलब यह हुआ कि ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है। इस संबन्धको लेकर भी सन्तोंने कितने ही गूढ़ रूपकोंकी रचना की है। यह शब्द मूलाधारसे उठता है और सहस्रारमें जाकर लय हो जाता है। हठयोगकी प्रक्रियाको समझनेके पहले यह सब जान लेना आवश्यक है।

लेकिन हठयोग असलमें लक्ष्य नहीं है। इसे राजयोगका सोपान ही बताया गया है, यद्यपि पक्का हठयोगी इसके सिवा अन्य किसी योगकी बात सुनना ही नहीं चाहता। शुरू-शुरूमें हठयोगका उद्देश्य शरीर-शुद्धि और मनका सम्मार्जन ही समझा गया था, पर नाथ-पंथमें काया-साधनसे ही मुक्ति मानी जाने लगी। देह-शुद्धिके लिए हठयोगी क्रियाओंका विशाल ठाठ है; धौति है, बस्ति है, नेति है, त्राटक है, नौलि है, कपालभाति है। इन्हें षट्कर्म कहते हैं। फिर

---

१ आदौ जलधि-जीमूत-भेरी-झर्झर-संभवाः।
मध्ये मर्दल-शंखोत्थाः घंटाकाहलजास्तथा॥
अन्ते तु किंकिणी-वंश-वीणा-भ्रमरनिस्वनः।
इति नानाविधाः शब्दाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः॥
मकरन्दं पिबन् भृंगो गंधं नापेक्षते यथा।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि कांक्षति॥

आसनों, मुद्राओं, प्राणायामों, ध्यानों और समाधिका विराट् आडंबर है। और वैसे तो सभी सिद्धिके सोपान हैं पर सिद्धासनके समान आसन नहीं है, खेचरी मुद्राके समान मुद्रा नहीं है, केवलके समान प्राणायाम नहीं है और नादके समान समाधि नहीं है[१]। सिद्धासनमें नाभिके नीचे मेढ़्स्थानपर बाईं एड़ी और ऊपर दाहिनी एड़ी रखनी पड़ती है, ठुड्डी स्थिर होती है और साधक स्थिर होकर भ्रूमध्यमें ध्यान लगाता है (हठ० १–३७)। प्राणायाम तीन प्रकारका होता है: रेचक (साँसका छोड़ना), पूरक (साँसका भरना) और कुम्भक (साँसका रोकना)। असल प्राणायाम कुम्भक ही है और यह दो प्रकारका होता है : जब रेचक और पूरककी सहायता ली जाती है तब तो इसे 'सहित' कहते हैं पर जब उन दोनोंकी सहायताके बिना ही यह प्राणायाम सिद्ध हो जाता है तो इसे 'केवल' कहते हैं। इसीकी सहायतासे कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होती है।

कबीरदासकी उलटवाँसियोंके विद्यार्थीके कुछ कामकी चीज खेचरी मुद्रा है। इसमें योगी जीभको उलटकर कपाल-कुहरमें प्रविष्ट करता है, और उसकी दृष्टि भ्रुवोंमें निबद्ध होती है (हठ० ३–३२)। बड़ी साधना और आयासके बाद यह मुद्रा प्राप्त होती है, पर एक बार यदि आधे क्षणके लिए भी यह प्राप्त हो गई अर्थात् योगी अपनी जीभको ऊपरकी ओर उलटकर कपाल-कुहरमें स्थिर कर सका तो समस्त विषों और व्याधियोंसे मुक्त हो जाता है। इसी मुद्राका विशेष रूप व्योमचक्र भी कहलाता है। ब्रह्मरंध्रके सहस्रार पद्मके मूलमें जो योनि नामक त्रिकोणाकार शक्तिका केन्द्र है वही चन्द्रमाका स्थान है। इसमेंसे सदा अमृत झरता रहता है। खेचरी मुद्रामें योगीकी ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी अमृत रसका पान करती रहती है। यही अमृत सोमरस है। इसको पान कर सकने

---

१ नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः।
न खेचरी-समा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

—हठ०—१-४५

२ ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्।
तत्र कंदे हि या योनिः तस्याः चन्द्रो व्यवस्थितः॥
त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्।

—शिव० ५–१०३

वाला योगी अमर हो जाता है। और सच पूछिये तो वही योगी कुलीन कहलाता है जो नित्य 'गोमांस'का सेवन करता रहता है और ऊपरसे अमरवारुणी नामक मदिराका पान करता रहता है! और योगी तो कुलघातक हैं, क्योंकि 'गो' का अर्थ जिह्वा है और उसे उलटकर तालु-देशमें ले जानेको ही 'गोमांस-भक्षण' कहते हैं। निस्सन्देह यह महापातकको नाश करनेवाला है। ऊपर जिस चन्द्रमासे निर्झरित सोम-रसकी चर्चा की गई है वही अमर-वारुणी है[१]। इन दो कृत्योंको करनेवाला योगी कुलीन नहीं तो क्या है? सो कबीर-दासने इसी गोमांसके भक्षण न करनेवाले योगियोंकी खबर ली थी[२] और इसी रसको पान करनेके लिए अवधूको ललकारा था[३] और स्वयं भी शायद मनोन्मनी अवस्थामें रहकर भवकी भट्ठीमें ज्ञानके गुड़ और ध्यानके महुएसे इसी महारसको

---

१ गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकः॥
'गो'शब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांस-भक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥
जिह्वा-प्रवेश-संभूतः वह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी॥

—हठ० ३-४६-८

२ नितै अमावस नितै ग्रहन होइ राहु ग्रास तन छीजै।
सुरही भच्छन करत वेदमुख घन वरिसै तन छीजै॥

—बीजक, शब्द ८२

३ अवधू, गगनमंडल घर कीजै।
अंमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै।
मूल बाँधि सर-गगन-समाना सुषमन यों तन लागी॥
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहाँ जोगणी जागी।
मनवाँ जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा॥

—क० ग्रं०, पद ७०

चुआ कर पिया था। गुरुप्रसादसे उन्हें यह अमृत-फलका रस मिल गया था[१]। वस्तुतः, जैसा कि हठयोगप्रदीपिकामें कहा गया है, एक ही सृष्टिमय बीज बीज है, एक ही खेचरी मुद्रा मुद्रा है, एक ही निरालम्ब देव देव है, और एक ही मनोन्मनी अवस्था अवस्था है[२]। इस मनोन्मनी अवस्थामें वायु भीतर संचरित हुआ रहता है, मन स्थिर हो गया होता है और सही बात तो यह है कि मनके सुस्थिर होनेको ही मनोन्मनी अवस्था (कबीरदासके शब्दोंमें 'उन्मुनि रहनी') कहते हैं[३]।

राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, शून्य, अशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्याः ये सब एक ही समाधिके वाचक शब्द हैं (ह० ४।३-४)। यह वह अवस्था है जब मन और प्राण एकीभूत हो जाते हैं और जब चंचल मन स्थिर और वशवर्ती हो जाता है। इन्द्रियोंका स्वामी मन है, मनका मारुत, मारुतका लय (लौ) और लयका नाद। सो यह (लौ) मोक्ष है। मन और प्राणके लौ लगनेपर कोई एक अभूतपूर्व आनन्द मिलता है (हठ० ४,२९-३०)। इसीलिए हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि आत्माको शून्यमें करके और शून्यको आत्मामें करके योगी निश्चिन्त हो जाय। शून्य अर्थात् समाधि,—जब कि आत्मा छह चक्रोंको भेदकर सहस्रार या शून्य-चक्रमें अवस्थित होता है। ऐसी अवस्थामें

---

१ अवधू, मेरा मन मतवारा।
उन्मनि चढ्या गगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़करि ग्यांन ध्यांन करि महुआ पीवै पीवनहारा॥ इत्यादि
—क० ग्रं०, पद ७२

२ एकं सृष्टिमयं बीजं, एका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालंबः, एकावस्था मनोन्मनी॥
—हठ० ३-५३

३ मारुते मध्य-संचारे
मनः स्थैर्यं प्रजायते।
यो मनः सुस्थिरीभावः
सैवावस्था मनोन्मनी॥
—हठ० २-४२

उनके भीतर भी शून्य है, बाहर भी शून्य है, आसमानमें जैसे कोई सूना घड़ा रखा हो ! परन्तु असलमें वह भीतरसे भी पूर्ण होता है, बाहरसे भी पूर्ण होता है—समुद्रमें जैसे भरा घड़ा डुबाकर रखा गया हो !—

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः
शून्य कुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तः पूर्णो बहीः पूर्णो
पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥
—हठ ५।५५

कबीरदासने मानों इसी भावका अनुवाद करते हुए कहा है—

जलमें कुंभ कुंभमें जल है,
बाहर-भीतर पानी ।
फूट कुंभ जल जलहि समाना
यह तथ कहो गियानी ।
आदे गगना अन्तै गगना
मध्ये गगना भाई ।
कहै कबीर करम किस लागै
झूठी एक उपाई ॥
—क० ग्रं०, पद ४४

ऊपर जो गंगा-यमुना-सरस्वती-त्रिवेणी-कैलास-सूर्य-चन्द्र-गोमांसभक्षण-वारुणी-पान-सोमरस आदि पारिभाषिक शब्द आये हैं वे विशेष रूपसे स्मरणीय हैं, क्योंकि आगे इनकी चर्चा अनेक अवसरोंपर विशेष आवश्यक होगी ।

५. निरंजन कौन है ?

मध्ययुगके योग, मन्त्र और भक्तिके साहित्यमें 'निरंजन' शब्दका बारम्बार उल्लेख मिलता है। नाथ-पंथमें भी 'निरंजन' शब्द खूब परिचित है। साधारण रूपमें 'निरंजन' शब्द निर्गुण ब्रह्मका और विशेष रूपमें शिवका वाचक है। नाथ-पंथकी भाँति एक और प्राचीन पन्थ भी था, जो निरंजन-पदको परमपद मानता था। जिस प्रकार नाथ-पंथी नाथको परमाराध्य मानते थे उसी प्रकार ये लोग 'निरंजन' को। आजकल निरंजनी साधुओंका एक सम्प्रदाय राजपूतानेमें वर्तमान है। कहते हैं, इस सम्प्रदायके प्रवर्तक स्वामी निरानन्द निरंजन भगवान् (निर्गुण) के उपासक थे। पर आजकलके निरंजन-मतके अनुयायी बहुत-कुछ रामानन्दी वैरागियोंके समान राम-सीताके उपासक हैं; शालिग्राम-शिला और गोमती-चक्रको मान्य समझते हैं (भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृ० १८९)। श्री क्षितिमोहन सेनने लिखा है कि उड़ीसामें अब भी वह निरंजन-पंथ जी रहा है जिसने निर्गुण साधनाको प्रभावित किया था। यहींसे इस पंथकी शिक्षाएँ मध्यदेश और पूर्वी प्रान्तोंमें पहुँची थीं। पश्चिमी भारतमें भी इसका प्रभाव अभीतक विद्यमान है (मिडिएवल मिस्टिसिज्म पृ० ७०७)। हालकी खोजोंसे पता चला है कि बंगालके पश्चिमी हिस्सों तथा बिहारके पूर्वी जिलोंमें आज भी एक धर्ममत है जिसके देवता निरंजन या धर्मराज हैं। मैंने अपनी नई पुस्तक 'कबीर-पन्थ' में दिखाया है कि एक समम यह धर्मसम्प्रदाय झारखण्ड और रीवाँतक प्रचलित था। बादमें चलकर यह मत कबीर-सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त हो गया और उसकी सारी पौराणिक कथाएँ कबीर मतमें गृहीत हो गईं, परन्तु उनका स्वर बदल गया। बंगालमें धर्म-पूजा-विधानका एक काफी बड़ा साहित्य उपलब्ध हुआ है। शुरू-शुरूमें धर्म ठाकुर या निरंजन देवताको बौद्ध धर्मके त्रिरत्नमेंसे एक रत्न (= धर्म) का अवशेष समझा गया था, पर अब इस मतमें सन्देह भी किया जाने लगा है (दे० सुकुमार सेन और पंचानन मण्डल सम्पादित 'रूपारामेर धर्ममंगल' की भूमिका)। कबीर-पन्थके अध्ययनसे निरंजनका सम्बन्ध बुद्धसे था, ऐसा भी अनुमान होता है (दे० विश्वभारतीपत्रिका, खण्ड ५, अंक ३ में मेरा लेख)। नाथपन्थमें निरंजनकी महिमा खूब गाई गई है। हठयोगी जब नादानुसन्धानका सफल अभ्यासी हो जाता है तो उसके समस्त

पाप क्षीण हो जाते हैं, उसके चित्त और मारुत निरंजनमें लीन हो जाते हैं[1]। यह योगीका परम साध्य है क्योंकि जबतक ज्ञान निरंजनके साक्षात्कारतक नहीं उठता तभीतक इस संसारके विविध जीवों और नाना पदार्थोंमें भेद-दृष्टि बनी हुई है[2]। एक विशेष पदतक पहुँचनेपर निरंजनका साक्षात्कार होता है। ऐसी हालतमें वह समस्त उपाधियों या विशेषताओंसे हीन हो जाता है और तभी वह अपनेको अखण्ड ज्ञान-रूपी निरंजन कह सकता है[3]। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह (पृ० ३३) में पद्मपुराणकी कपिल-गीतासे एक वचन उद्धृत किया गया है, जिसमें कहा गया है कि बिन्दु-संयुक्त ओंकारका योगी लोग नित्य ध्यान करते हैं। इसके भीतर जो तत्त्व है उसे सद्गुरु ही बता सकते हैं, दूसरा कोई नहीं। ॐ कारमें पाँच खण्ड होते है, (१) तारक, (२) दण्ड, (३) कुण्डली, (४) अर्द्धचन्द्र और (५) बिन्दु। इन पाँचोंमें पाँच देवताओंका निवास है। तारकमें ब्रह्मा, दण्डमें विष्णु, कुण्डलीमें रुद्र, अर्द्धचन्द्रमें ईश्वर और सबसे ऊपरवाले बिन्दुमें सदाशिवका वास है। इसके भी ऊपर निरंजन हैं, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयके कारण हैं। यही परम तत्त्व है जो सद्गुरुकी कृपाके बिना समझमें नहीं आ सकता, क्योंकि, यदि सद्गुरुकी कृपा न हो तो विषय-त्याग दुर्लभ है, तत्त्व-दर्शन दुर्लभ है, सहजावस्था दुर्लभ है[4]। इससे स्पष्ट है कि निरंजनका साक्षात्कार ही परम पद

---

१ सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसंचयः।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्त-मारुतौ॥ —हठ० ४-१०४

२ यावन्नोत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने।
तावत्सर्वाणि भूतानि दृश्यते विविधानि च॥ —शिव० २-४८

३ निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्ड-ज्ञान-रूपी निरंजनः॥ —शिव० १-६८

४ ईश्वर उवाच—ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते।
कुण्डल्यां हि तथा रुद्रोऽर्द्धचन्द्रे स ईश्वरः।
निरंजनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम्।
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥
—कपिलगीता (पद्मपुराणान्तर्गत)

है। स्वयं कबीरदासकी उक्तियोंमेंसे ऐसी ढूँढ़ी जा सकती हैं जिनमें उन्होंने निरंजनको परमाराध्य समझा है। पर आगे चलकर कबीर-पंथमें निरंजनकी बड़ी दुर्गति हुई है। निरंजन वहाँ पक्का शैतान बना दिया गया है। इस शब्दका ऐसा विकास कुतूहलजनक है। कबीरदासके नामपर जो दर्जनों ग्रन्थ प्रचलित हैं, उनमें निरंजनकी इस दुर्दशाके समर्थक पद प्रचुर मात्रामें हैं।

'कबीर मन्सूर' में बताया गया है कि सत्यपुरुष समस्त जगत्का उत्पन्न-कर्ता है। वह कभी गर्भमें नहीं आता,—सबसे अतीत, सबसे परे, सबसे ऊपर। कबीरसाहब उसी सत्यपुरुषके अनागत-वक्ता (भविष्यवक्ता) हैं। इनमें सब गुण वे ही हैं जो उक्त सत्यपुरुषमें हैं। वस्तुतः वे उससे अभिन्न हैं और संसारके त्राणकर्ता हैं। यही कबीरसाहब सत्ययुगमें 'सुकृति' नामसे, त्रेतायुगमें 'मुनीन्द्र' नामसे, द्वापरमें 'करुणामय स्वामी' नामसे और कलिकालमें 'कबीर' नामसे अवतीर्ण हुए हैं।

तो, सत्यपुरुषने स्वयं ही जो अपना स्वरूप उत्पन्न किया वह कबीर साहब हैं। इन्हीं कबीर साहबके द्वारा ब्रह्म-सृष्टि (जिसकी चर्चा आगे आ रही है) को सूक्ष्म वेद दिया गया। यह वेद निर्दोष और निष्कलंक था पर दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नहीं रह सका। कारण यह है: सत्यपुरुषने सृष्टिके लिए छह पुत्र उत्पन्न किये थे—(१) सहज, (२) अंकुर, (३) इच्छा, (४) सुहंग (=सोऽहं), (५) अचिन्त (=अचिन्त्य) और (६) अक्षर। ये छहों बड़े तेजस्वी और तपस्वी हुए। सारा जगत् उस समय जलसे परिपूर्ण था और उसमें सत्यपुरुषने अपनी सातवीं सन्तान,—एक अण्डेको छोड़ दिया। यह अण्डा अक्षर-पुरुषके पास,—जो उस समय तपोमग्न था, आकर फूटा और उसमेंसे दुर्दमनीय कालपुरुष निरंजन पैदा हुआ, जिसे पिताने पहलेसे ही असंख्य युगपर्यन्त अखण्ड राजभोगकी अनुज्ञा दे दी थी। इसी अण्डेको मन्वादि शास्त्रोंमें 'हिरण्य-गर्भ' कहा गया है। यह कालपुरुष बड़ा प्रचण्ड, अभिमानी और प्रतापी हुआ। इसीके नाम नाना शास्त्रोंमें नाना भावसे आये हैं। कुछ नाम ये हैं: काल, कैल, अंकार, ओंकार, निरंकार, निर्गुण, ब्रह्म, ब्रह्मा, धर्मराय, खुदा, अल्लाह, करीम, अद्वैत, केशव, नारायण, हरि, विश्वम्भर, वासुदेव, जगदीश, जगन्नाथ, परमेश्वर, ईश, विश्वनाथ, खालिक, रब, रब्बिल, आलामी, हक़ इत्यादि।

पिता (सत्यपुरुष) की आज्ञासे इसी निरंजनने इस सृष्टिका जाल पसारा।

इस सारी सृष्टिको बनानेके मसालेको एक कूर्मजीने बड़ी सावधानीसे अपने पेटमें छिपा रखा था। कूर्मजीका आकार कछुएका है और वे सृष्टिके आधार हैं। इनका आकार भी निरंजनसे दूना है। खैर, निरंजन तो सृष्टि करनेका निश्चय कर चुका था। वह कूर्मजीसे मसालेके लिए लड़ पड़ा। कूर्मजी ऐसे दुर्दान्तको सृष्टिका मसाला क्यों देने लगे ? लड़ाई हो गई। चालाक निरंजनने कूर्मजीके तीन सिर चबा डाले और फिर तो रास्ता साफ हो गया। कूर्मजीके पेटमें पड़ी हुई सामग्री दिख गई। निरंजन ने उसे चुरा लिया और इस भवजालको खड़ा करनेमें समर्थ हो गया। बेचारे कूर्मजीको सत्यपुरुषकी आज्ञा बादमें मालूम हुई और वे चुप हो रहे।

अब सृष्टिको पैदा करनेके लिए कालपुरुष (निरंजन)ने आद्याशक्ति या मायाको उत्पन्न किया और उसके संयोगसे सत्त्व-प्रधान ब्रह्मा, रजोगुण-प्रधान विष्णु और तमोगुण-प्रधान शिवकी सृष्टि की। ज्यों ही ये तीन देवता उत्पन्न हुए, वह अन्तर्धान होकर अपने लोकमें चला गया। जाती बार मायासे कहता गया कि इन पुत्रोंको मेरा पता मत बताना। सो, इन्होंने बादमें जब आद्याशक्ति या मायासे पूछा कि तू कौन है, तेरा पति कौन है, हम लोग कौन हैं और हमारे पिता कौन हैं तो मायाने जवाब दे दिया कि वही उनकी पिता है; वही माता और वही पत्नी भी ! तीनों देवता इस उत्तरसे सन्तुष्ट नहीं हुए। बताया गया है कि स्वयं कबीरदासने पहली रमैनीमें इस तत्त्वकी ओर इशारा कर दिया है।

तब बरम्हा पूछा महतारी। को तोर पुरुष कवन तैं नारी ॥

इसपर मायाने उत्तर दिया—

हम तुम तुम हम और न कोई।
तुमहि पुरुष हमहीं तोर जोई !—बीजक, प्रथम रमैनी

इधर जब निरंजन अपने लोकमें जाकर समाधिस्थ हुआ था तो उसने सूक्ष्म वेदको हृदयमें धारण कर लिया था। उसकी सूक्ष्म बातें तो भीतर ही रह गईं, पर जो स्थूल अंश था वह उसकी नाकसे साँसके साथ ही गिर गया। यही 'त्वचा-ज्ञान' वाला आधुनिक वेद है। इसमें रस नहीं, केवल छिलका ही भर है, इसीलिए कबीरपंथी लोग इसे 'त्वचा-ज्ञान' कहते हैं। यह स्थूल अंश ही आजकल वेदके नामपर चल रहा है। जब ब्राह्मण लोग भक्ति-गद्गद स्वरमें कहते हैं कि उस परम-पुरुषको नमस्कार है जिसके निःश्वास ही वेद हैं और इन वेदोंसे ही

जिसने इस जगत्का निर्माण किया है[1] तो वे असलमें इस धूर्त निरंजनकी स्तुति करते हैं। बेचारे जानते भी नहीं कि कितने धोखेमें हैं!

सूक्ष्म वेदके यों जो चार वेद-पुत्र हुए सो 'दोषी तथा पाखण्डी निरंजनके संसर्ग'से हुए और इसीलिए इनमें कलुषका रह जाना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं। निरंजन खूब जानता है कि एक बार यदि लोगोंको सूक्ष्म वेदका ज्ञान हो जाय तो कोई उसे पूछेगा भी नहीं, इसीलिए वह बड़ी होशियारीसे संसारको अपने जालमें फँसाये हुए है। किन्तु कबीरदास जब इस संसारमें भले मानुसोंके उद्धारके लिए प्रकट हुए तो उन्होंने चारों सूक्ष्म वेदोंको फिरसे पृथ्वी-वासियोंके निकट प्रकट कर दिया। इस प्रकार कबीर साहबकी—

(१) कूट-वाणी ही सूक्ष्म ऋग्वेद है,
(२) टकसार-वाणी ही सूक्ष्म यजुर्वेद है,
(३) मूकज्ञान-वाणी ही सूक्ष्म सामवेद है, और
(४) बीजक-वाणी ही सूक्ष्म अथर्ववेद है।

और आजकल जो वेदके नामपर पुस्तकें चल रही हैं वे ओ३म्से निकली हैं ओ३म्की माता कुण्डलिनी है, कुण्डलिनी महामाया है, महामाया नागिन है और इसीलिए ये स्थूल वेद जहरीली नागिनके जहरसे आपाद-मस्तक सिक्त हैं! कहते हैं, इसी महामाया नागिनको लक्ष्य करके कबीर साहबने कहा है—

अन्तरजोत सबद एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥
—बीजक, प्रथम रमैनी

इस प्रकार आद्या, ब्रह्मा, विष्णु और शिवने चार खान और चौरासी लाख योनियोंकी सृष्टि की है। आद्यने अण्डज, ब्रह्माने पिण्डज, विष्णुने ऊष्मज (= उष्मज) और शिवने स्थावर सृष्टि की। फिर इनकी शक्तियाँ बनीं, नरक बने, स्वर्ग बने और तीनों लोक इन्हींकी पूजामें व्यस्त हो रहा। गोया ये ही परम दैवत हों! क्वचित् कोई अगर निरंजनको जान गया तो वह अपनेको धन्य समझने लगा; परन्तु निरंजन भी तो अत्यन्त निचला स्तर है। यह निरंजन बराबर महात्माओंके मार्गमें विघ्न खड़ा करता रहता है, बराबर ज्ञानप्राप्तिसे उन्हें वंचित करनेकी चेष्टा कर रहा है। अबतक कई बार तो कबीर साहबसे ही उसकी मुठभेड़ हो चुकी है। यद्यपि यह मायाका स्वामी है, पर निष्कलुष तो नहीं है। वेद बिचारे करें तो क्या! उन्हें निरंजनके ऊपरके किसीकी खबर भी

१ यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्। निर्ममे तमहं वन्दे ज्ञानरूपं जनार्दनम्॥

तो हो ! लेकिन इस व्यापारका सबसे मनोरंजक अंश यह है कि जिस प्रकार निरंजनने सत्यपुरुषका नाम लोप करके अपनी ही पूजा चलानी चाही थी उसी प्रकार उसके गुरुमार पुत्रोंने अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवने निरंजनका नाम भी लोप कर देना चाहा। उन्होंने संसारमें अपनी ही पूजा फैलाई। सचमुच ही निरंजनका नाम मद्धिम पड़ गया।

हम लोग जिस कर्मलोक पृथ्वीपर निवास कर रहे हैं उसके नीचे सात पाताल या नरक हैं। सबसे नीचे जो है उसका नाम पाताल है। उसके ऊपर क्रमशः तलातल, रसातल, महातल, सुतल, वितल, अतल,—ये लोक हैं। इनके ऊपर हमारी पृथ्वी है। (१) इसके ऊपर देवताओं और सिद्धोंकी पुरी है—साधारणतः इसे स्वर्ग कहा जाता है। फिर निम्नलिखित नवलोक एकके ऊपर दूसरे क्रमसे विराजित हैं। (२) दह्य अंशका स्थान, जहाँ सालोक्य मुक्ति होती है, (३) विष्णुका वैकुण्ठ, जहाँ सामीप्य मुक्ति मिलती है, (४) निरंजनका झाँझरी-द्वीप, जहाँ सारूप्य मुक्ति मिलती है, (५) अक्षरका आरण्यद्वीप, जहाँ सायुज्य मुक्तिकी व्यवस्था है, (६) अचिन्तका अचिन्त्य-द्वीप, (७) सोऽहंका सुहंग-द्वीप, (८) इच्छा-पुरुषका इच्छा-द्वीप, (९) अंकुर-पुरुषका अंकुर-द्वीप और (१०) सहज-पुरुषका सहज-द्वीप। इन सबके बहुत ऊपर सत्यपुरुषका सत्यलोक है, जो परम धाम है, जहाँसे समय-समयपर सत्य-पुरुषकी अनुज्ञा पाकर सद्गुरु कबीर अवतीर्ण हुआ करते हैं। देवताओं और सिद्धोंके स्थानके ऊपरकी नौ पुरियोंको मुसलमानी शास्त्रके साथ सामंजस्य लगाकर क्रमशः (१) नासूत, (२) मलकूत, (३) जबरूत, (४) लाहूत, (५) हाहूत, (६) बाहूत, (७) साहूत, (८) राहूत, (९) जाहूत कहा गया है[१]।

यहाँ यह उल्लेख-योग्य है कि कुछ सूफियोंके अनुसार साधकको चार लोकोंको पार करना होता है। ये चार लोक 'आलम' नामसे प्रसिद्ध हैं। नासूत (मानव), मलकूत (अदृश्य लोक), जबरूत (उच्चतम लोक) और

---

१ जुलमत नासूत मलकूतमें फिरिस्ते नूर जल्लाल जबरूतमें जी।
लाहूतमें नूर जम्माल पहिचानिये हक मकान हाहूतमें जी॥
बका बाहूत साहूत मुर्सिद पार हैं जो रब्ब राहूतमें जी।
कहत कब्बीर अविगति आहूतमें खुद खाविन्द आहूतमें जी॥

—विश्व०, पृ० २४३

लाहूत (परम लोक) : ये चार आलम हैं। पर कुछ दूसरे सूफी पाँच मानते हैं। ये लोग इस सूचीमें 'सम लोक' या 'आलमे मिशाल' को और जोड़ देते हैं। दारा शिकोहने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक मजमुल बहरईन (दो समुद्रोंका संगम) नामक ग्रन्थमें उपर्युक्त चार आलमोंके साथ वेदान्तियोंकी चार अवस्थाओं,—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयकी समानता बताई है[1]। यह ठीक समझमें नहीं आया कि कबीर-पन्थके नौ लोक इन्हीं चार आलमोंका विस्तार है या किसी सूफी सम्प्रदायमें सचमुच ही नौ लोकोंकी कल्पना है। महाराज विश्वनाथसिंहजूदेवने 'हाहूत' को इसलाम-सम्मत पाँचवाँ स्थान बताया है, जहाँ केवल मुहम्मद साहबकी ही गति थी[2]। हम नहीं कहते कि उनका वक्तव्य किसी शास्त्रीय ग्रन्थके आधार-पर है या नहीं, पर उन्होंने 'पनाह अता' नामक किसी मुसलिम कविकी एक कविता प्रमाण-स्वरूप उद्धृत की है, जो काफी मनोरंजक है[3]। इनके परिचयमें उन्होंने इतना ही कहा है, "पीरान पीर साहबके पास पहुँचे हैं, ऐसे जे हैं सलेलके मालिक पनाह अता तिनको कवित्त।"

इस सारे भवजालको जिसने सिरपर धारण किया है वह शेषनाग है जो स्वयं शूकरपर आरूढ़ है। शूकर भी एक गौपर चढ़े हैं और गौजी भी कूर्मजीपर। यही वह कूर्मजी हैं जिनको श्री सत्यपुरुषने सृष्टि बनानेकी सामग्री दी थी और वे उसे बड़ी सावधानीसे सँभाल रहे थे! इन्हींकी तीन गर्दनें काटकर निरंजनने सृष्टिकी सामग्री प्राप्त की थी। निरंजनके साथ कबीरदासके जो झगड़े होते रहे हैं उसकी बात यहाँ नहीं उठाई जा रही है, क्योंकि उससे अनावश्यक विस्तार होगा, पर इतना पाठकको हमेशा याद रखना चाहिये कि कबीरसाहेबने सदा

---

1 MAJAMUL BAHARAIN Ed. M. Mahfuzal Huq B. A. S. Calcutta 1929. p. I1

२ विश्व, पृ० २६२

३ देह नासूत मुरै मलकूत औ जीव जबरूतकी रूह बखानै।
अरबीमें निराकार कहै जेहि लाहुतै मानिकै मंजिल ठानै।
आगे हाहूत-लाहूत है जाहूत खुद खाविन्द लाहूत मैं जानै।
सोई श्रीराम पनाह सबै जग-नाह पनाह अता यह गानै।

तजै कर्म नासूत लहि निरखे तब मलकूत।
तहाँ न मरै न बीछुरै जात न तहँ जमदूत॥

ज्ञानियों और भक्तोंको निरंजनके जालसे छुड़ानेका प्रयत्न किया है। इस कलि-कालमें ही अबतक वे लगभग एक दर्जन बार आ चुके हैं। इसी निरंजनके धोखेसे बचनेके लिए कबीरदासके मुखसे यह कहलवाया गया है—

अवधू निरंजन जाल पसारा।
स्वर्ग-पाताल-जीव-मृत मण्डल तीन लोक बिस्तारा।
ब्रह्मा-बिस्नु-सिव प्रकट कियो है ताहि दियो सिर भारा॥
ठाँव ठाँव तीरथ-व्रत थाप्यौ ठगनेको संसारा।
माया मोह कठिन विस्तारा आपु भयौ करतारा॥
सतगुरु शब्दको चीन्हत नाहीं कैसे होय उबारा।
जारि-भूँजि कोइला करि डारै फिर फिर लै अवतारा॥
अमरलोक जहाँ पुरुष बिराजै तिनका मूँदा द्वारा।
जिन साहबसे भये निरंजन सो तो पुरुष है न्यारा॥
कठिन कालतें बाँचा चाहो गहो सब्द टकसारा।
कहैं कबीर अमर करि राखौ मानो शब्द हमारा॥ शब्द०—पृ० ३४

कबीरदासने कितनी ही बार कहा है कि जो कुछ पिण्डमें है, वही ब्रह्माण्डमें है। पिण्डमें ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्डमें पिंड है। ऊपर जो ब्रह्माण्डका विचार किया गया है तदनुसार पृथ्वीके ऊपरके दस मुकामोंकी स्थिति इस प्रकार हुई—

संख्या	मुकामोंके नाम	हिन्दू-समशील नाम[1]	मुसलमानी समशील नाम
१	सत्य-लोक	गो-लोक	
२	सहज-द्वीप	(द्वितीय) सत्यलोक	आहूत

---

१ तु०—श्रीसौमित्ररुवाच—
महर्लोकः क्षितेरूर्ध्वमेककोटिप्रमाणतः। कोटिद्वयेन विख्यातो जनलोको व्यवस्थितः॥
चतुष्कोटिप्रमाणं तु तपो लोको विराजितः। उपरिष्टात्ततः सत्यमष्टकोटिप्रमाणतः॥
आयुःप्रमाणं कौमारं कोटिषोडशसम्भवम्। तदूर्ध्वोपरिसंख्यातमुमालोकं सुनिश्चितम्॥
शिवलोकः तदूर्ध्वं तु प्रकृत्या च समागतम्।…तदूर्ध्वं सर्वतत्त्वानां कार्यकारणमानिनाम्॥
निलयं परमं दिव्यं महावैष्णवसंज्ञकम्।…तदूर्ध्वं तु परं दिव्यं सत्यमन्यद् व्यवस्थितम्॥
न्यासिनां योगिनां स्थानं भगवद्भावितात्मनाम्। महाशंभुर्मोदतेऽत्र सर्वशक्तिसमन्वितः॥
तदूर्ध्वं तु स्वयं भातं गोलोकं प्रकृतेः परम्।—विश्व०, पृ०, २४० में सदाशिवसंहिताके वचन

३	अंकुर-द्वीप	विष्णु-लोक	राहूत
४	इच्छा-द्वीप	शिव-लोक	साहूत
५	सोऽहं-द्वीप	शक्ति-लोक	बाहूत
६	अचिन्त-द्वीप	कौमार-लोक	हाहूत
७	अरण्य-द्वीप	(प्रथम) सत्य-लोक	लाहूत
८	झांझरी-द्वीप	तपःलोक	जबरूत
९	वैकुण्ठ	जनलोक	मलकूत
१०	दह्यांश	भुवःलोक	नासूत
	पृथ्वी	भूलोक	आलमे फानी

पृथ्वीके नीचे सात नरक-लोक हैं। इन सबकी कल्पना पदतल-एड़ी-गिट्ट-पिंडली-जानु-जंघा और तड़ागीमें की गई है, अर्थात् मानव-देह (पिण्ड) में आधार-चक्रके नीचे सातों नरक हैं। आधारचक्र पृथ्वीका समकक्ष है। उसके ऊपर ११ अन्य चक्रोंकी कल्पना की गई है। अबतक हम योगियोंके सात चक्र ही जानते आते हैं। इन सात चक्रोंमें कई नये जोड़कर दो उद्देश्य सिद्ध किये गये हैं। एक तो पिण्ड और ब्रह्माण्डकी समशीलताकी रक्षा और दूसरा योगियोंसे कबीर-पदका अतिशय उत्कर्ष-साधन। ये चक्र इस प्रकार हैं—

१३ अक्षर-भगवान्
१२ ब्रह्मरन्ध्र-देह
११ अलख-निरंजन
१० पूर्णगिरि
९ आज्ञा चक्र
८ बलवान् चक्र
७ विशुद्ध-शक्ति चक्र
६ अनाहत चक्र
५ मनोमहाराज चक्र
४ मनःपौरुष चक्र
३ कुण्डलिनी देवता
२ स्वाधिष्ठान चक्र
१ आधार चक्र

इन समस्तसे अतीत सत्यपुरुषका स्थान है। मध्ययुगमें इन चक्रोंको बढ़ाकर दिखानेकी प्रवृत्ति दिखाई देती है। प्रायः प्रत्येक सिद्धपुरुषके सम्प्रदायमें यह प्रवृत्ति लक्ष्य की जा सकती है। इन चक्रोंको भेद करना परम सिद्धिका प्रमाण माना जाता था। फिर भी सामान्य रूपमें यह कहा जा सकता है कि स्वयं सिद्धपुरुष लोग चक्रभेदकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ समझते थे। कबीरकी ही

भाँति गुरु नानकदेवने भी कहा था कि, "जो ब्रह्मण्डे सोई पिण्डे, जो खोजे सो पावे।" जिस प्रकार ब्रह्माण्डके तीन स्तर हैं : अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्व-लोक, उसी प्रकार पिण्डके भी। इनकी जैसी सुन्दर विवेचना श्री सन्त पूर्णसिंहजीने की है वह केवल सिख सम्प्रदायके ही नहीं, कबीरदासके लोक-संस्थान और पिण्ड-ब्रह्माण्डैक्यको समझनेमें भी बड़ी सहायक है। उसके आवश्यक अंशोंको हम संग्रह कर रहे हैं।

सप्त अधोलोकोंका ब्यौरा तो वही है जो हम पहले दे चुके हैं, अर्थात् एड़ीसे लेकर तड़ागीतकके सात अंगोंमें सात नरकोंकी कल्पना की गई है। मध्यलोकमें सात लोक हैं जो मानव-देहके सात चक्रोंमें प्रतीकरूपसे स्थिर हैं—(१) चतुर्दल मूलाधार चक्रमें, भूलोक, (२) षटदल स्वाधिष्ठान चक्रमें, भुवलोक, (३) दशदल मणिपूर चक्रमें स्वर्लोक [इसीसे थोड़ा हटकर अष्टदल चक्र है जिसपर मन भरमा करता है।], (४) द्वादश दलवाले अनाहत चक्रमें महर्लोक, (५) षोडशदल विशुद्ध चक्रमें जनलोक, (६) द्विदल आज्ञाचक्रमें तपलोक और (७) आनिक दल सहस्रार चक्रमें सत्यलोक। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि यह पहला सहस्रार चक्र है। साधारण योगियोंकी यहींतक गति होती है।

इसके बाद इस पिण्डमें ब्रह्माण्डकी ही भाँति ऊर्ध्व लोक है। (१) ब्रह्माण्डी मनका स्थान—जो षटदल कमलके आकारका है और जहाँ त्रैलोक्यपति महान् देवका वासस्थान है; (२) शिव-शक्ति-समवाय-स्थान जिसे प्रथम शून्य, मध्यशून्य या महाशून्य पद कहते हैं, (३) निरालम्ब पुरी—अन्तःशून्य पद; (४) शब्द-ब्रह्मस्थान—प्रणव तथा बिन्दुपदाधारः (५) निजपद—३२ दलका श्वेतकमल या भँवर गुफा; (६) गुरुपद—निरंकार देश; (७) दूसरा सहस्रार चक्र या पूर्ण पद।

यह जो द्वितीय सहस्रार पद है वह भी अन्तिम पद नहीं है। बहुत-से योगी तो प्रथम सहस्रारको ही परमपद मान लेते हैं, पर जो गोरखनाथ जैसे सिद्ध हैं वे दूसरे सहस्रारतक पहुँच जाते हैं। पर यह भी सब कुछ नहीं है! नानकदेव इसके भी ऊपर कई स्थानोंको पार कर महामहिमावती विहंगम पुरीमें जा सके थे, जो देश-कालके परिच्छेदसे शून्य पारावाररहित अकथ (अवाच) पद है। विशेष विस्तारके लिए प्राण० प्रस्तावना, पृ० ७५–८४ देखना चाहिये।

अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। प्रासंगिक यह है कि कबीरदासने पृथ्वीके

ऊपर दस मुकाम माने हैं, वे दस मुकाम जिस प्रकार ब्रह्माण्डमें हैं उसी प्रकार पिण्डमें भी ! स्वयं कबीरसाहबने इनका सक्षात्कार किया था, इसका प्रमाण उनकी वाणियोंमें है—

चला जब लोकको शोक सब छाँड़िके हंसको रूप सद्गुरु बनाई ।
भृङ्ग ज्यों कीटको पलटि भृंगी किया आप सम रंग दे-ले उड़ाई ॥
छोड़ मासूत-मतकूलको पहुँचिया विष्णुकी ठाकुरी देख जाई ।
इन्द्र कुबेर जहाँ रंभा निरत है देव तेतीस कोटि रहाई ॥ १ ॥
छोड़ि वैकुण्ठको हंस आगे चला शून्यमें ज्योति जहाँ जगमगाई ।
ज्योति-परकाशमें निरख निःतत्त्वको आप निर्भय हो भय मिटाई ॥
अखिल-निर्गुन जेहि वेद अस्तुति करै तीनहूँ देवको है पिताई ।
भगवान तिनके परे सेत मूरति धरे भागको आन तिनको रहाई ॥ २ ॥
चार मुक्कामपर खण्ड सोरह कहैं अण्डको घोर ह्यांते रहाई ।
अण्डके परे स्थान अचिन्तको निरखिया जब उहाँ जाई ।
सहस औ द्वादशै रूह संगमें करत कल्लोल अनहद बजाई ॥
तासुके बदनकी कौन महिमा कहौं भासती देह अति नूर छाई ॥ ३ ॥
महल कंचन-बने मनिक तामें जड़े बैठ तहँ कलस आखंड छाजै ।
अचिन्तके परे स्थान सोहंगका हंस छत्तीस तहवाँ विराजै ।
नूरका महल औ, नूरका भूम्य है तहाँ आनंदसों द्वंद भाजै ।
करत कल्लोल बहु भाँतिके संग यक हंस सोहंगके जो समाजै ॥ ४ ॥
हंस जब जात षट्चक्रको वेधिकै सात मुक्काममें नजर फेरा ।
सोहंगके परे सुरति इच्छा कही सहस बामन जहँ हंस हेरा ।
रूपकी राशिते रूप उनको बना नहीं उपमा इन्द्रजी निवेरा ।
सुरतिसे भेंटिके शब्दको टेकि चढ़ि देखि मुक्काम अंकूर केरा ॥ ५ ॥

---

१ खेल ब्रह्माण्डका पिंडमें देखिया जगतकी भर्मना दूरि भागी ।
बाहरा-भीतरा एक आकासवत सुषुमना डोरि तहँ उलटि लागी ॥
पवनको उलटि करि सुन्नमें घर किया धरियामें अधर भरपूर देखा ।
कहै कब्बीर गुरु पूरकी मेहरसों तिरकुटीमद्ध दीदार पेखा ॥
—शब्दा०, पृ० १०५

शून्यके बीचमें विमल बैठक जहाँ सहज अस्थान है गैबकेरा ।
नवो मुकाम यह हंस जब पहुँचिया पलक विलम्ब ह्वां कियो डेरा ।
तहाँसे डोरि क्रम तार ज्यों लागिया ताहि चढ़ि हंस गो दै दरेरा ।
भये आनन्दसे फन्द सब छोड़िया पहुँचिया जहाँ सतलोक मेरा ॥६॥
हंसनी हंस सब गाय बज्जायके साजिके कलश वहि लैन आये ।
युगन युग बीछुरे मिले तुम आइकै प्रेम करि अंगसों अंग लाये ।
पुरुषने दर्शन जब दीन्हिया हंसकौ तपनि बहु जनमकी तब नसाये ।
पलटिके रूप जब एकके कीन्हिया मनहुँ तब भानु षोड़श उगाये ॥७॥
पुहुपके दीप पीयूष भोजन करै शब्दकी देह जब हंस पाई ।
पुहुपके सेहरा हंस और हंसिनी सच्चिदानन्द सिर छत्र छाई ।
दिपैं बहु दामिनी दमक बहु भाँतिकी जहाँ घन शब्दको घुमड़ लाई ।
लगे जहाँ वरषने गरज घन घेरिके उठा तहँ शब्द धुनि अति सोहाई ॥८॥
सुनै सोइ हंस तहं यूथके यूथ ह्वै एक ही नूर इक रंग रागै ।
करत बीहार मनभामिनी मुक्तिमें कर्म और भर्म सब दूरि भागै ।
रंक और भूप कोई परखि आवै नहीं करत कल्लोल बहु भाँति पागै ।
काम औ क्रोध मद लोभ अभिमान एक छाँड़ि पाखण्ड सत शब्द लागै ॥९॥
पुरुषके वदनकी कौन महिमा कहाँ जगतमें ऊपमा कछु न पाई ।
चन्द्र औ सूरगण ज्योति लागै नहीं एक ही नक्खय परकाश भाई ।
पान परवान जिन वंशका पाइया पहुँचिया पुरुषके लोक जाई ।
कहै कब्बीर यहि भाँतिसों पाइहौ सत्यकी राह सो प्रगट गाई ॥१०॥

विश्व०, पृ० २३९–४०; क० मन०, पृ० ५७६

ध्यानसे देखा जाय तो नाथपन्थी योगियोंके सूक्ष्म वेद (देखिए ऊपर पृ० ३४), द्वैताद्वैतविलक्षण (दे० ऊपर पृ० ३२), निरंजन पद (देखिए ऊपर पृ० ५२—५३), नाथपद (दे० ऊपर चौथा अध्याय) आदिके भीतर ही ऐसी उद्भट कल्पनाके बीज वर्तमान थे। यह सारा बखेड़ा असलमें एक बड़ी पुरानी परम्पराका विकास मालूम पड़ता है। कबीरदासके नामपर चलनेवाले बहुत-से पद इस कल्पनाके पोषक बताये जा सकते हैं। हमने पहले ही एक वाणीमें लक्ष्य किया है (ऊपर पृ० ५९) कि निरंजन एक महाठग है और उसने सारे जगत्‌को धोखा देनेके लिए यह जाल पसार रखा है। स्वयं बीजकमें इस आशयके पद

ढूँढ़े जा सकते हैं, जिनमें बताया गया है कि अलख निरंजनके बाँधनेसे सारा जगत बँधा हुआ है[१]। उसीने नाना प्रकारके कर्मचक्र बनाये हैं जिनमें संसार चक्कर मार रहा है, उसीने वेदों और शास्त्रोंका, तीर्थों और व्रतोंका, दान और पुण्यका चक्का चलाया है। बीजककी इक्कीसवीं रमैनीके अन्तमें एक साखी उद्धृत की गई है, "मैं ही सिरजाता हूँ, मैं ही मारता हूँ, मैं ही जलाता हूँ, (या जीर्ण करता हूँ), मैं ही खाता हूँ, मैं ही जल और स्थलमें रमा हुआ हूँ,—मेरा ही नाम निरंजन है[२]।" इन सबसे यह साबित होता है कि निरंजन कोई सचमुच ही वैसा ही पदार्थ है जैसा हम देख आये हैं। शास्त्रीय विचारके टीकाकार श्रीविचारदासने इस जगह निरंजनका अर्थ 'यम' किया है। परन्तु एक बार यदि हम चित्तसे निरंजनकी ऊपर बताई कल्पना हटा दें तो कमसे कम बीजकके इन पदोंसे निरंजनका अर्थ सर्वशक्तिमान निर्दोष ब्रह्म किया जा सकता है। उसे शैतान समझनेकी बिलकुल जरूरत नहीं।

फिर बीजकके ११४वें शब्दके अनुसार भी आदिपुरुष-निरंजन-त्रिदेव आदिकी परम्पराका समर्थन होता है और यह भी समर्थित होता है कि कबीरदास

---

१ अलख निरंजन लखइ न कोई। जेहि बंधे बंधा सब लोई।
जिहि झूठे बंधा सो अयाना। झूठा वचन सांचि करि माना।
बंधा बंधा कीन बेवहारा। करम बिबरजित बसै निनारा।
षट आश्रम षट दरसन कीन्हा। षटरस वस्तु खोट सब चीन्हा।
चारि बिरिछ छव साख बखानै। विद्या अगिनित गनै न जानै।
औरो आगम करै बिचारा। ते नहि सूझे बार न पारा।
जप-तीरथ-व्रत कीजै पूजा। दान-पुन्न कीजै बहु दूजा।
साखी : मंदिल तो है नेहका मति कोइ पैठे धाय।
जो कोइ पैठे धाइसे बिन सिर सेती जाय॥
—रमैनी २२

२ मैं सिरजौं मैं मारहूँ, मैं जारौं मैं खाँव।
जल-थलमें मैं रमि रह्यौ, मोर निरंजन नाँव॥
—रमैनी २१ की साखी

सचमुच ही इस विपत्ति-सागरसे मनुष्योंका उद्धार करनेका दावा करते थे[१]। परन्तु प्राचीन पोथियोंमें पाये गये पदोंको पढ़नेसे ऐसा लगता है कि निरंजनवाली पौराणिक कल्पना चाहे जितनी प्राचीन परम्पराका विकसित रूप क्यों न हो, कबीरदास उसे ज्योंका त्यों नहीं मानते थे। वे ब्रह्म या निरंजनको शैतान तो मानते ही नहीं थे, उल्टे उसे परम काम्य समझते थे। वस्तुतः जैसा कि इस अध्यायके आरंभमें ही बताया जा चुका है, निरंजन या धर्मरायको परम दैवत समझनेवाला सम्प्रदाय बादमें जिस समय कबीर-पंथमें अन्तर्भुक्त हुआ था उसी समय निरंजनकी महिमा घटानेका प्रयत्न किया गया होगा। यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि कबीरदास द्वैताद्वैत-विलक्षणवादमें योगियोंसे प्रभावित थे (ऊपर पृ० ३२-३३), फिर यह भी निश्चित है कि वे उस परम सहजावस्थाको महान् पद समझते थे जहाँ अल्लाह या रामकी गम नहीं होती[२]। कई पदोंसे स्पष्ट है कि कालसे उनका मतलब निरंजनसे नहीं है और ब्रह्म न तो उनकी दृष्टिमें ठग ही है और न ब्रह्मज्ञान हेय ही[३]।

---

१ 'सार' शब्दसे बाँचिहो मानहु इतबारा हो।
आदि पुरुष इक वृच्छ है निरजन डारा हो।
तिरि देवा साखा भये पत्ता संसारा हो।
ब्रह्मा वेद सही कियो सिव जोग पसारा हो।
विस्नु मया उतपति किया उरले व्यवहारा हो॥
तीन लोक दसहूँ दिसा जम रोकिन द्वारा हो।
कीर भये सब जीयरा लिए विषके चारा हो॥
जोति-सरूपी हाकिमा जिन अमल पसारा हो।
करमकी बंसी लायके पकर्‌या जग सारा हो॥
अमल मिटावौं तासुकौ पठवौं भव पारा हो।
कहहिं कबीर निरभय करौं परखो टकसारा हो॥—बीजक, शब्द ११४

२ सुर नर मुनि अरु औलिया, ए सब वेलैं तीर।
अलह रामकी गम नहीं, तहँ घर किया कबीर॥—स० क० सा०, पृ० ६४

३ अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान।
सहज समाधैं सुखमैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम।
* * *
आपैमे तब आपा निरख्या अपनपैं आपा सूझ्या।
आपै कहत सुनत पुनि अपना अपनपैं आपा बूझ्या।
अपनै परचै लागी तारी अपनपै आपसमांनां।
कहै कबीर जे आप बिचारै मिटि गया आवन-जांनां॥—क० ग्रं०, पद ६

कबीर-ग्रन्थावलीमें एक ऐसा पद है जिससे पता चलता है कि भिन्न-भिन्न चक्रोंमें देवताओंके निवासका जो विवरण कबीरदासने दिया है वह अपेक्षाकृत सहज है और सर्वांशमें ऊपर बताई हुई व्यवस्थाके अनुकूल नहीं है। षट्दल-कमलमें कालका अभाव बताया गया है और शायद 'मनके मोहन बीठुला' या विट्ठल भगवान्का वह निवासस्थान है। अष्टदल कमलमें श्रीरंग केलि करते हैं, पर द्वादशदल-विहारी भगवान्के रूपका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। यह जरूर बताया गया है कि त्रिवेणी-स्नानके (देखिये ऊपर पृ० ४५) बाद सनकादिकका साथ हो जाता है,—अर्थात् शायद वैकुण्ठविहारी विष्णुका स्थान नजदीक आ जाता है। फिर गगन-गुफामें अनन्ततारका-दर्शन बताया गया है और षोडशदल कमलमें बनवारीके मिल जानेकी बात है[१]। ऐसा जान पड़ता है कि कबीरदासका

---

१ मनके मोहन बीठुला यहु मन लागौ तोहि रे।
चरनकँवल मन मांनियाँ और न भावै मोहि रे।
षट्दल-कँवल-निवासियाँ चहुँको फेरि मिलाइ रे।
दहुँके बीच समाधियाँ तहँ काल न व्यापै आइ रे।
अष्टकँवल-दल भीतरां तहाँ श्रीरंग केलि कराइ रे।
सद्गुरु मिलै तो पाइये नहीं तौ जन्म अकारथ जाइ रे।
कदली-कुसुमदल भीतरां तहाँ दस अंगुलका बीच रे।
तहाँ दुआदस खोजि ले जनम होत नहिं मींच रे।
बंक-नालिके अन्तरै पछिम दिसाकी बाट रे।
नीझर झरै रस पीजिये तहाँ भँवर-गुफाके बाट रे।
त्रिवेणी मनाइ न्हवाइये सुरति मिलै जो हाथि रे।
जहाँ न फिर मघ जोइये सनकादिक मिलिहै साथि रे।
गगन गरजि मघ जोइये तहाँ दीसै तार अनन्त रे।
बिजुरी चमकि घन बरषिहै तहाँ भीजत हैं सब सन्त रे।
षोडश-कँवल जब चेतिया तब मिलि गये श्रीबनवारि रे।
जरा-मरण-भ्रम भाजिया पुनरपि जनम निवारि रे
गुरु गमितैं पाईये झंखि मरै जनि कोइ रे।
तहीं कबीरा रमि रह्या सहज समाधी सोइ रे॥—क० ग्रं०, पद ४

मतलब इस पदमें उस सहज समाधिसे है जिसमें पद-पदपर भगवान्‌का दर्शन होता है और इस पदमें आये हुए बिट्ठल, श्रीरंग, बनवारी आदि पद पारिभाषिक नहीं बल्कि सीधे साधे ढंगसे भगवान्‌के वाचक हैं। सच पूछा जाय तो कबीरदास योगमार्गकी क्लिष्ट साधनाओंको भी बाह्याचार ही समझते रहे। उनके जैसा उन्मुक्त विचारका मनुष्य किसी प्रकारकी रूढ़ियोंका कायल नहीं हो सकता था। बारंबार वे जिस सहज-समाधिकी घोषणा कर गये हैं उसमें नाना प्रकारके प्राणायाम, आसन, समाधि और मुद्राएँ परम-तत्त्वकी उपलब्धिके साधन हैं, साध्य नहीं। सहज समाधिसे ही अगर वह उद्देश्य सिद्ध हो जाता है तो कायाको क्लेश देनेसे क्या लाभ है? आँख मूँदे बिना, मुद्रा धारे बिना, आसन लगाये बिना खुली आँखोंसे परमाराध्यका मनोहर रूप देख सकना ही सहज समाधि है। ऐसे साधकका हिलना-डुलना सब कुछ परिक्रमा है, सोना-बैठना ही दण्डवत् है, बोलना ही नाम-जप है, खाना-पीना ही पूजा है। एक बार इस सहज समाधिमें जो साधक रम गया वह उस अपूर्व अनहद नादको निरन्तर सुनता रहेगा, जिसके सुननेमात्रसे रोम थकित हो जाते हैं, समस्त इन्द्रिय श्लथबन्ध हो जाते हैं, मन आनन्दसे परिपूर्ण हो जाता है[1]। उसीमें समस्त कुशलोंका कुशल है, जिसमें सहज समाधि प्राप्त हो जाती है। यह उपाधिमय शरीर सहज-समाधिमय बन जाता है, दुःखके दुर्गमें सुखका विश्रामागार बन

---

[1] साधो सहज समाधि भली।
गुरुप्रताप जा दिनतैं उपजी दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलौं सोइ परिकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करों दण्डवत पूजों और न देवा।
कहौं सो नाम सुनों सो सुमिरन खाँव-पियों सो पूजा।
गिरह-उजाड़ एकसम लेखों भाव न राखों दूजा।
आँख न मूँदों कान न रूधों तनिक कष्ट नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानों हँसि हँसि सुंदर रूप निहारों।
सबद निरंतरसे मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी।
कह कबीरा यह उनमुनि रहनी सो परगट करि भाई।
दुख-सुखसे कोई परे परम पद तेहि पद रहा समाई।—शब्दा०

जाता है, शत्रु मित्र हो जाते हैं, शाक्त वैष्णव बन जाते हैं। एक बार यदि साधक आत्माराम बन सके,—आप ही आपमें रम सके, तो फिर कोई विघ्न सता नहीं सकता, मन सनातन हो जाता है, जन्म-मरणका ज्ञान हस्तामलककी भाँति सहज हो जाता है। वैसी हालतमें न तो साधकसे कोई उद्विग्न होता है और न किसी औरसे साधक ही उद्वेग पाता है[1]।

अनुमानतः कबीरदासके समयका एक अपेक्षाकृत सहज मतवाद बादमें चलकर जटिल हो गया है। स्पष्ट है[2], कबीरदास निर्गुण या निरंजन ब्रह्मको शैतान-जैसा नहीं समझते थे। परन्तु यह बात भी सन्देहके परे है कि गोरख-नाथके योगमार्गमें वेदान्त, वेद, अद्वैत और निर्गुण ब्रह्मको द्वैताद्वैत-विलक्षण और सगुण-निर्गुणसे अतीत परम तत्त्वकी अपेक्षा छोटा समझा गया है और कबीरदासमें यह भाव ज्योंका त्यों रह जाता है। वस्तुतः कबीरके मतसे भगवान्‌के निर्गुण होनेका अर्थ सगुणनिर्गुणातीत होना होता है और यह दोनों बातें अर्थात् भगवान्‌को निर्गुण, निरंजन और गुणातीत कहना असगत नहीं है। यह जानी हुई बात है कि भगवान् अलौकिक गुणोंके आश्रय हैं और इसीलिए लोकमें जो बात परस्परविरोधी दिखती है वह भगवान्‌में संगत हुआ करती है।

---

१ अब हम सकल कुसल करि मांनां।
स्वांति भई तब गोव्यंद जांना॥
तनमें होती कोटि उपाधि। उलटि भई सुख सहज समाधि॥
जमथै उलटि भया है रांम। दुख बिसरा सुख किया बिश्राम।
बैरी उलटि भये हैं मीता। साषत उलटि सजन भये चीता।
आपा जानि उलटि ले आप। तो नहीं ब्यापै तिन्यूँ ताप।
अब मन उलटि सनातन हूवा। तब हम जांनां जीवत मूवा।
कहै कबीर सुख सहज समाऊँ। आप न डरौं न और डराऊँ॥

२ आगे भी निरंजन शब्दका थोड़ा विचार किया गया है। देखिये, क० ग्रं०, पद २१९, २३७ और २३८

पाँचवें अध्यायका परिशिष्ट

'आदि मंगल' नामसे निम्नलिखित पद्य कबीरदासके नामपर चलते हैं। ये पद्य विश्वनाथसिंहजूकी टीकाके आरम्भमें दिये हुए हैं तथा 'कबीर मन्सूर' और 'सत्य कबीरकी साखी' में भी संगृहीत हैं। इस 'आदि मंगल' से निरंजनवाली कथाका समर्थन किया जाता है। यहाँ विश्व० का पाठ दिया जा रहा है। यह ध्यान देनेकी बात है कि इस आदि मंगलकी शैली प्रश्नोत्तरकी है और स्पष्ट ही जान पड़ता है कि इसे कबीरदास स्वयं नहीं लिख रहे हैं :

अथ आदि मंगल

दोहा—प्रथमै समरथ आप रहे, दूजा रहा न कोइ।
दूजा केहि विधि ऊपजा, पूछत हैं गुरु सोइ ॥
तब सतगुरु मुख बोलिया, सुक्रत सुनो सुजान।
आदि अन्तकी पारचै, तोसौं कहौं बखान ॥
प्रथम सूरति समरथ कियो, घटमें सहज उचार।
ताते जामन दीनिया, सात करी विस्तार ॥
दूजे घट इच्छा भई, चित मन सातों कीन्ह।
सात रूप निरमाइया, अविगत काहे न चीन्ह ॥
तब समरथके श्रवणते, मूल सुरति भइ सार।
शब्द कला ताते भई, पाँच ब्रह्म अनुहार ॥
पाँचौ पाँचै अण्ड धरि, एक एकमा कीन्ह।
दुइ इच्छा तहँ गुप्त है, सो सुक्रत चित चीन्ह ॥
योगमया यकु कारणे, ऊजे अक्षर कीन्ह।
या अविगति समरथ करी, ताहि गुप्त करि दीन्ह ॥
श्वासा सोहं ऊपजे, कीन अमी बंधान।
आठ अंस निरमाइया, चीन्हौ संत सुजान ॥
तेज अंड अचिन्त्यका, दीन्हों सफल पसार।
अंड सिखापर बैठिके, अधर दीप निरवार ॥
ते अचिन्तके प्रेमतें, उपजी अक्षर सार।
चार अंस निर्माइया, चारि वेद विस्तार।

तब अक्षरका दीनिया, नींद-मोह-अलसान ।
वे समरथ अविगति करी, मरम कोइ नहिं जान ॥
जब अक्षरके नींद गइ, दबी सुरति निरबान ।
श्याम वरण इक अंड है, सो जलमें उतरान ॥
अक्षर घटमें ऊपजे, व्याकुल संशयशूल ।
किन अंडा निरमाइया, कहा अंडका मूल ॥
तेहि अंडके मुक्खपर, लगी शब्दकी छाप ।
अक्षर दृष्टिसे फूटिया, दसद्वारै कढ़ि बाप ॥
तेहिते ज्योति निरंजनौ, प्रकटे रूप-निधान ।
काल अपरबल बीरमा, तीनि लोक परधान ॥
तातें तीनो देव भे, ब्रह्मा-विस्नु महेश ।
चारि खानि तिन सिरजिया, मायाके आदेश ॥
चारि वेद षट शास्त्रऊ, और दस-अष्ट पुरान ।
आसा दै जग बाँधिया, तीनौं लोक भुलान ॥
लख चौरासी धारमाँ, तहाँ जीव दिय वास ।
चौदह यम रखवारिया, चारि वेद विश्वास ॥
आपु आपु सुख सब रमैं, एक अंडके माहिं ।
उतपति परलय दुःख-सुख, फिरि आवहिं फिरि जाहिं ॥
तोहि पाछे हम आइया, सत्य शब्दके हेत ।
आदि-अन्तकी उतपती, सो तुमसों कहि देत ॥
सात सुरति सब मूल है, प्रलयहु इनही माँहिं ।
इनही माँसे ऊपजे, इनही माँह समाहिं ॥
सोई ख्याल समरत्थकर, रहे सो अछप छपाइ ।
सोई संधि लै आइया, सोवत जगहिं जगाइ ॥
सात सुरतिके बाहिरे, सोरह संखके पार ।
तहँ समरथको बैठका, हंसनकेर अधार ॥
घर घर हम सबसों कही, शब्द न सुनैं हमार ।
ते भवसागर डूबहीं, लख चौरासी धार ॥
मंगल-उतपति आदिका, सुनियो संत सुजान ।
कह कबीर गुरु जाग्रत, समरथका फुरमान ॥

---

६. कुछ अन्य शब्दोंके भाग्य-विपर्यय

'निरंजन' शब्दके इस भाग्य-विपर्ययको देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। भारतवर्षकी जलवायुमें ही कुछ ऐसा गुण है कि यहाँके साधक और पण्डित समस्त प्रचलित पौराणिक परम्पराको स्वीकार करते हैं, अपने विशेष मतकी पुष्टिके लिए उससे सगति बैठाते हैं और अपने उपास्य देवको सबके सिरपर बैठा देते हैं। विष्णुको भजनेवाले शिवको विष्णुका दास बनाते हैं और शिवको भजनेवाले विष्णुको शिवका भक्त और फिर शक्तिके उपासक शिवकी छातीपर कालीका कराल ताण्डव देखकर भाव-विह्वल हो उठते हैं! यह चिरपरिचित घटना है। निरंजन बेचारेको जरा कड़ा दण्ड मिला है। वह ईश्वरसे शैतान हो गया है,—अवश्य ही कबीरदासके हाथों नहीं बल्कि उनके चेलोंकी कृपासे!—परन्तु इस प्रकारकी मनोरंजक परिणतितक कई अन्य शब्दोंको भी जाना पड़ा है। दुर्गतोंकी जमातमें निरजन अकेला नही है।

सबसे अधिक मनोरंजक है शून्य और सहज, नाद और बिंदु तथा खसम और घरनी। शून्य और सहज तो भारतीय साहित्यके अत्यधिक मनोरंजक शब्दोंमेंसे हैं। बौद्ध महायान सम्प्रदायके दार्शनिकोंकी दो शाखायें हैं। एक मानती है कि संसारमें सब कुछ शून्य है, किसीकी भी कोई सत्ता नहीं और दूसरी शाखावाले मानते हैं कि जगत्के सभी पदार्थ बाहरी तौरपर असत् होनेपर भी चित्के निकट सत् हैं। असत् अर्थात् सत्ता-रहित या 'नॉन एक्जिस्टेंट' और सत् अर्थात् सत्तवान् या 'एक्जिस्टेंट'। इन दोनों शाखाओंमेंसे पहलीको शून्यवाद कहते हैं और दूसरीको विज्ञानवाद। नागार्जुनने शून्यकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते और दोनों (= शून्याशून्य) भी नहीं कह सकते। फिर यह भी नहीं कह सकते कि यह शून्य भी नहीं है और अशून्य भी नहीं है। इसी भावकी प्राप्तिके लिए 'शून्य' का व्यवहार होता है[१]। इस प्रकार यह सिद्धान्त बहुत कुछ अनिर्वचनीयतावादका रूप ग्रहण कर लेता है। हमने ऊपर देखा है

---

१ शून्यमिति न वक्तव्यं अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं नैव प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

(पृ० ४४) कि नाथपंथी लोग अपने सबके ऊपरी सहस्रार चक्रको 'शून्य चक्र' कहते हैं। उनके मतसे जब जीवात्मा नाना प्रकारकी यौगिक क्रियाओं द्वारा इस चक्रमें पहुँचता है तो वह समस्त द्वंद्वोंसे ऊपर उठता है और 'केवल' रूपमें विराजता है। यही शून्यावस्था है जिसमें आत्माको और किसी प्रकारकी अनुभूति नहीं होती, न सुखकी, न दुःखकी; न रागकी, न द्वेषकी; न हर्षकी, न अमर्षकी : इन समस्त द्वंद्वोंसे रहित केवलावस्थाको शून्यावस्था कहना अनुचित नहीं है। पर स्पष्ट ही यह अर्थ बौद्ध अर्थसे कुछ दूर हट गया है। मजेदार बात यह है कि योगी लोग इस केवल 'शून्यावस्था' को 'शून्या-शून्य-अवस्था' भी कहते हैं और इस प्रकार शब्दोंमें नागार्जुनके बताये हुए परम लक्ष्यको ज्योंका त्यों स्वीकार करते हुए भी अर्थमें एकदम भिन्न हो गये हैं।

यह जो केवलावस्था है वह और भी पुराने कालसे सम्बद्ध है। सहजयानी सिद्ध लोग इसी केवलावस्थाको बार-बार शून्य पदसे पुकारते हैं (चर्या० १३–१; १७–२; २८–५; ३१–१ इत्यादि)। इन सहजयानी सिद्धोंने प्रायः 'शून्य' और 'सहज' शब्दका व्यवहार एक साथ किया है। यह परम्परा, अर्थात् 'शून्य' और 'सहज' का साथ व्यवहार करना, नाथपंथी योगियोंमें ज्योंकी त्यों चली आई है और कबीरदास आदि सन्तोंने भी इस परम्पराको लुप्त होने नहीं दिया है। कबीरदास प्रायः 'सहज शून्य' का एक ही साथ प्रयोग करते हैं और कितनी ही जगह उन्होंने एक ही अर्थमें भी प्रयोग किया है। हम पहले ही देख आये हैं कि सहजावस्था जो नाथपंथियोंकी चरम साधना है इस शून्यावस्थासे भिन्न नहीं है। यही बात सहजयानी सिद्धोंके विषयमें भी कही जा सकती है। इस मतमें चार प्रकारके आनन्द माने गये हैं—प्रथमानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द। परन्तु योगियोंके 'सहजानन्द'से सहजयानियोंके 'सहजानन्द' का तात्त्विक भेद है। योगीको जहाँ इस अवस्थामें आत्मोपलब्धि होती है, वह आत्माराम हो जाता है अर्थात् अपनेमें आपही रमने लगता है, वहाँ सहजयानीको इस अवस्थामें इन्द्रिय-बोधके लोप हो जानेका तो अनुभव होता ही है, अपने आपको जाननेकी स्थिति भी लुप्त हो जाती है। वहाँ वह केवल एक ऐसी अवस्थामें पहुँच जाता है, जिसे किसी शब्दसे कहकर नहीं समझाया जा सकता, जो अनुभवैकगम्य है। सरहपाद यही बात बतानेके लिए कह गये हैं कि—

इन्दिअ जत्थ विलअ गउ, णट्ठिउ अप्प सहावा।
सो हले सहज न तनु फुड़, पुच्छहि गुरु पावा॥

कबीरदासके आविर्भावके अव्यवहित पूर्वकालमें एक ऐसी भी अवस्था बीती है जब सहजयानी सिद्ध लोग शून्यको धनात्मक बतानेके लिए एक अन्य शब्दका व्यवहार करने लगे थे। यह शब्द है 'सुखराज' या 'महासुख'। इतना वे भी मानते थे कि सर्वज्ञ भगवान् बुद्धदेवने इस शब्दका कभी प्रयोग नहीं किया और भावकी प्रज्ञप्तिके लिए भी कुछ नहीं कहा। वस्तुतः 'सुखराज' अर्थात् धनात्मक 'सुख' की कल्पना बौद्ध धर्ममें बहुत परवर्ती घटना है। परन्तु साथ ही इस मतके माननेवाले बुद्धदेवके मौनका अपने पक्षकी पुष्टिमें ही उपयोग करते थे। उनका कहना था कि यद्यपि भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ थे तथापि वे इस महासुख-राजके विषयमें जो मौन रह गये वह इसलिए कि यह वाणीसे परे था, 'जय हो इस कारणरहित सुखराजकी, जो जगत्के नाशवान् चंचल पदार्थोंमें एकमात्र स्थिर वस्तु है और सर्वज्ञको भी इसकी व्याख्या करते समय वचन-दरिद्र हो जाना पड़ा था।—'

जयति सुखराज एष कारणरहितः सदोदितो जगतां।
यस्य च निगदन-समये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥

सो यह सुखराज ही सार है, यही शून्यावस्था है, क्योंकि इसका न आदि है, न अन्त है, न मध्य है। न इसमें अपना ज्ञान रहता है, न परायेका। न यह जन्म है, न मोक्ष, न भव, न निर्वाण। इसी अपूर्व महासुखराजको सरहपादने इस प्रकार कहा है—

आइ ण अन्त ण मज्झ णउ णउ भव णउ णिव्वाण।
एहु सो परम महासुह णउ पर णउ अप्पाण॥
—ज० डि० ले०, पृ० १३

किस प्रकार यह सहजमत बादमें चलकर सहजिया वैष्णव सम्प्रदायमें बदल गया, यह साधनाके इतिहासमें बड़ी मनोरंजक कहानी है, पर हम उधर नहीं जा सकते, क्यों कि वह कबीरदासके बादकी घटना है।

कबीरदासने 'शून्य' और 'सहज'से जिस प्रकारकी समाधिकी बात कही है वह योगियोंकी सहजावस्थासे भिन्न है। वे उस सन्तको अपना सारा जप-तप दलालीमें भेंट कर देनेको तैयार थे जो उन्हें सहज सुखके योग्य बना दे, जो उन्हें एक बूँद भी राम-रस चखा दे। यह राम ही उनकी सहजा-

वस्थाका सुख है[1]। इस 'राम-रस' का आस्वादन उन्होंने सहज-शून्यमें किया था। इसी 'राम-रस' से शिव सनकादिक मत्त हो गये थे। इड़ा और पिंगलाकी भट्ठी बनाई, उसमें ब्रह्म-अग्नि जला दी, सूर्य और चन्द्रसे दसों दरवाजे बन्द कर दिये और उल्टी गंगा बहाकर पानीकी व्यवस्था की, तब जाकर पाँचों प्राणोंको साथ लेकर 'राम-रस' चुआया गया और कबीरदासने छक कर पान किया। सद्गुरु न मिले होते तो वह विचित्र रस सम्भव न होता[2]। खैर, कबीरदास भाग्यशाली थे, उन्हें राम-रसका चस्का लग गया और वे दिन-रात इस महारसमें बुद्द बने रहे। इस प्रकार कबीरदास हद्द छोड़कर बेहद्दमें पहुँच सके थे और वहाँ 'शून्य' सरोवरमें आप्राण मज्जन करके ऐसे महलमे विश्राम कर सके थे जहाँ मुनिजन भी नहीं पहुँच पाते[3]। सहजावस्था भी कबीरदासके मतसे वह है जहाँ भक्त सहज ही भगवान्को पा सके। पुत्र कलत्र और वित्तका त्याग करना कृच्छ्रता है, कोई एक ऐसा योग है जिसमे ये चीजें स्वयं छूट जाती हैं।

---

१ है कोउ सन्त सुख उपजै जाकों जप-तप दउँ दलाली।
एक बूँद भरि देइ राम-रस, ज्यूँ भरि देइ कलाली। इत्यादि।

—क० ग्रं०, पद १५५

२ बोलो भाई रामकी दुहाई।
इह रस सिव-सनकादिक माते पीवत अजहूँ न अघाई।
इला-प्यंगुला भाटी कीन्हीं, ब्रह्म अगनि परजारी।
ससिहर सूर द्वार दस मूँदे लागी जोग जुग तारी।
मन मतिवाला पीवै राम-रस दूजा कछु ना सुहाई।
उलटी गंगा नीर बहि आया अंमृत धार चुआई।
पंच जनें सो संग करि लीन्हें चलत खुमारी लागी।
प्रेम-पियालै पीवन लागे सोवत नागिनि जागी।
सहज सुंनिमै जिन रस चाख्या सतगुरुथै सुधि पाई।
दास कबीरा इहि रस माता कबहूँ उछकि न जाई॥

—क० ग्रं०, पद ७४

३ हद छांड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥

—क० ग्रं०, ५-११ (पृ० १३)

कबीरदासने इसी अनासक्ति योगको अपनाया था और उन्हें अपने पुत्र और कलत्रकी ममता और अर्थ-कामकी चिन्ता सहज ही चली गई थी,—वे 'एकमेक' होकर रामसे सहज ही मिल सके थे—

सहजैं सहजैं सब गए, सुत बित कामिणि-कांम ।
एकमेक है मिलि रह्यौ, दास कबीरा रांम ॥
सहज सहज सब कोई कहै, सहज न चीन्हैं कोइ ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलैं, सहज कहीजै सोइ ॥

—क० ग्रं० २१, ३–४ (पृ० ४२)

किन्तु हमने ऊपर देखा है कि कबीरपंथी लोगोंने इस 'सहज' शब्दका भी लोक विशेषके अर्थमें ही प्रयोग किया है। कबीरदासने यद्यपि यहाँ सहज ही हरिको पा लिया था, पर कबीरके शिष्योंको यह पसन्द नहीं था कि उन्हें सहज ही छोड़ दिया जाय। सो सहज शून्यकी नैरात्म्य, कैवल्य, महासुख, राम-रस-निर्झरसे होती हुई सहज लोकतक पहुँचनेकी यात्रा बड़ी ही मनोरंजक है। फिर भी इतना तो सन्तोष किया ही जा सकता है कि उस परिणतिके पश्चात् भी सहजलोकमें वास करनेवाला सहज पुरुष निरंजन जैसा ठग और धोखेबाज नहीं बताया गया है और वह सत्यलोक-रूप परमपदसे बस एक ही सीढ़ी नीचे है।

'खसम' शब्द और भी मनोरंजक है। सिद्धोंके गानों और दोहोंमें यह कई जगह आया है। सरोजवज्रकी निम्नलिखित चौपाईमें यह दो बार आया है। एक जगह केवल 'खसम' है और दूसरी जगह 'खसम-सहावें' या 'खसम-स्वभावेन' के रूपमें है—

सब्ब रूअ तहि खसम करिज्जइ ।
खसमसहावें मण वि धरिज्जइ ॥

दुर्भाग्यवश इस चौपाईपर अद्वयवज्रकी टीका खण्डित मिली है। आखिरी पंक्तिका अर्थ उन्हें 'मनश्च खसमस्वभावेन धार्यते' अर्थात् 'मन भी खसम स्वभावसे धारण किया जाता है' इस प्रकार किया है। परन्तु इसके बादकी चौपाईकी टीकामें जो कुछ लिखा है उससे कोई सन्देह नहीं रह जाता कि 'खसम' वस्तुतः सहजयानी लोगोंकी सहजावस्था या शून्यावस्थाका वाचक शब्द है। 'खसम' का शब्दार्थ भी 'शून्यके समान' या 'आकाशके समान' (नाथपंथियोंके शब्द 'शून्योपम' और 'गगनोपम' से तुलना कीजिये।)

है। अद्वयवज्र लिखते हैं कि, "तथा सोऽपि खसमस्वरूपं मनः तस्मिन्मनः क्रियते। एवं यः करोति स उत्तमः पुरुषः सहजस्वभावे रम्यते क्रीड़त इति यावत्।" अर्थात् आकाशके समान व्यापक मनमें जो साधक अपने मनको लीन कर देता है वह उत्तम पुरुष निश्चय ही स्वभावसे क्रीड़ा करता है (सहजाम्नाय-पंजिका, पृ० ११०–१११)।

इसी तरह शबरपादके निम्नलिखित पदमें 'खसमे-समतुला' शब्द आया है—

हेरिषे मेरि तइला बाड़ी-खसमे समतुला
षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।

टीकाकार यहाँ 'खसमे समतुला' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' अर्थात् 'अत्यन्त उज्ज्वल' किया है। जान पड़ता है कि सहजयानी लोगोंमें इस शब्दका प्रयोग शून्यावस्था और नैरात्म्य-भावके लिए किया जाता था। इस भावके व्यंजक जितने भी पुराने शब्द योगियों और तांत्रिकोंके साहित्यमें बच रहे हैं उनका अर्थ थोड़ा बदल गया है। नैरात्म्यका स्थान 'भावाभावविनिर्मुक्तावस्था' ने ले लिया है, अर्थात् बौद्ध लोग जहाँ इन शब्दोंसे आत्माके लुप्त होनेका भाव लिया करते थे (नैरात्म्य), वहाँ योगी और तांत्रिक लोग एक ऐसी अवस्थाका अर्थ समझने लगे जिसमें साधकको न भावका अनुभव होता है, न अभावका — न तो वह 'है' को महसूस करता है और न 'ना' को (भाव-अभाव-विनिर्मुक्त-अवस्था)। यही योगियोंकी दुर्लभा सहजावस्था है। ध्यान देनेकी बात है कि इस अवस्थाके लिए योगियोंने 'खसम' शब्दके तुल्यार्थक 'गगनोपम' शब्दका व्यवहार किया है। 'अवधूत-गीता' में अवधूतकी इस गगनोपमावस्थाका विस्तारपूर्वक वर्णन है। गगनोपमावस्था (या ख-सम अवस्था) जहाँ द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते, जो मायाप्रपंचके ऊपर है, जो दम्भादि व्यापारके अतीत है, जो सत्य और असत्यके परे है, जो ज्ञानरूपी अमृतपानका परिणाम है—

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
नित्यं ह्यनित्यमखिलं हि कथं वदामि।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥

ब्रह्मादया सुरगणः कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति ।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं **गगनोपमोऽहम्** ॥
माया-प्रपञ्च रचना न च मे विकारः
कौटिल्य दम्भ रचना न च मे विकारः ।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारः
ज्ञानामृतं समरसं **गगनोपमोऽहम्** ॥
न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपं ।
रूपं-विरूपं न भवामि किंचिद्
स्वरूपरूप परमार्थतत्त्वम् ॥

जब यह शब्द कबीरदासतक पहुँचा तबतक इससे मिलता-जुलता एक अरबी शब्द खसम (=पति) भारतवर्षकी सीमामें पहुँच चुका था। कबीरदासको यह शब्द दो मूलोंसे प्राप्त हुआ। हठयोगियोंके माध्यमसे यह आत्माके शून्यचक्रमें पहुँचकर समभावकी अवस्थाको प्राप्त होनेके अर्थमें आया और मुसलमानी माध्यमसे पतिके अर्थमें। हमने पहले ही देखा कि कबीरदास योगियोंके कृच्छ्राचार द्वारा प्राप्त समाधिको बहुत ऊँची अवस्था नहीं मानते थे। मेरुदण्डपर दुलैचा डालकर समाधि लगानेको वे कचा योग ही समझते थे—

मेरुदण्डपर डारि दुलैचा जोगी तारी लावैं ।
सा सुमेरकी खाक उड़ैगी कचा योग कमावैं ॥

बीजकके ६५ वें पदमें यह बताया गया है कि योगियोंका महाकालको धोखा देनेकी धुनमें लगे रहना कितना हास्यास्पद है। भला हृदयमें भगवद्भक्ति न हो तो शरीरकी साधना कहाँतक साथ दे सकती है? जो रस बधनेमें है ही नहीं, उसे टोंटीके रास्ते गिरानेका प्रयत्न हास्यास्पद नहीं तो क्या है—

जरि गौ कन्था धज गौ टूटी। भजि गौ डंडे खपर गौ फूटी।
कहहिं कबीर इ कलि है खोटी। जो रहे करवा सो निकरे टोंटी ‼

इसीलिए कबीरदासने शून्य समाधिवाली गगनोपमावस्था या खसम-भावको सामाजिक आनन्द ही माना है, बड़ी चीज तो सहज समाधि है, जिसके लिए न डंडेकी जरूरत है, न कंथाकी, न मुद्रा आवश्यक है, न आसन (पृ० ६७, टि०

देखिये)। यही कारण है कि खसमका अर्थ सब समय उन्होंने 'निकृष्ट पति' समझा। इन्द्रिय-वधुओंका खसमके साथ 'सूतने' अर्थात् यौगिक क्रियाओं द्वारा मुग्ध बने रहनेको उन्होंने कुछ इसी अर्थमें प्रयोग किया है। फिर खसम वह पति है जो अपनी पत्नीको वश न कर सके और इंद्रियोंके दास मनको भी इसीलिए कबीरदासने कभी-कभी खसम कहा है। कमसे कम कबीरदासके नामपर चलने-वाले बहुत-से परवर्ती भजनोंमें इसका इस दूसरे अर्थमें ही प्रयोग अधिक है। टीकाकारों और भक्तोंने अपनी उर्वर कल्पनाके बलपर इस शब्दका अर्थ कभी जीव, कभी मन और कभी परमात्मा भी किया है।

मेरा अनुमान है कि कबीरदास 'खसम' शब्दकी पुरानी परम्परासे जरूर वाकिफ थे और उन्होंने जान-बूझकर खसमावस्थाकी तुलना निकृष्ट पतिसे की है। उद्देश्य योगियोंकी कचाई बताना था। तिहत्तरवीं रमैनीमें यह शब्द इस प्रकार आया है:

जाड़न मरै सुपैदी सौरी, खसम न चीन्है घरनि भै बौरी।
साँझ सकारा दियना बारै, खसम छोड़ि सुमिरै लगवारै॥

ठीक इसी प्रकारकी उक्तियाँ सिद्धोंकी वाणियोंमेंसे खोजी जा सकती हैं। सिद्ध लोग 'घरणि' या घरनीका अर्थ तीन वृत्तियोंमेंसे कोई एक समझते हैं। यद्यपि इन तीन वृत्तियोंके नाम उस जमानेकी नीच समझी जानेवाली जातियोंके नामपर हैं, पर वे बौद्ध तान्त्रिक साधनकी बहुत ऊँची अवस्थाओंकी द्योतिका हैं। सहजसतकी तीन वृत्तियाँ (या मार्ग) ये हैं: (१) अवधूती, (२) चाण्डाली, (३) डोम्बी या बंगाली। अवधूतीमें द्वैत-ज्ञान बना रहता है, चाण्डालीमें द्वैत-ज्ञानके बने रहनेको कह भी सकते हैं, नहीं भी कह सकते, पर डोम्बी या बंगालीमें विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान ही विराजा करता है। एकका रास्ता इड़ा मार्गसे है; दूसरीका पिंगला मार्गसे और तीसरीका सुषुम्नासे। भूसुकपादने इसीलिए अपनेको सम्बोधित करके कहा है कि 'ऐ भुसुक, तूने चण्डालिनी घरनीको तो अपना लिया, अब आज बंगालिन घरनी भी बना ले और इस प्रकार सर्वद्वन्द्व-विनुर्मुक्त खसम-भावको प्राप्त हो।'

आजि भूसु बंगाली भइली, णिअ घरणी चाण्डाली लइली।

इस प्रकार इस साहित्यमें 'घरणी' शब्द प्रायः ही तीन वृत्तियोंके अर्थमें संकेतित है। इस अर्थके प्रकाशमें कबीरदासकी ऊपरवाली रमैनीका विचार किया जाय तो

अर्थ बहुत साफ हो जाता है। खसम-भावको पहचाननेवाली वृत्ति सुषुम्नावाहिनी है, अन्य मार्ग जो द्वैतज्ञानमूलक हैं, उन्हें यह वृत्ति पहचानती नहीं।

इसी प्रकार निम्नलिखित साखीमें भी खसम-भावकी अपेक्षा भक्तिप्रतिपाद्य भगवद्भावको श्रेष्ठ बताया है—

भोरै भूली खसमकै, कबहुँ न किया विचार।
सतगुरुसाहिब बताइया पूरबला भरतार॥

परंतु ऐसा जान पड़ता है कि या तो कभी-कभी कबीरदास स्वयं खसम शब्द परम्परासमर्थित अर्थमें प्रयोग नहीं करते थे या फिर ऐसे पद कबीरदासके नाम-पर बादमें चल पड़े होंगे। बीजकमें ही खसम शब्दका ऐसा प्रयोग पाया जाता है, जिसका बहुत खींच-तान करनेपर भी 'खसमावस्था' अर्थ नहीं किया जा सकता[१]। उदाहरणार्थ,

भाई, मैं दूनों कुल उजियारी।
बारह खसम नैहरे खायो; सोरह खायो ससुरारी।
इत्यादि (शब्द ६२)

हमने यह पहले ही देखा है कि कबीरदासजीने शून्य-सहजमें 'राम-रस' पानेका अनुभव किया था। अपने आपको खसमावस्था या गगनोपम भावके ऊपर उठाकर प्रेम-प्रवण 'हरिरस' की ओर उन्मुख करनेके लिए वे जो कुछ कहते हैं उससे तो खसम शब्दका पुराना अर्थ ही समर्थित होता है—

धीरौ मेरे मनवाँ तोहिं धरि टाँगौं, तैं तो कियो मेरे खसमसूँ खांगौं।
प्रेमकी जेवरिया तेरे गले बाँधूँ, तहाँ लै जाऊँ जहाँ मेरे माधौ।
काया नगरी पैसि किया मैं बासा, हरि-रस छाँड़ि बिषै-रसि माता॥
कहै कबीर तन-मनका ओरा, भाव-भगति हरिसूँ गँठ-जोरा॥

इस प्रकार 'सहज' और 'शून्य' की भाँति 'खसम' और 'घरनी' की परिणति भी साधना-साहित्यकी एक मनोरंजक घटना है।

---

१ पं० चन्द्रबली पाण्डेने साप्ताहिक 'आज' में एक लेख 'खसमकी खोज' नामसे लिखा था। इसमें उन्होंने दिखाना चाहा है कि खसम शब्दका अर्थ कबीरदासकी वाणियोंमें 'निकृष्ट पति' नहीं होता बल्कि पति, स्वामी आदि साधारण अर्थमें ही होता है। पाण्डेजी नहीं मानते कि कबीरदासके इस शब्दके प्रयोगमें कोई जटिलता है। पाण्डेजीके लेखमें जानने योग्य बातें हैं, पर मुझे अपना मत परिवर्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम हुई।

७. योगपरक रूपक और उलटवाँसियाँ

कबीरदासके नामपर बहुत-से योग-परक रूपक और उलटवाँसियोंका पाया जाना बड़े भारी भ्रम और विवादका विषय बन गया है। ऐतिहासिक दृष्टिसे न देख सकनेके कारण अनेक पण्डित इसके वास्तविक रहस्यको नहीं समझ सके। कबीरदास जिस वंशमें उत्पन्न हुए थे उसमें योग-चर्चा अत्यन्त मामूली धर्म-चर्चाके समान थी। बाहर भी योगियोंका बहुत जबर्दस्त प्रभाव था। इन योगियोंकी अद्भुत क्रियायें साधारण जनताके लिए आश्चर्य और श्रद्धाका विषय थीं। परन्तु इन योगियोंका किसी भी विषयमें साधारण जनतासे साम्य नहीं था। बल्कि ये लोग गर्वपूर्वक घोषणा करते फिरते थे कि वे तीन लोकसे न्यारे हैं। सारी दुनिया भ्रममें उलटी बही जा रही है, सही रास्तेपर वे ही लोग हैं, जो हठयोगके सिद्धान्तों और व्यवहारोंको मानते हैं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में कहा गया है कि—

"एक योगसम्प्रदायके सिवा अन्य सभी मतोंकी बात उल्टी है। नाथका अंश नाद है, नादका अंश प्राण और उधर शक्तिका अंश बिन्दु है और बिन्दुका अंश शरीर। इससे स्पष्ट है कि नाद और प्राण बिन्दु और शरीरसे अधिक महत्त्व-पूर्ण हैं, अर्थात् पुत्र-क्रमकी अपेक्षा शिष्य-क्रम अधिक मान्य है। दुनियाके लोग ठीक इसके उल्टे चलते हैं। उनकी दृष्टिमें पुत्र-क्रम ही अधिक मान्य है और शिष्य-क्रम अल्प-मान्य। परन्तु नाथपन्थी लोग शिष्यक्रमको प्रधान मानते हैं, और यही ठीक भी है। दुनियाका क्रम है : धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष; ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ संन्यास; शृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-बीभत्स-भयानक-अद्भुत-शान्त; पृथ्वी-जल-तेज वायु-आकाश; ब्रह्मा-विष्णु-शिव इत्यादि,—सब उल्टा!! क्योंकि जो श्रेष्ठ है उसको पहले स्थान देना चाहिए, अपेक्षाकृत कम श्रेष्ठको बादमें। इस प्रकार वास्तविक क्रम बिलकुल उल्टा होगा। यथा मोक्ष-धर्म-अर्थ-काम; संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ्य-ब्रह्मचर्य, शान्त-करुण-अद्भुत वीर-रौद्र-हास्य-भयानक-बीभत्स-शृङ्गार...इत्यादि...। यही योग-सम्प्रदायकी रीति है, यही तन्त्र-सम्प्रदायकी।" (पृ० ५८—५९।) इस साम्प्रदायिक वृत्तिका परिणाम यह हुआ कि योगी और तान्त्रिक लोग दुनियासे उल्टी बात कहनेके अभ्यस्त हो गये। विरोधाभास यह कि ऐसा कहनेसे उनकी

प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई, घटी बिल्कुल नहीं। और ये लोग अधिकाधिक उत्साह से डंकेकी चोट सीधी बातको भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्कामार बनाके कहते गये। तुम कहते हो सूर्य प्रकाश और जीवन देता है?—बिलकुल गलत है। वही तो मृत्युका कारण है। चन्द्रमासे जो कुछ अमृत झरा करता है वह सूर्य ही चट कर जाता है उसका मुँह बन्द कर देना ही योगीका परम कर्तव्य है[१]। क्योंकि जो आकाशमें तप रहा है वह वास्तवमें सूर्य नहीं है, असलमें सूर्य नाभिके ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालुके नीचे (हठ० ३–७८)। तुम कहते हो गोमांस-भक्षण महापाप है? वारुणी पीना निषिद्ध है?—भोले हो तुम। यही तो कुलीनका लक्षण है, क्योंकि 'गो' जिह्वाका नाम है और उसे तालुमें उलटकर ब्रह्मरंध्रकी ओर ले जाना ही 'गोमांस-भक्षण' है। तालुके नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत झरा करता है वही अमर वारुणी है। इसका पाना तो बड़े पुण्यका फल है! (हठ० ३–४६, ४८) तुम कहते हो बाल-विधवा सम्मान और पूजाकी वस्तु है? सारे समाजको उसके सम्मानकी और रक्षाकी जिम्मेदारी लेना चाहिये?—एकदम उल्टी बात है। क्योंकि गंगा और यमुनाकी मध्यवर्ती पवित्र भूमिमें वास करनेवाली एक तपस्विनी बाल-विधवा है, उसका बलात्कार-पूर्वक ग्रहण करना ही तो विष्णुके परमपदको प्राप्त करनेका सही रास्ता है! कारण स्पष्ट है। गंगा इडा है, यमुना पिंगला। इन दोनोंकी मध्यवर्तिनी नाड़ी सुषुम्नामें कुण्डलिनी नामक बालरण्डाको जबर्दस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्यका परम लक्ष्य है[२]। तुम कहते हो कि पंचम-वर्णी अवधूत बनकर मन्त्र-तन्त्र करनेसे सिद्धि मिलेगी—बेतुकी बात है यह। अपनी घरनीको लेकर जबतक केलि नहीं करते तबतक बोधि-प्राप्तिकी आशा बेकार है। इसी तरुणी घरनीके बिना जप-

---

१ यत् किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यः तेन पिण्डो जरायुतः॥—हठ० ३—७६

२ गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम्॥
इडा भगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरण्डा तु कुण्डली॥—हठ० ३–१०१,२

होम सब व्यर्थ हैं! क्योंकि घरनी तो असलमें महामुद्रा है। उसके बिना निर्वाण-पद कैसे मिल सकता है[1]।

योगियों, सहजयानियों और तान्त्रिकोंके ग्रन्थोंसे ऐसी उलटबाँसियोंका संग्रह किया जाय तो एक विराट् पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हमें अधिक संग्रह करनेकी जरूरत नहीं। इस प्रकरणमें जो प्रसंग उत्थापित किया जा रहा है उसीको सुनकर धैर्य सम्हाल रखना आसान काम नहीं है।

सहजयानियोंमें इस प्रकारकी उल्टी बानियोंका नाम 'सन्ध्या-भाषा' प्रचलित था। म० म० हरप्रसाद शास्त्रीके मतसे 'सन्ध्या-भाषा'से मतलब ऐसी भाषासे है जिसका कुछ अंश समझमें आये और कुछ अस्पष्ट लगे, पर ज्ञानके दीपकसे जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्यामें 'सन्ध्या' शब्दका अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाशके बीचकी,—सन्ध्याकी भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। किन्तु ऐसे बहुत-से विद्वान् हैं जो उक्त भाषाका यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डितने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्दका अर्थ सन्धि-देशकी भाषा है। सन्धि-देश भी, इस पण्डितके अनुमानके अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहारकी पूर्वी सीमा और बंगालकी पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही बे-बुनियाद है, क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहारके आधुनिक विभाग सदासे इसी भाँति चले आ रहे हैं। म० म० पं० विधुशेखर भट्टाचार्यका मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा भाषा' है, 'सन्ध्या भाषा' नहीं। अर्थ अभिसन्धि-सहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्दको संस्कृत 'संधाय' (=अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्रके किसी-किसी वचनने सहजयान और वज्रयानमें यह रूप धारण किया है। असलमें, जैसा कि भट्टाचार्य महाशयने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदोंमेंसे भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनमें संधा भाषा जैसी भाषाके प्रयोग मिल जाते हैं। परन्तु बौद्ध धर्मकी अन्तिम यात्राके समय यह शब्द और यह शैली

---

१ एक्क न किज्जइ मन्त न तन्त। णिअ घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिअ घर घरणी जाव ण भज्जइ। ताव कि पंचवण्ण विहरिज्जइ॥

एष जप-होमे मण्डल-कम्मे। अनुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे।
तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे। वोहि कि लागइ एण वि देहे।

—कृष्णाचार्यका दोहा; बौद्ध० पृ० १३१-२ और इसकी संस्कृतटीका।

अत्यधिक प्रचलित हो गई थी और साधारण जनतापर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

हमने ऊपर जिस योगसिद्धान्तकी चर्चा की है उससे ही स्पष्ट है कि योगियोंके पारिभाषिक शब्दोंमें उल्टी बानीको प्रभावशाली और अद्‌भुत बना देनेकी शक्ति है। हठयोगप्रदीपिका, शिव-संहिता और घेरण्ड-संहिता आदि ग्रन्थोंमें उपमान-रूपमें निम्नलिखित विषयोंके लिए निम्नलिखित संकेत कहे गये हैं। कबीरदास तथा अन्य परवर्ती संतोंकी उलटबाँसियों और योगशास्त्रीय रूपकोंको समझनेमें ये उपमान (या संकेत) कामके सिद्ध हुए हैं। नीचे उनका संग्रह किया जा रहा है।

चित्त—भ्रमर (हठ० ४–८९), अग्नि (४–९७)

मन—मत्त गजेन्द्र (हठ० ४–९०), खग (हठ० ४–९१), पारद (हठ० ४–९५)

{ अन्तःकरण—हरिण (हठ० ४–९८)
{ अन्तरंग (अन्तःकरण)—भुजंगम (हठ० ४–९६), हरिण (हठ०–९३)

वायु—सिंह, गज, व्याघ्र, (हठ० २–१५)

ब्रह्मनाड़ी—बिल (हठ० ३–८८)

नाद—शिकारी (हठ० ४-९२), गंधक (हठ० ४-९४), काष्ठ (४-९७)
उन्मनी—कल्पलता

इड़ा—सूर्य-अंग (हठ० ३–१५), वरुणा (शिव० ५–१००), गंगा (हठ० ३–१०२)

पिंगला—चन्द्र-अंग (हठ० ३–१५), यमुना (हठ० ३–१०२), असी (शिव० ५–१२३)

सुषुम्ना—शून्य पदवी (शून्य-मार्ग), राजपथ, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी, मध्यमार्ग (हठ० ३–४), ब्रह्मनाड़ी (हठ० ३–६८), सरस्वती (शि० ५–१२३)

कुण्डलिनी—कुटिलांगी, भुजंगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती (हठ० ३–९७), बालरण्डा (३–१०१)

मूलाधारपद्म—(नाभिके ऊपर)—सूर्य (शिव० ५–१०६)

ब्रह्मरन्ध्र (तालुके नीचे)—चन्द्र (शिव० ५–१०३)

चन्द्रका रस—सोम-रस, अमर-वारुणी (वही तथा हठ० ३, ४६-४८)

ब्रह्मरन्ध्र—त्रिवेणी (शिव० ५-१३२), शून्य, कमल, कूप, गगन इत्यादि[1]।

परन्तु रूपकों और उलटवाँसियोंको समझनेके लिए केवल ऊपर बताये हुए शब्द ही पर्याप्त नहीं हैं। वस्तु-धर्मके साथ जिस किसी भी उपमानका साधर्म्य हो सकता है उसे ही अतिशयोक्ति-अलंकारकी शैलीपर उस वस्तुका वाचक मान लिया गया है। उदाहरणार्थ, चित्त चञ्चल है, इसलिए हरिण-मच्छ आदि कई चाञ्चल्य-धर्मी उपमानोंको चित्तका वाचक मान लिया गया है। इसी तरह संसारमें विषयी लोग डूब जाते हैं इसीलिए वह सागरका समानधर्मा है, जिसमें एक बार पड़ जानेवालेको मार्ग नहीं मिलता। फिर वह गहन वनके समान भी है, जहाँ पद-पदपर हिंस्र जन्तुओंके समान कुवृत्तियोंका भय है। इस प्रकार संसारके लिए 'सागर' और 'वन' पर्यायवाची हो गये हैं।

योगियोंके उक्त शब्दोंके साथ कबीरदासके अपने शब्द भी मिले हुए हैं। 'बिलैया', 'मूसा', 'पूत', 'बाँझ माता' आदि शब्द योगियोंके साहित्यमें नहीं मिलते। कमसे कम मुझे देखनेको नहीं मिले। इन स्थानोंपर उद्देश्य माया और जीवसे होता है। इस प्रकार श्री विचारदासजीने अपनी विद्वत्तापूर्ण पुस्तकमें इन शब्दोंको संकेतित माना है।

मन—मच्छ, माछ, मीन, जुलाहा, साउज, सियार, रोझ, हस्ती, मतंग, निरंजन आदि।

जीवात्मा—पुत्र, पारथ, जुलाहा, दुलहा, सिंह, मूसा, भौंरा, योगी आदि।

माया—माता, नारी, छेरी, गैया, बिलैया।

संसार—सायर, वन, सीकस।

नर-तन—यौवन, दिवस, दिन।

इन्द्रिय—सखी, सहेलरी, इत्यादि। —विचार० पृ०, ४०

---

[1] खोज की जाय तो कबीरदासके पदोंमें इन शब्दोंसे मिलते-जुलते संकेतित बहुत-से शब्द ढूँढ़े जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, विहंगम (क० ग्रं०, पद ६); मृग (पद ९); बिल (पद ९); गंगा-यमुना (पद १४ और १८); बेलि (पृ० २६, साखी ५८, ३-४); सूर्य (पद ६, १८, १७३); चन्द्र (पद ६, १८, १७३); त्रिवेणी (पद ४, १८) इत्यादि भूरिशः पाये जा सकते हैं।

श्री विचारदासजीका दावा है कि ये शब्द सम्प्रदायमें स्वीकृत हैं। परन्तु उन्होंने भी यह दावा नहीं किया कि ये ही सब कुछ हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से शब्द हैं जिनकी चर्चा उन्होंने विस्तार-भयसे नहीं की है। परन्तु यह बात अच्छी तरहसे समझ लेना चाहिए कि अतिशयोक्ति अलंकारकी शैलीपर कहे जानेपर भी वे स्वयं अतिशयोक्ति अलंकार नहीं हैं। इनमें कुछका तो तत्तत् शास्त्रमें संकेतितार्थ निश्चित ही है अर्थात् वहाँ उपमेयोपमानभावकी कल्पना ही नहीं की गई। उदाहरणार्थ, जब इड़ा और पिंगलाको गंगा और यमुना कहा गया है तो प्रस्तुत गंगा-यमुनामें (उपमानमें), अप्रस्तुत इड़ा-पिंगलाके (उपमेयके) अर्थका 'निगिरण-पूर्वक अध्यवसान' नहीं है, जब कि ऐसा होना ही अतिशयोक्ति अलंकारका बीज है,—बल्कि वहाँ गंगा शब्दका संकेतितार्थ ही इड़ा है और पिंगला शब्दका संकेतितार्थ ही यमुना है। इस प्रकार जितनी उलटवाँसियाँ हैं उनमें साधारण तौरसे विपरीत भाव दिखानेपर भी योगशास्त्रीय परिभाषाओंका ही व्यवहार है। परन्तु यही बात रूपकोंके बारेमें ठीक नहीं है ('रूपक' से यहाँ अलंकार रूपकका विशिष्ट अर्थ न लेकर सामान्य अर्थ ही लेना चाहिए)। अधिकांश रूपकोंमें प्रस्तुत अर्थका निगिरण सचमुच ही हुआ है जिसका परिणाम यह हुआ कि टीकाकारोंकी कल्पनाको यथेष्ट स्वाधीनता मिल गई है। एक ही पदमें आये हुए एक ही शब्दको भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अर्थोंमें ग्रहण किया है। इस तरह ऊपर श्री विचारदास द्वारा बताये संकेतोंको साम्प्रदायिक संकेत मान भी लें तो इनके अतिरिक्त बहुतेरे शब्द रह जाते हैं जिनके लिए अलग-अलग कल्पनाकी गुंजाइश रह जाती है।

परम्परा निस्सन्देह किसी तत्त्वके समझनेका उत्तम साधन है, पर परम्पराका ऐतिहासिक विकास और भी अधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। सहजयानी सिद्धों, नाथपन्थी योगियों और निर्गुण मतके सन्तोंके सांकेतिक शब्दोंकी तुलना करनेपर हम निस्सन्देह इस परिणामपर पहुँचते हैं कि दूसरी श्रेणीके संकेतितार्थोंमें,—अर्थात् जहाँ प्रस्तुतार्थका अप्रस्तुतार्थ द्वारा निगिरण हो गया होता है, वहाँ धर्म ही संकेतका कारण है, धर्मी नहीं। दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो जब ये सिद्ध, योगी और सन्त लोग मनको मच्छ या हरिण कहते हैं तब 'मन' से संकेतित चांचल्य-धर्म होता है, चांचल्यधर्मी हरिण नहीं। वह हरिण किसी अन्य साधर्म्यवश किसी अन्य वस्तुका द्योतक भी हो सकता है। 'हरिण' या

'मच्छ' शब्दसे साधर्म्यके प्रसंगवश कई पदार्थ ग्रहण किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, हरिणका भीतियुक्त स्वभाव कभी कमजोर साधकका द्योतक हो सकता है।

अधिक निश्चित उदाहरणके लिए भूसुकपादका यह यह पद लिया जाय—

अपणा मांसे हरिणा वैरी। खनह न छाड़अ भूकु अहेरी॥
तिण न छुअइ हरिण पिबइ न पाणी। हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी।

यहा—हरिण = चित्त
आखेटिक = स्वयं भूसुकपाद (साधक)
हरिणी=ज्ञानमुद्रा

इसमें 'हरिण', 'हरिणी' शब्द, जो भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुए हैं वे दो भिन्न धर्मोंके कारण, यह बात टीकाकारने साफ-साफ स्वीकार की है[1]। धर्म भी एक अर्थगत है, दूसरा शब्दगत। चित्तको हरिण इसीलिए कहा गया है कि वह चाञ्चल्यधर्मा है और ज्ञानमुद्राको हरिणी इसीलिए कहा गया है कि विषपान और भवग्रह आदिको हरण करती है और भूसुकपाद अपनेको आखेटिक इसीलिए कहते हैं उनमें गुरुके वचनरूपी बाणोंसे चित्त-चाञ्चल्यको वेध सकने योग्य आखेटकत्व धर्म विद्यमान् है।

इसी प्रकार कृष्णाचार्यके,

मारिअ शसासु ननँद घरे शाली।
माअ मारिअ कान्ह भइल कपाली॥

इस पदमें,

सास = श्वास, ननँद = इन्द्रिय, मा = काया, कपाली = स्वयं कृष्णाचार्य (= साधक)[2]।

---

१ अपणेत्यादि। अतएव स्वयं कृतविद्यामात्सर्यदोषेण चांचल्यतया पुनः स एव चित्तहरिणः सर्वेषां बद्धवैरी। क्षणमपि चित्तहरिणं विहाय भूसुकपाद आखेटिकः सद्गुरु-वचन-बाणेनैनं प्रहरति। विषपानं भवग्रहान् हरति खण्डयति। हरिणीति सन्ध्याभाषया सब ज्ञानमुद्रा नैरात्मा। —चर्या०, पृ० १२-१३

२ चर्या० ११-५; पृ० २१-२२

इन शब्दोंमें साधर्म्यकी प्रधानता ही संकेतका कारण समझी गई है। उदाहरणोंकी संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है। स्वयं कबीरदासने भी कभी जीवात्माको दूल्हा कहा है और कभी मनको ही इस शब्दसे स्मरण किया गया है। कभी उनके राम भी इस दूल्हापदको सुशोभित करते हैं। अगर सर्वत्र 'दुलहा' में एक ही धर्मका आरोप होता तो ऐसा होना संभव नहीं था।

'निरंजन' शब्दके बारेमें जो साम्प्रदायिक विचार बादमें प्रतिष्ठित हुआ था, उसे देखते हुए निरंजनको मनका वाचक समझ लेना कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है। हम पहले ही देख चुके हैं कि न तो परम्परा ही और न कबीरदासकी पुरानी बानियाँ ही निरंजनको मन (या भगवान्‌के अतिरिक्त और कोई वस्तु) समझनेका समर्थन करती हैं। कबीरदासने तो स्पष्ट रूपमें 'निरंजन'से निरुपाधि, निर्गुण गोविन्दको सम्बोधित किया है, —गोविन्द जिसका कोई रूप नहीं, रेख नहीं, मुद्रा नहीं, माया नहीं, जो मुद्रा भी नहीं, पहाड़ भी नहीं—सबसे विलक्षण, सबके अतीत[१]। कबीरदास संसारको ही अंजन समझते हैं; उत्पत्ति भी, परिवर्तन भी, आवागमन भी, योग भी—सब कुछ अंजन है, सब कुछ कलुष है। निरंजन या निष्कलुष अकेले राम हैं जो सब घटमें समाये हुए हैं। एक अन्य पदमें तो निरंजनसे मन लगानेका उपदेश देकर उन्होंने मानों साफ घोषणा कर दी है कि निरंजन कोई और है, मन कुछ और[२]। फिर भी यह अस्वीकार नहीं

---

१ गोब्यंदे, तूं निरंजन, तूं निरंजन तूं निरंजन, राया ॥
तेरे रूप नाहीं, रेख नाहीं, मुद्रा नाहीं माया ॥
समन्द नाहीं, सिखर नाहीं, धरती नाहीं गगनां।
रवि-ससि दोउ एकै नाहीं, बहत नाहीं पवनां ॥
नाद नाहीं, ब्यंद नाहीं, काल नाहीं काया।
जलते जल ब्यंब न होते तब तूंहि राम राया ॥ इत्यादि
—क० ग्र०, पद २१९

२ अंजन अलय निरंजन सार। यहै चीन्हि नर करहु विचार।
अंजन उतपति वरतनि लोई। बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥
अंजन आवै अंजन जाइ। निरंजन सब घटि रह्यौ समाइ।
जोग-ध्यांन-तप सबै विकार। कहै कबीर मेरे राम अधार ॥
—क० ग्र०, पद ३३७

किया जा सकता कि कबीरके उत्साही चेलोंने 'निरंजन'को जिस सीमातक घसीटा उसके आधारपर सम्प्रदायमें 'निरंजन'[१] का अर्थ मन हो जाना बहुत अन्याय नहीं है।

इतनी नीरस चर्चाके बाद हम कबीरदासकी बहुतेरी उलटबाँसियों और अधिकांश योगपरक रूपकोंके समझने योग्य अवस्थामें आ गये हैं। जहाँ शास्त्रीय संकेतोंको ग्रहण किया गया है (अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती, त्रिवेणी, वाराणसी, सूर्य, चन्द्र, सोमरस, वारुणी, मदिरा, गोमांस, ब्रह्मपथ, भुजंगी, नागिन, बिल, अमृत, श्मशान, बेलि, लता, शून्य, गगन, आदि) वहाँ तो विशेष सुविधा है। हम आँख मूँदकर असली रहस्यको समझ सकते हैं। इस प्रकार, पूतके (जीवके) पहले बाँझ माताका (मायाका) जन्म, बाँबीका (ब्रह्म-नाड़ीका) भुजंगको ग्रास कर जाना (क० ग्र०, पद १६२;), किसी विचित्र बेलिका (उन्मनीका) लहलहाना और (विषय-वारिसे) सींचनेपर कुम्हला जाना और आकाश (शून्य-चक्र) में फल देना (क० ग्र०, पृ० ८६, साखी ५८-३); चन्द्र (तालुके नीचे) और सूर्यके (नाभिके ऊपर) खंभोंमें बंक-नालकी (कुंडलिनीकी) डोरी बाँधकर झूलती हुई सखियोंकी (इन्द्रियोंकी) क्रीड़ासे दुलहिनका (मनका) आकर्षित होना; नीचेसे ऊपरको बहती हुई गंगा-यमुना, [इड़ा-पिंगला—मूलकमल (नाभिकमल) के घाटपर और संगम त्रिवेणीके पास है] और उनमें षट्चक्रकी गगरीका भरा जाना (क० ग्र०, पद १८), धागेके (ध्यानके) टूटनेसे गगनका (शून्य समाधिका) विनष्ट होना और सबदका गायब हो जाना (क० ग्र०, पद ३२), जहाँ सूर्य और चन्द्रका प्रकाश नहीं जाता वहाँ (अर्थात् सहस्रार चक्रमें) आनन्दरूपका दर्शन पाना, (क० ग्र० ३१); शून्यमें अनाहत तूर्यका-बजना (क० ग्र०, पद ७); डाइनका (मायाका) कुत्तेपर (मनपर) डोरा डालना, पाँच कुटुम्बियोंका (तत्त्वोंका); शब्दका बजना, रोझ, मृग या शशकका (मनका) पारधीको (जीवको) घेर लेना (क० ग्र०, पद ९) आदि बातें अत्यन्त सरल हो जाती हैं।

---

१ ना हज जाऊँ ना तीरथ-पूजा। एक पिछाण्यां तौ क्या दूजा॥
कहै कबीर भरम सब भागा। निरंजनसूँ मन लागा॥
—क० ग्र०, पद ३३८

परन्तु बहुत-सी बातें फिर भी अनुमान-सापेक्ष रह जाती हैं, क्योंकि उनका संकेत निश्चित नहीं है और कौन-सा धर्म उनमें आरोपित करना उचित है, यह संपूर्णतया श्रोतापर निर्भर करता है। बहुत बार केवल संख्यावाचक विशेषण ही अर्थावगमका कारण होता है। पाँच कुटुम्ब (क० ग्रं०, पद ९) में 'पाँच' शब्दका आना ही सूचित करता है कि या तो ये पाँच इन्द्रियाँ हैं या पाँच तत्त्व। प्रसंगानुसार यह निश्चित करनेमें विशेष कठिनाई नहीं पड़ती कि वे तत्त्व ही हैं। ऊपर जो योगशास्त्रीय सिद्धान्त बताये गये हैं और और भी आगे चलकर जो भक्तिसम्बन्धी सिद्धान्त कहे जायँगे उन्हें ध्यानमें रखकर अर्थ करनेवाला कल्पनाशील श्रोता कोई भी सिद्धान्त-सम्मत अर्थ उनमेंसे निकाल सकता है। एक पद बीजकसे उद्धृत किया जा रहा है। यह पद 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी थोड़े पाठान्तरके साथ है। प्रधान पाठ-भेद यह है कि जहाँ बीजकमें 'सन्तो' संबोधन है, वहाँ 'कबीर-ग्रंथावली' में 'अवधूत'। कहना नहीं होगा कि इस संबोधन-भेदसे अर्थमें बड़ा अन्तर आ जाता है। पहले लक्ष्य कर चुके हैं कि कबीरदास सन्तोंको संबोधन करके अपना मत व्यक्त करते हैं, पर अवधूतको संबोधन करके उसके मतका खण्डन करते हैं। मुझे 'कबीर-ग्रंथावली' वाला पाठ (क० ग्रं०, पृ० १४१-१४२) ठीक जँचता है। अप्रासंगिक होनेपर भी यहाँ स्मरण करा दिया जा सकता है कि बीजकका पाठ भी आँख मूँदकर नहीं ग्रहण करना चाहिये। पद इस प्रकार है :

> सन्तो, जागत नींद न कीजै।
> काल न खाय, कल्प नहिं ब्यापै, देह जरा नहिं छीजै ॥
>
> उलटि गंग समुद्रहिं सोखै औ' सूर गरासै।
> नवग्रह मारि रोगिया बैठे जलमें बिंब प्रकासै ॥
>
> बिनु चरननको दस दिसि धावै, बिन लोचन जग सूझै।
> ससा सो उलटि सिंहको ग्रासै, ई अचरज कोउ बूझै ॥
>
> औंधे घड़ा नहीं जल डूबै, सूधेसों घट भरिया।
> जेहि कारण नर भिन्न भिन्न, करु गुरुप्रसादतें तरिया ॥
>
> पैठि गुफामें सब पग देखै, बाहर कछुक न सूझै।
> उलटा बान पारिधिहि लागे, सूरा होय सो बूझै ॥

गायन कहै, कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै ।
नटवर बाजी पेखनी पेखै, अनहद हेतु बढ़ावै ॥
कथनी-वदनी निजुकै जोहैं, ई सब अकथ कहानी ।
धरती उलटि आकासहिं बेधैं, ई पुरुषहिकी बानी ॥
बिनां पियाला अंमृत अचवै, नदी नीर भरि राखै ।
कहै कबीर सो जुग जुग जीवै, राम-सुधारस चाखै ॥

—बीजक, शब्द[1] २

---

१ 'कबीर-ग्रन्थावली' का पाठ इस प्रकार है—
अवधू, जागत नींद न कीजै ।
काल न खाइ कल्प नहीं ब्यापै, देही जुरा न छीजै ।
उलटी गंगा समुद्रहि सोखै ससिहर सूर गरासै ।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे जलमै ब्यंब प्रकासै ।
डाल गह्याँथै मूल न सूझै मूल गह्याँ फल पावा ।
बाँवई उलटि शरपकौं लागी धरणि महारस खावा ।
बैठि गुफामैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै ।
उलटैं धनकि पारधी मार्‍यौ यहु अचरज कोई बूझै ॥
औंधा घड़ा न जलमैं डूबै सूधा सू भर भरिया ।
जाकौं यहु जग घिणकरि चालै ता प्रसादि निस्तरिया ।
अम्बर बरसै धरती भीज यहु जाणैं सब कोई ।
धरती बरसै, अम्बर भीज, बूझै बिरला कोई ॥
गाँवणहारा कदैं न गावै अणबोल्या नित गावै ।
नटवर पेखि पेखतां, पेखै अनहद बैन बजावै ।
कहणी-रहणी निज तन जाणैं यहु सब अकथ कहाणी ।
धरती उलटि अकासहिं ग्रासै यहु पुरुषाकी बाणी ।
बाझ पियालै अंमृत सोख्या नदी-नीर भरि राख्या ॥
कहै कबीर ते बिरला जोगी धरणि महारस चाख्या ॥

—क० ग्रं०, पद १६२

इस पदके सांकेतिक शब्दोंका क्या अभिप्राय है, इस बातको भिन्न-भिन्न टीकाकारोंके अर्थपरसे तुलना करना मनोरंजक सिद्ध होगा—

सांकेतिक शब्द	अभिप्राय		
	विश्वनाथ	विचारदास	शास्त्रीय परम्परा
१ उल्टी गंगा	संसारमुखी रागरूपी गंगाका ब्रह्म-मुखी होना	ब्रह्माण्डमें चढ़ाई हुई श्वास	इडा
२ समुद्र	संसार	संताप	संसार (भव)
३ शशि	एक जीवात्माको मानना	इड़ा	इड़ा या नाभिके ऊर्ध्वभागका सूर्य
४ सूर्य	नाना निरंजनादि ईश्वरनकों मानिबेकौ ज्ञान	पिंगला	पिंगला या तालुके अधोभागका चन्द्र
५ नवग्रह	वैशेषिकके नौ पदार्थ	नवद्वार	×
६ जल	राग	ब्रह्माण्ड	×
७ बिंब	शुद्ध साहबका अंश	ब्रह्मज्योति	×
८ रोगिया	ग्रह-ग्रस्त संसारी	योगी	
९ शश	अहंब्रह्म विचार	मन	संसारी
१० सिंह	'तैं' (मूढ़)	जीवात्मा	मन
११ औंधा घड़ा	साहबकी ओर पीठ किया हुआ मनुष्य	बहिरंग-वृत्ति	जीवात्मा
१२ सूधा घड़ा	साहबकी ओर मुख किया हुआ मनुष्य-शरीर	अंतरंग-वृत्ति	जगत्-मुख शरीर उद्बुद्धकुण्डलीक शरीर
१३ गुफा	सुरति (जो जगत्-मुख, ब्रह्म-मुख ईश्वर-मुख और जीवात्मा-मुख है)	गगन-गुंफा	?
१४ उलटा बाण		श्वास	प्राणवायु

सांकेतिक शब्द	अभिप्राय		
१५ पारधी	पार्थिव परम पुरुष	(वीर) मन	मन
१६ नटवर बाजी	निर्गुण ब्रह्मको देखना नटकी बाजीके समान धोका है	(नटवर बाज) =अनाहत नाद	×
१७ धरती	जड़ माया	पिण्डाण्ड	मूलाधार
१८ आकाश	ब्रह्म	ब्रह्माण्ड	शून्यचक्र
१९ प्याला	स्थूल-सूक्ष्मादि पंच शरीर	अन्यान्य साधन	इन्द्रिय ?
२० अमृत	साहबके प्रति प्रेम	निजानंदरूप अमृत	अमरवारुणी
२१ नदी	जगत्	आत्माकार वृत्ति	नाड़ी ?
२२ नीर	राग		श्वास ?
२३ राम-सुधारस	राम-प्रेम	आनंदामृत	सहजामृत

इनकी तुलना करनेसे स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि टीकाकारोंने काफी स्वाधीन कल्पनासे काम लिया है। ऊपरकी दो टीकाओंमेंसे विचारदासजीकी टीका विश्वनाथसिंहजीकी अपेक्षा परम्पराके अधिक नजदीक है। वस्तुतः जिन शब्दोंका संकेतितार्थ शास्त्रीय परम्परासे समर्थित है उनके ही विषयमें निश्चित रूपसे कहा जा सकता है; बाकी जितने भी संकेत-शब्द हैं उनका तद्गत धर्मके अनुसार ऐसा कोई भी अर्थ किया जा सकता है (और किया भी गया है) जो प्रसंगके अनुकूल हो और कबीरदासके सिद्धान्तके विरुद्ध न हो। इसका मतलब यह हुआ कि यदि कबीरदासके सिद्धान्तका ज्ञान करना है तो योग रूपक और उलटबाँसियाँ बहुत कम सहायता कर सकती हैं, क्योंकि वे अपनी व्याख्याके लिए स्वयं सिद्धान्तोंकी अपेक्षा रखती हैं, ऊपरके टीकाकारोंमें श्रीविश्वनाथसिंहजूदेव साकेत-वासी रामको ही कबीरका प्रतिपाद्य समझते हैं जब कि श्रीविचारदासजी निर्गुण निराकार ब्रह्मको। दोनों ही विचार कबीरके नहीं हो सकते। फिर भी अपने-अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिए दोनोंने अपने मनोऽनुकूल अर्थ लगा लिये हैं। इसीलिए यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि कबीरदासके सिद्धान्तोंकी

जानकारीके लिए उनकी सीधी-सादी वाणियाँ और पद ही सहायक हो सकते हैं। किसी भी योगपरक रूपक और उलटवाँसीका अर्थ करते समय दो बातोंका ध्यान रखना परम आवश्यक है—(१) शास्त्रीय परम्परा और (२) कबीरदासका व्यक्तिगत मत। पहले विषयकी चर्चा हमने पिछले अध्यायोंमें कर ली है, जो थोड़ा बाकी है उसकी अगले अध्यायमें कर लेंगे। परन्तु दूसरी बातका कहना जरा कठिन है। शास्त्रीय परम्परा, वंशगत प्रभाव और पारिपार्श्विक अवस्थाओंकी छलनीसे छानकर ही हम कबीरदासके व्यक्तित्वका कुछ अनुमान लगा सकेंगे। अगले अध्यायोंमें उस तरफ हमारा प्रयत्न रहेगा।

योगशास्त्रीय मतोंका यह जो ऊपर ब्यौरा दिया गया है उसकी सहायतासे ही हम कबीरके योगपरक रूपकों और उलटवाँसियोंका अर्थ समझ सकते हैं। तब प्रश्न हो सकता है कि क्या कबीरदास वही मानते थे जो हठयोगी लोग माना करते थे? ऊपर हमने कई बार कहा है कि कबीरदास योगियोंके द्वारा प्रभावित तो बहुत हैं, पर वे स्वयं वही नहीं हैं जो योगी हैं। हम यहाँ फिर एक बार कहते हैं कि कबीरदास यौगिक क्रियाओंको भी बाह्य आचार ही मानते थे। वे उन सारी क्रियाओंको सहजावस्थाकी प्राप्तिका कारण नहीं मानते थे। उनके मतसे उन क्रियाओंके द्वारा प्राप्त शून्य-भाव (या ख-सम भाव) शराबीके नशेकी भाँति अस्थायी है। योग-द्वारा प्राप्त सम-भाव है तो ठीक, पर शाश्वत नहीं है। शाश्वत है सहज समाधि, सहज भजन। अनहदनाद बजता ठीक है, पर वही परम सत्य नहीं है, चरम वह है जो उसे बजाता[1] है। जो तोड़ भी सकता है और जोड़ भी सकता है, जो बना भी सकता है और बिगाड़ भी सकता है। वह षड्-दर्शनका विषय नहीं है और न छयानवे पाखण्डोंकी पहुँचके भीतर है और न जप-तप-पूजा-अर्चाका ही विषय है। शास्त्र लिख-लिखकर लोगोंने लोगोंको धोखा ही दिया है। कबीरदासका कहना है कि योगी हो या जंगम, सब झूठी आशा ले-लेकर ही अपनी साधना कर रहे हैं। जो चरम सत्य और परम तत्त्व है वह भक्तिसे

---

१ बाजै जन्त्र नाद-धुनि हुई। जो बजावै सो औरे कोई॥

बाजी नाचै कौतिग देखा। जो नचावै सो किनहुँ न पेखा॥—

—क० ग्रं०, पृ० २३०–३१

ही मिल सकता है[1]। कैसा विपरीत है यह तमाशा ! अनहद-नादकी दुराशामें फँसकर ये योगी वहाँ चले गये जहाँ शून्य है,—जहाँ कुछ भी नहीं है !—निरालंब शून्यमें भटकनेवाले इस जीव (योनी) ने किसी ऐसे लाज-बचावन-हारेकी परवातक न की, उसका हाथ भी छोड़ दिया और खुद बेहाथ हो गया ! संसार संशयका शिकार है, काल-अहेरी सबको मार रहा है। भलेमानसो, रामका सुमिरन करो। कालने चुटिया पकड़ रखी है, कौन जाने कहाँ और कब दे मारेगा !—

अनहद-अनुभवकी करि आसा।
देखौ यह विपरीति तमासा !
इहै तमासा देखहु (रे) भाई।
जहवाँ सुन्न तहाँ चलि जाई !
सुन्नहिं बाँध सुन्नहिं गयऊ।
हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ ॥
संसय सावज सब संसारा।
काल-अहेरी साँझ-सकारा ॥
सुमिरन करहू रामका, काल गहे कर केस।
ना जानौं कब मारिहै, का घर का परदेस ॥

—बीजक० रमैनी १९

* * *

यह अनहदको बजानेवाला, शरणगत-रक्षक काल-अहेरीका नियामक अपरंपार महिमाशाली राम कौन है ?

---

१ भाई रे विरले दोस्त कबीरके, यहु तत बार बार कासों कहिये ॥
भांगण-घडण-संभारण-संम्रथ ज्यूँ राखै त्यूँ रहिये ॥
आलम-दुनी सबै फिरि खोजी हरि-बिन सकल अजानां।
छह-दरसन-छ्यानबे-पाखण्ड आकुल किनहूँ न जाना।
जप-तप-संजम-पूजा-अरचा जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलाना मनन ही मन समानां ॥
कहै कबीर जोगी अरु जंगम ए सब झूठी आसा।
गुरु-प्रसाद रटौ चात्रिग ज्यौं निहचै भगति निवासा ॥—क० ग्रं०, पद ३४

८. ब्रह्म और माया

सभी परम्परायें इस बातका समर्थन करती हैं कि कबीरदासका रामानन्दके साथ संबन्ध था। कबीरदासने स्वयं स्वीकार किया है कि रामानन्दने उन्हें चेताया था पर क्या चेताया था और स्वयं क्या चेते हुए थे इस विषयमें नाना मुनियोंके नाना मत हैं। पं० रामचंद्र शुक्लने लिखा है कि "तत्त्वदृष्टिसे रामानुजाचार्यजीके मतावलम्बी होनेपर भी अपनी उपासना इन्होंने अलग की। इन्होंने उपासनाके लिए वैकुण्ठनिवासी विष्णुका स्वरूप न लेकर लोकमें लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार रामका आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूल-मंत्र रामनाम।... कर्मके क्षेत्रमें शास्त्र-मर्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासनाके क्षेत्रमें किसी प्रकारका लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जातिके लोगोंको एकत्र कर राम-भक्तिका उपदेश ये देने लगे और रामनामकी महिमा सुनाने लगे।...इनकी उपासना दास्य-भावकी थी...(इन्होंने) ब्रह्म-सूत्रपर आनन्द-भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य, वैष्णव-मतांतर-भास्कर, श्रीरामार्चना-पद्धति आदि कई ग्रन्थोंकी रचना की, जिनमेंसे अब बहुतोंका पता नहीं लगता।" (शुक्ल पृ० १२२-४) खेद है कि शुक्लजीने यह नहीं लिखा कि ऊपर बताई हुई पुस्तकोंमें जो लापता हैं वह कौन-कौन हैं और जो बची हैं वे कौन हैं तथा अपना उक्त मत शुक्लजीने किन पुस्तकोंके आधारपर स्थिर किया है। उन्होंने श्रीरामानन्ददिग्विजय और वैष्णव-मतान्तर-भास्करसे दो श्लोक अपनी पुस्तकमें उद्धृत किये हैं और इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि इस मतको शुक्लजीने इन्हीं दो पुस्तकोंके आधार-पर स्थापित किया होगा। मुझे ये पुस्तकें देखनेको नहीं मिली हैं। पर कुछ पण्डितों का दावा है कि रामानन्दजी और चाहे जिस दृष्टिसे रामानुजके मतावलम्बी क्यों न रहे हों, तत्त्वदृष्टिसे वे उनके मतावलम्बी नहीं ही थे। कुछ दूसरे पण्डित ठीक इनके विरुद्ध मतका प्रतिपादन करते हैं, वे तत्त्वदृष्टिसे तो रामानन्दको रामानुजका अनुयायी मानते हैं, पर उपासना-पद्धतिमें एकदम अलग। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सारी परम्परायें रामानन्दका रामानुज-सम्प्रदायसे सम्बन्ध बताती हैं, पर

साथ ही कुछ ऐसी दलीलें भी उपस्थित की गई हैं जिनसे इस अनुमानकी पुष्टि होती है कि दोनों आचार्योंका सम्बन्ध दूरका ही था। कहा गया है कि रामानंदके प्रवर्तित सम्प्रदायमें राम और सीताको जिस प्रकार एकमात्र परमाराध्य माना जाता है उस प्रकार रामानुजके प्रवर्तित श्रीवैष्णवसम्प्रदायमें नहीं। श्रीवैष्णव लोग सभी अवतारोंकी उपासना करते हैं। फिर रामानन्दी लोगोंमें जो मंत्र प्रचलित है वह भी रामानुज-सम्प्रदायके मन्त्रसे भिन्न है। उनका तिलक भी यद्यपि रामानुजी मतके तिलकसे मिलता-जुलता है फिर भी हू-ब-हू वही नहीं है, थोड़ा भिन्न है। स्वयं रामानन्दजी त्रिदण्डी संन्यासी नहीं थे, यह भी सिद्ध किया गया है। फिर और भी एक विचारणीय बात है। रामानन्दी संप्रदायका नाम हू-ब-हू वही नहीं है जो रामानुजीय संप्रदायका। इस प्रकार नीचे लिखी तालिकासे स्पष्ट हो जायगा कि दोनों संप्रदायोंमें सभी महत्त्वपूर्ण बातोंमें भेद है।

	रामानुजीय	रामानंदीय
संप्रदाय—	श्रीवैष्णव सम्प्रदाय	श्रीसम्प्रदाय
मंत्र	ॐ नमो नारायणाय	ओं रामाय नमः
भाष्य—	श्री-भाष्य	आनन्द-भाष्य

फिर भी परम्परासे रामानन्दका संबन्ध रामानुजीय सम्प्रदायसे सिद्ध है। इसका समाधान इस प्रकार किया है: अनुमान कर लिया गया है कि तामिल देशमें बहुत पुराने जमानेसे कोई राम-सम्प्रदाय चला आ रहा था जो कभी श्रीवैष्णवोंमें अन्तर्भुक्त हो गया था। रामानन्द उसी सम्प्रदायके आचार्य थे। कहा गया कि ऐसा मान लेनेसे सभी बातोंकी सन्तोषजनक मीमांसा हो जाती है[१]। पहले एक संशय खड़ा करके फिर उसका समाधान करनेका प्रयत्न भारतीय साधना और साहित्यके इतिहासमें यह अकेला नहीं है।

इधर पं० वैष्णवदासजी त्रिवेदी न्यायरत्न वेदान्ततीर्थने 'कल्याण' में एक लेख लिखा है। उसमें रामानन्दाचार्यके आनन्द-भाष्यके आधारपर बताया गया है कि आचार्यने (रामानन्दने) विशिष्टाद्वैत मतको ही ब्रह्म-सूत्र-सम्मत बताया है। अर्थात् तत्त्व-दृष्टिसे वे रामानुजके मतको ही मानते थे। इस प्रकार "रामानन्दा-

---

१ फर्कुहर पृ०, ३२४—६

चार्यने अनन्य भक्तिको ही मोक्षका अव्यवहितोपाय माना है, प्रपत्तिको मोक्षका हेतु माना है, कर्मको भक्तिका अंग माना है, जगत्का अभिन्न निमित्तोपादानकारण ब्रह्मको माना है। जीवोंका परस्पर भेद और नानात्व माना है। तथैव जीवोंका स्वरूपतः अणुत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और नित्यत्व इत्यादि माना है। जीवोंका ब्रह्मसे भेद माना है। विद्योपकारिका वर्णाश्रम-व्यवस्थाको स्वीकार किया है। विवर्तवादका[१] बारंबार प्रत्याख्यान किया है। 'नातदपंचरात्र'को बहुधा प्रमाण-रूपसे स्वीकार किया है। 'निर्विशेष-ब्रह्म'का अनेक स्थलोंपर निराश करके 'सविशेष-ब्रह्म'का प्रतिपादन किया है। 'सत्ख्यातिवाद'[१]को स्वीकार किया है और वेदोंका अपौरुषेयत्व माना है[२]।" इस मतके लिए आनन्द-भाष्यके उद्धरण उद्धृत किये गये हैं, किन्तु आनन्द-भाष्यकी प्रामाणिकताके बारेमें इधर काफी सन्देह प्रकट किया गया है।

परन्तु एक दूसरी दलील जो फर्कुहरने पेश की है, काफी वजनदार है। कहा जाता है कि रामानन्द ही पहले पहल 'अध्यात्म-रामायण' और 'अगस्त्य-सुतीक्ष्णसंवाद' अपने साथ ले आये थे और इस बातमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि उनके सम्प्रदायमें इन ग्रन्थोंका आज भी बहुत समादर है। प्रसिद्ध राम-भक्त गोसाईं तुलसीदासजीके 'रामचरित-मानस' पर अध्यात्म-रामायणका प्रभाव सबको मालूम है। आज भी रामानन्दी वैष्णव इन ग्रन्थोंको सम्प्रदायमान्य ग्रन्थ मानते हैं, और यह आश्चर्यकी बात है कि ये ग्रन्थ विशिष्टाद्वैतकी अपेक्षा शांकर-

---

१ 'परिणामवाद' अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे उत्तरोत्तर विकार या परिणाम द्वारा सृष्टिका विकास अपने आप होता है ऐसा सांख्य-शास्त्रका मत है। 'आरम्भवाद,' अर्थात् ईश्वरकी इच्छासे परमाणु द्वारा सृष्टि होती है, ऐसा न्याय-शास्त्रका मत है। इन दोनोंके विरुद्ध अद्वैत-वेदान्ती 'विवर्तवाद' को मानते हैं।—अर्थात् जगत् ब्रह्मका विवर्त या कल्पित रूप है, ऐसा मानते हैं। सीपीको यदि कोई भ्रमवश चाँदी समझ ले तो चाँदीको सीपीका विवर्त कहा जायगा। रामानुजीय मतमें 'परिणामवाद' को माना जाता है। दूधका विकृत रूप दही है, वह अन्य वस्तु तो हो जाता है पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह दूधसे भिन्न ही है। परिणामवाद और विवर्तवादको 'सत्कार्यवाद' या 'सत्ख्यातिवाद' कहते हैं और आरम्भ-वादको 'असत्कार्यवाद'। माध्ववेदान्ती भी नैयायिकोंकी भाँति 'असत्कार्यवादी' है।

२ हिन्दुत्व, पृ० ६८४-६८७

मतकी ओर अधिक झुके हैं (तु० अध्यात्म-रामायण १,३२–५१)। म० म० पं० गिरिधर शर्माजीने सप्रमाण सिद्ध किया है कि गोस्वामीजीने रामायणमें अद्वैत-मतको ही मान्य समझा है (तुलसी-ग्रन्थावली, नि० ६३–१३०)। इस प्रकार यह अनुमान असंगत नहीं जँचता कि रामानन्दजीके मतमें भक्ति ही सबसे बड़ी चीज थी, तत्त्ववाद नहीं। उनके शिष्योंमें और सम्प्रदायमें अद्वैत-वेदान्तका पूर्ण समादर है, तथापि वे स्वयं विशिष्टाद्वैत-वादके प्रचारक थे। इसी तरह उनके शिष्योंमें केवल एक बातको छोड़कर अन्य बातोंमें काफी स्वतन्त्रताका परिचय पाया जाता है। वह बात है भक्ति—अनन्य भक्ति। उनके कितने ही शिष्य उनकी भाँति वर्णाश्रम-व्यवस्थाको नहीं मानते, जीवोंका ब्रह्मसे भेद नहीं मानते और कितने ही यहतक नहीं मानना चाहते कि दिव्य गुणोंसे भगवान्‌का सगुणत्व भी सिद्ध होता है और सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्र सगुण ब्रह्मका ही प्रतिपादक है (१,१–२)। केवल एक ही बात उनके सर्व शिष्योंमें समान भावसे समादृत है : अनन्य भक्ति ही मोक्षका अव्यवहित उपाय है। प्रपत्ति या शरणागति ही मोक्षका परम साधन है।

ऐसी हालतमें यह प्रश्न बहुत कुछ गौण हो जाता है कि कबीरने जो कुछ रामानन्दसे चेता था वह रामानन्दके चेते हुए ज्ञानका कौन-सा रूप है। रामानन्दके प्रधान उपदेश अनन्य भक्तिको कबीरने शिरसा स्वीकार कर लिया था। बाकी तत्त्वज्ञानको उन्होंने अपने संस्कारों, रुचि और शिक्षाके अनुसार एकदम नवीन रूप दे दिया था। अबतक हम उनके संस्कारोंकी चर्चा करते आये हैं जिनका प्रभाव उनके पदों और साखियोंमें है और, खूब सम्भव है, जिनका ज्ञान उन्हें रामानन्दजीके सत्संगसे प्राप्त हुआ था। यही ज्ञान कबीरदासको अक्खड़ सिद्धों और योगियोंकी परम्परासे अलग कर देता है। कबीरके विद्यार्थीके लिए इसका बहुत महत्त्व है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि जब हम शंकर, रामानुज और रामानन्दके वेदांत-मतकी चर्चा करते हैं तो हमारा मतलब एक पूरे तत्त्ववाद (फिलासॉफिकल सिस्टम) से होता है; किन्तु कबीरकी वाणियाँ वह चीज नहीं हैं। वेदान्त-मतको पाँच मोटे विभागोंमें बाँट लिया जा सकता है : धर्मविज्ञान (थियॉलॉजी), सृष्टि-तत्त्व (कास्मोलॉजी), अंतःकरणविज्ञान (साइकोलॉजी), मोक्षविज्ञान (लिबरेशन) और जन्मान्तर-व्यवस्था। इनमें प्रथम और अन्तिमके विषयमें तो

कबीरदासने स्पष्ट भाषामें अपना मत व्यक्त किया है, पर बाकी तीनके विषयमें उनका मत अनुमान-सापेक्ष ही है।

वेदान्तशास्त्रके अनुसार मनुष्यका सबसे बड़ा लक्ष्य या पुरुषार्थ मोक्ष है,—मोक्ष अर्थात् छुटकारा। यह संसार दुःखरूप है और मोक्ष ब्रह्म-स्वरूप ही है। अन्य दर्शनोंकी भाँति वेदान्त इसे प्राप्य नहीं मानता। कहा गया है कि मनुष्य जब जान जायगा कि वह क्या है और उसके आत्माका बड़े आत्मासे,—अर्थात् परमात्मासे क्या सम्बन्ध है तो वह छूट जायगा। क्योंकि वह जो छूट नहीं रहा है, उसका कारण अज्ञान है या फिर गलत ज्ञान है। इसीलिए सही ज्ञान ही छुटकारा है। इस सही ज्ञानको 'विद्या' कहते हैं। इसलिए 'विद्या' का एकमात्र विषय है 'आत्मा' या 'ब्रह्म' का ज्ञान। यही कारण है कि इस विद्याको 'आत्म-विद्या,' 'आत्मविज्ञान', 'ब्रह्मविद्या' और 'ब्रह्मज्ञान' शब्दसे पुकारते हैं।

यह जो ब्रह्मकी जानकारी है वह दो प्रकारकी होती है। एकको ऊँची जानकारी या 'परा विद्या' कहते हैं और दूसरीको घटिया जानकारी या 'अपरा विद्या'। पहले प्रकारकी जानकारी (परा विद्या) ही ठीक-ठीक समझने (सम्यग्दर्शन) में सहायक है, इसका एकमात्र फल मोक्ष है। दूसरी जानकारी (अपरा विद्या) का लक्ष्य ब्रह्मोपासना है। इससे कर्म-समृद्धि होती है, सुख और कल्याण (अभ्युदय) प्राप्त होते हैं और धीरे-धीरे मुक्ति भी मिल सकती है (क्रममुक्ति)। पहली विद्याका विषय परंब्रह्म है, दूसरीका अपरंब्रह्म।

श्रुतियोंके परिशीलनसे स्पष्ट ही जान पड़ता है कि ऋषियोंके मस्तिष्कमें ब्रह्मके दो स्वरूप थे: एक गुण, विशेषण, आकार और उपाधिसे परे,—निर्गुण, निर्विशेष, निराकार और निरुपाधि; और दूसरा इन सब बातोंसे युक्त अर्थात् सगुण, सविशेष, साकार और सोपाधि। पहला परंब्रह्म है और दूसरा अपरंब्रह्म। आपात दृष्टिसे ऐसा जान पड़ता है कि यह बात एकदम असंगत है कि एक ही वस्तु एक ही साथ सगुण भी हो और निर्गुण भी, साकार भी हो और निराकार भी, सविशेष भी हो और निर्विशेष भी, सोपाधि भी हो और निरुपाधि भी। इसके उत्तरमें वेदान्ती लोग कहते हैं कि ब्रह्म अपने आपमें तो निर्गुण, निराकार, निर्विशेष और निरुपाधि ही है, परन्तु अविद्या या गलतफहमीके कारण, या उपासनाके लिए हम उसमें उपाधियों या सीमाओंका आरोप करते हैं। वस्तुतः सोपाधिक ब्रह्म भ्रम-मात्र है, ठीक उसी तरह तो नहीं जिस तरह सीपीको चाँदी समझना समझनेवालेका

भ्रम-मात्र है, असलमें वह आर्यभ्रम है; फिर भी गलतीसे यदि कोई सीपीको चाँदी समझ ले तो भी सीपी सीपी ही रहेगी, चाँदी नहीं हो जायगी। इसी प्रकार निर्गुण और निरुपाधि ब्रह्मको जब हम गलतीसे सगुण और सोपाधि मान लेते हैं तब भी वस्तुतः हमीं भ्रममें होते हैं, ब्रह्म तो निर्गुणका निर्गुण और निरुपाधिका निरुपाधि ही बना रहता है। इसीलिए जो 'परं निर्गुणं' ब्रह्म है उसे श्रुतियाँ बार बार इस प्रकार प्रकट करती हैं, "वह मोटा भी नहीं, पतला भी नहीं, छोटा भी नहीं, बड़ा भी नहीं, लोहित भी नहीं, स्नेह भी नहीं, छायायुक्त भी नहीं, अन्धकार भी नहीं, वायु भी नहीं, आकाश भी नहीं..." इत्यादि (बृहदारण्यक ३।८।८); या "यह भी नहीं, वह भी नहीं,—नेति-नेति (वही २-३-६)," या "वह शब्द-रहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, व्ययरहित, रसरहित, गन्धरहित है (कठ० ३-१५)" इत्यादि। किन्तु ये सभी बातें अतद्व्यावृत्ति रूपसे कही गई हैं, अर्थात् इस प्रकारके कथनका अर्थ यह है कि 'परंब्रह्म' समस्त ज्ञात वस्तुओं, गुणों और विशेषणोंसे विलक्षण है। इसका अभावरूप अर्थ नहीं है। कबीरदासने इस शैलीका आश्रय करके भगवान्के विषयमें अनेक पद गाये हैं[१]।

भावरूपसे कहनेके लिए वेदान्ती लोग दो-तीन शब्दोंका व्यवहार करते हैं। सर्वाधिक प्रचलित शब्द हैं सत् और चित्। इन दो शब्दोंसे वेदान्ती बताना चाहते हैं कि 'ब्रह्म है' (सत्) और वह 'चैतन्यस्वरूप' (चित्) है। जिस प्रकार नमकके ढेलेमें बाहरसे भीतरतक सर्वत्र नमकीनी ही नमकीनी है उसी प्रकार ब्रह्म भी शुरूसे आखिरतक केवल चैतन्य ही चैतन्य है। इन दो भावरूपोंके अतिरिक्त एक और भावरूप भी परवर्ती वेदान्त-ग्रन्थोंमे महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सका है। वह है आनन्द। अर्थात् ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। किसी-किसी पण्डितने कहा है कि शुरूके ग्रन्थोंमें इस बातको इतना महत्त्वपूर्ण नहीं

---

१ तुल०—रामकै नांइ नींसान बाबा। ताका मरम न जानै कोई।
भूख-त्रिषा-गुण वाकै नाहीं। घट घट अन्तरि सोई॥
वेद-विवर्जित भेद-विवर्जित विवर्जित पाप रु पुन्यं।
ग्यांन-विवर्जित ध्यान-विवर्जित विवर्जित आस्थूल सुन्यं॥
भेष-विवर्जित भीख-विवर्जित विवर्जित डचँभक रूपं।
कहै कबीर तिहुँ-लोक-विवर्जित ऐसा तत्त अनूपं॥
—क० ग्रं०, पद २१०

समझा गया है। शायद इसलिए कि वह दुःखभावका ही रूप है; क्योंकि श्रुतिमें ही कहा गया है कि व्यावहारिक रूपमें ब्रह्म-भिन्न सब-कुछ दुःखरूप है (बृह० ३, ४, २), इसका मतलब यह हुआ कि जो कुछ हम देख रहे हैं, ब्रह्म उससे भिन्न है और जो कुछ हम देख रहे हैं वह दुःखरूप है इसलिए ब्रह्म दुःखाभावरूप है।

लेकिन श्रुतिमें ब्रह्मको और भी दो प्रकारसे कहा गया है : (१) "वह सब कुछ करनेवाला है, सब कामनाओंसे भरा-पूरा है; सब रसोंका आश्रय है, सर्व-गन्धमय है"···इत्यादि (छान्दोग्य ३–१४); फिर "अग्नि उसका सिर है, सूर्य, चन्द्र आँखें हैं, दिशाएँ कान हैं"···(मुण्डक २-१-४) इत्यादि। इन वाक्योंमें स्पष्ट ही ब्रह्ममें सीमाओंका और गुणोंका आरोप किया गया है। यह इसलिए कि यहाँ लक्ष्य ज्ञान नहीं, उपासना है। ब्रह्मका इस प्रकार सोपाधिक, सविशेषक और सगुणरूप विचार करनेवालेका उद्देश्य ज्ञान नहीं होता, उपासना हुआ करती है। ऐसा करनेसे मोक्ष या निःश्रेयसकी सिद्धि नहीं होती, अभ्युदय या कल्याण-की प्राप्ति होती है। इससे स्वर्ग मिलता है, अपवर्ग नहीं। परन्तु जो साधक उत्तम ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं वे इस मार्गसे चलकर भी धीरे-धीरे मुक्ति पा लेते हैं। (२) कभी-कभी ब्रह्मको श्रुतिमें 'छोटेसे-छोटा' 'अंगुष्ठमात्रपुरुष,' 'हृदय-कमल-वासी' और 'वामन' आदि भी कहा गया है। ऐसे स्थलोंपर अभिप्राय जीवात्मासे होता है।

यह जो गुणमय अपरंब्रह्म है उसीपरसे वेदान्त-शास्त्रका ईश्वरसम्बन्धी विचार विकसित हुआ है। इस गुणमय ईश्वरसे ही ससारका कारबार चलता है। यही जीवको उसके कर्मोंके शुभाशुभ फलका दाता है। मायावादी वेदान्ती कहते हैं कि मायोपाधिक चैतन्य ही परमेश्वर है। इसे और मायाको ठीक-ठीक समझनेके लिए थोड़ा और भी अवान्तर प्रसंग उठाना पड़ेगा।

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियोंने इस गुणमय जगत्पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें दो अत्यन्त स्पष्ट तत्त्व हैं : एक शाश्वत है, दूसरा परिवर्तनशील; एक सदा एक-रस है, दूसरा नाशवान्; एक चेतन है, दूसरा जड़। मतभेद तब शुरु होता है जब उनके सम्बन्धोंपर विचार किया जाता है। एक तरहके पण्डित हैं जो इन दोनों तत्त्वोंको स्वतंत्र मानते हैं,—इन दोनोंका सम्बन्ध केवल योग्यताका सम्बन्ध है, परन्तु दूसरे आचार्य हैं जो मानते हैं कि

वस्तुतः इन दोनोंकी सत्ता नहीं है, दूसरा पहलेकी ही शक्ति है। पहलेको आत्मा कहते हैं, सांख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्त्वको 'प्रकृति' या 'माया' कहते हैं। गीतामें भगवान्ने प्रकृतिको अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टिको प्रसव करती है (गीता—९, १०)। वेद-बाह्य बौद्धादि संप्रदायके लोग यह मानते हैं कि यह चेतन सत्ता साधनाके द्वारा जब प्रकृतिके बन्धनोंसे मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हो जाती है जिस प्रकार दीपककी लौ; परन्तु इस बातमें वे भी विश्वास करते हैं कि शरीर और इन्द्रियादिकी अपेक्षा वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सैकड़ों जन्म ग्रहण करनेके बाद सैकड़ों शरीरों और इन्द्रियोंसे युक्त हो लेनेके बाद 'निर्वाण'की अवस्थाको अर्थात् बुझ जानेकी अवस्थाको प्राप्त होती है।

सांख्यशास्त्रियोंके मतसे पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजालमें बाँधती है। पुरुष विशुद्ध चेतन-स्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जबतक उसे अपने इस स्वरूपका ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक वह प्रकृतिके जालमें फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृतिका ही विकास है। प्रकृति सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम है। सारे दृश्यमान जगत्को सांख्यवादी प्रधानतः चार भागोंमें बाँटते हैं: (१) प्रकृति, (२) प्रकृति-विकृति, (३) विकृति, (४) न-प्रकृति-न-विकृति। चौथा 'पुरुष' है जो न प्रकृति ही है और न उसका विकार ही (सांख्य-कारिका ३)। बाकी तीनमें 'प्रकृति' तो अनादि ही है। प्रकृतिसे 'महान्' या 'बुद्धि तत्त्व' उत्पन्न होता है, उससे 'अहंकार' और उससे पाँच 'तन्मात्र' (अर्थात् शब्द-तन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूप-तन्मात्र, रस-तन्मात्र, गन्ध-तन्मात्र) उत्पन्न हुए हैं। एक तरफ तो 'महान्' या बुद्धितत्त्व मूल प्रकृतिका विकार है और दूसरी तरफ अहंकारकी प्रकृति भी है। इसी प्रकार अहंकार और पंच-तन्मात्र भी एक तरफ तो क्रमशः 'महान्' और अहंकारके विकार हैं और दूसरी तरफ क्रमशः पंच-तन्मात्र और पंचमहाभूतादिकोंकी प्रकृति भी है। यही कारण है कि सांख्यशास्त्री इन्हें प्रकृति-विकृति कहते हैं। इस तरह महान्, अहंकार और पंचतन्मात्र ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति हुए। इनसे पाँच, ज्ञाने-न्द्रियाँ (कान, त्वचा, आँख, रसना, नाक) और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ-पाँव, जीभ, पायु, उपस्थ) हैं। इन दस इन्द्रियों, मन और पाँच महाभूतों

(अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) को विकृति कहते हैं। इन्हीं पचीस तत्त्वोंसे सारी सृष्टि बनी है। किंतु वेदांती लोग प्रकृति और उसके विकार-स्वरूप २३ पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानते। उनका मत है कि वस्तुतः एक परब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है। हम अज्ञानवश इन नाम-रूपात्मक जगत्को वास्तविक समझने लगते हैं।

जो हो, इस विषयमें भारतीय दार्शनिकोंमें प्रायः कोई मतभेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है जो बाहरी दृश्यमान जगत्के विविध परिवर्तनोंके भीतरसे गुजरता हुआ सदा एक-रस रहता है। ये सभी पंडित स्वीकार करते हैं कि जबतक ज्ञान नहीं हो जाता, तबतक यह आत्मा जन्म-कर्मके बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख-सुखसे परे है, और चित्स्वरूप है, तो जन्म और कर्मके बन्धनमें पड़ता कैसे है और मृत्युके बाद एक जन्मका कर्म-फल दूसरे जन्ममें ढोकर ले क्यों कर जाता है ? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्यके फल कैसे दूसरे जन्ममें पहुँच जाते हैं ? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्म-फल जड़ हैं, अतः उनमें इच्छा नहीं होती, इसलिए यह तो साफ प्रकट है कि वे इच्छा-पूर्वक आत्माका पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे सम्भव है कि इस जन्मका कर्मफल दूसरे जन्ममें मिलता ही हो ? सीधा जवाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्थाको इस ढगसे चला रहा है, परंतु यह उत्तर युक्तिवादी दार्शनिकोंको पसन्द नहीं है। वे उसका और कोई कारण बताते हैं। देखा जाय, यह बात कैसे सम्भव होती है !

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए शास्त्रकारोंने लिंग-शरीरकी बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीरसे दूसरेमें संक्रमित होता है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रको छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरको परित्याग कर नवीन शरीर धारण करता है (गीता २–२२)। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृणसे दूसरेपर जाते समय पहले अपने शरीरका अगला हिस्सा रखती है और फिर बाकी हिस्सेको खींच लेती है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरको छोड़कर नये शरीरमें प्रवेश करता है (बृहदारण्यकोपनिषद् ४, ४३)। इससे केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आत्मा स्वयं ही दूसरे शरीरमें

प्रवेश करता है, पर उदाहरणसे सिद्धान्त निकालना ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरण केवल क्रियाके एक अंशके लिए ही प्रयुक्त होता है। उपनिषदोंमें बार-बार कहा गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी जाता है। बृहदारण्यकमें बताया गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, प्राण, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, अतितेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब कुछ लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है (बृहदारण्यक ४, ४, ५)। इसका अर्थ यह हुआ कि आत्माके साथ ही साथ समस्त धर्माधर्म तथा तन्मात्रगण बँधे होते हैं। सांख्यकारिकामें (सांख्य-कारिका ४०) करीब-करीब इन सभी बातोंको एक शब्दमें 'लिंग-शरीर' कहा गया है। बताया है कि प्रकृतिके विकारस्वरूप तेईस तत्त्वोंमें अंतिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, बाकी अठारहों तत्त्व मृत्युके समय पुरुषके साथ ही साथ निकल जाते हैं। जबतक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तबतक ये तत्त्व उसके साथ-साथ लगे होते हैं। अब, यह तो स्पष्ट ही है कि इन अठारह तत्त्वोंमेंसे प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहंकार, मन और दसों इंद्रिय तो प्रकृतिके गुण-मात्र हैं, उनकी स्थितिके लिए किसी ठोस आधारकी जरूरत है। वे बिना आधार रह ही नहीं सकते। वस्तुतः पंचतन्मात्रोंको मृत्युके समय आत्माका अनुसरण करते जो बताया गया है, वह इसीलिए कि वे तन्मात्र उक्त तेरह तत्त्वोंको वहन करनेका सामर्थ्य रखते हैं,—ये अपेक्षाकृत ठोस हैं। जबतक मनुष्य जीता होता है, तबतक तो उसका स्थूल शरीर इन गुणोंका आश्रय होता है, पर जब वह मर जाता है तब पंचतन्मात्र ही इन गुणोंके वाहक होते हैं (सांख्यकारिका ४१)। उपनिषदोंमें इसी बातको और ढंगसे कहा गया है। इनके अनुसार प्रकृति या माया कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है, केवल ब्रह्म या आत्माका ही नामरूपात्मक स्वरूप है। बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है और स्थिर शाश्वत वस्तु आत्मा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार हार, अँगूठी, कंकण आदिमें बदलनेवाली वस्तु नाम और रूप है, पर स्थिर वस्तु सोना है। नाम-रूपका आवरण सर्वत्र एक-सा ही नहीं है। कहीं वह गाढ़ा है, कहीं पतला। इसके भी नाना स्तर हैं। जड़ है, चेतन है; फिर चेतनकी भी लाखों योनियाँ हैं। इन सब योनियोंमें मनुष्य-योनि श्रेष्ठ है। आत्माके दो आवरण हैं। पहला आवरण तो शुक्र-शोणित-निर्मित शरीर है। इसीको उपनिषदोंमें अन्नमय-कोष कहा गया है। दूसरा आवरण अधिक सूक्ष्म

है। उसमें क्रमशः प्राणमय, मनोमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं (तैत्तिरीय उपनिषद् २, १, ५; ३, २, ६)। इसका अर्थ यह है कि स्थूल शरीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उनकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबकी अपेक्षा सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि इन्द्रियगण पर (सूक्ष्म) हैं, पर इनसे भी सूक्ष्म मन है और उससे भी सूक्ष्म बुद्धि है और इस बुद्धिसे भी सूक्ष्म जो कुछ है, वही वह (आत्मा) है (गीता ३, ४२)। स्थूल अन्नमय कोषको छोड़कर बाकी जो सब कोष हैं, उन्हें, इद्रियों और पंचतन्मात्रोंको वेदान्ती लोग सूक्ष्म या लिंग-शरीर कहा करते हैं[1]। जब मृत्युके बाद स्थूल देहसे आत्माका विच्छेद हो जाता है, तब भी लिंग शरीरसे उसका छुटकारा नहीं होता। गीतामें कहा गया है कि आत्मा उसी प्रकार प्रकृतिस्थ मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको खींचकर अपने साथ ले जाता है, जिस प्रकार वायु पुष्पादि आश्रयसे गन्धको (गीता १५, ७–८)। इस प्रकार शास्त्रकारोंका सिद्धान्त है कि मृत्युके बाद आत्माके साथ ही साथ एक लिंग-शरीर जाता है, जो समस्त कर्मफलात्मक संस्कारोंको साथ ले जाता है। इस लिंग-शरीरमें जिन अठारह तत्त्वोंका समावेश है, उनमें बुद्धि-तत्त्व ही प्रधान है। वेदांती लोग जिसे 'कर्म' कहते हैं, उसीको सांख्यवादी बुद्धिका 'व्यापार', 'धर्म' या 'विकार' कहते हैं। इसीको सांख्यकारिकामें 'भाव' कहा गया है। जिस प्रकार फूलमें गंध और कपड़ेमें रंग लगा रहता है, उसी प्रकार यह 'भाव' लिंग-शरीरमें लगा रहता है (सांख्य-कारिका ४०)।

यह कह सकना कठिन है कि यह जगत् कब उत्पन्न हुआ था अर्थात् इस

---

१ वेदान्तमें कई प्रकारसे यह बात बताई गई है। कहीं इसके ये सत्रह अवयव बताये गये हैं: पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार १३)। फिर आठ पुरियोंका उल्लेख है। यह पुर्यष्टक ही लिंग-शरीर बताया गया है। आठ पुरियाँ ये हैं: १ पाँच ज्ञानेन्द्रिय, २ पाँच कर्मेन्द्रिय, ३ मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, ४ प्राण, ५ पाँच भूत-सूक्ष्म या तन्मात्र, ६ अविद्या ७ काम, ८ कर्म (सुरेश्वराचार्यका पंचीकरण वार्तिक ३२–३७)। इसका और अन्य विधानोंका सामंजस्य रामतीर्थ-लिखित वेदान्तसार (१३) की विद्वन्मनोरंजनी टीकामें देखना चाहिए।

नाम-रूपात्मक जड़-जगत्‌की स्थिति कबसे है। यह अनादि है, इसलिए यह कर्म-प्रवाह भी अनादि है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में नाम और रूपके साथ कर्मकी भी गणना है (बृहदारण्यक १, ६-१)। वेदान्ती लोग यद्यपि इसे सांख्यवादियोंकी भाँति स्वतंत्र तत्त्व नहीं मानते, तथापि कर्म-प्रवाहको तो अनादि मानते ही हैं। आत्माको जब अपनी और प्रकृति या मायाकी वास्तविक सत्ताका ज्ञान हो जाता है, तभी वह कर्म-बन्धसे मुक्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि ज्ञानकी अग्नि समस्त कर्मोंको भस्मसात् कर देती है और ज्ञानसे बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नहीं है (गीता ४-३७-३८)। उपनिषदोंमें ब्रह्मको सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप कहा गया है (तैत्तिरीय २, १; बृहदारण्यक ३-६-२२)। ऐसा माननेके कारण समूचा हिंदू-साहित्य ज्ञानको एक विशेष दृष्टिकोणसे देखता है। वह यह नहीं मानता कि ज्ञानकी प्राप्तिमें मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है, उसकी दृष्टिमें चरम ज्ञान अपने आपमें ही है। यद्यपि ज्ञान अनंत है, पर उसका अपना वास्तविक रूप भी वैसा ही है। इसलिए चरम और अनन्त ज्ञानको पाना असंभव तो है ही नहीं, उसके साध्यके भीतर ही है। हिन्दू-साहित्यमें इसीलिए नित्य नवीन ज्ञानके अनुसंधानके प्रति एक प्रकारकी उदासीनताका भाव है। वह उस विद्याको विद्या ही नहीं मानता जो मुक्तिका कारण न हो[1], जो मनुष्यको कर्म-बंधनसे छुटकारा न दिला दे। इस बातने भी सारे हिन्दू साहित्यको प्रभावित किया है।

शास्त्रकारोंने कर्मको समझनेके लिए कई प्रकारके भेद किये हैं। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि कायिक, वाचिक और मानसिक : ये तीन प्रकारके कर्म हैं और उनकी गति भी उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे तीन प्रकारकी होती है (मनु १२-३)। शातातपने सैकड़ों प्रकारके पापों, उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले रोगोंका उल्लेख किया है और उनके प्रायश्चित्तका भी विधान किया है। पुराणोंमें कर्मविपाकके विषयमें बहुत-कुछ कहा गया है। गरुड़-पुराणमें विस्तृत रूपसे अनेक कर्म और तज्जन्य प्राप्त फलोंका उल्लेख है। शास्त्रोंमें साधारणतः तीन प्रकारके कर्म बताये गये हैं : संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्यने जो कुछ कर्म किया है, उसे 'संचित कर्म' कहते हैं। जिस पुराने कर्मके फलको वह भोग रहा

---

१ सा विद्या या विमुक्तये।

है उसे 'प्रारब्ध कर्म' कहते हैं। जो कुछ वह नये सिरेसे करने जा रहा है, उसे 'क्रियमाण कर्म' कहते हैं। ज्ञान होनेपर संचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, पर प्रारब्ध कर्मको भोगना ही पड़ता है। ज्ञानकी अग्निसे संचित कर्म जलकर दग्ध बीजकी तरह निष्फल हो जाते हैं और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मोंके संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जैसे कुम्हारका चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेनेपर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है (सांख्य-कारिका—६७)। इन बातोंमें स्वर्ग और नरकके विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबन्धके दार्शनिक रूपके साथ स्वर्ग-नरकके पौराणिक विचारोंका सामंजस्य भी किया गया है। साधारणतः पुण्य कर्मसे आत्माका कुछ दिनतक स्वर्गमे रहना और फिर पुण्य क्षीण होनेपर मर्त्यलोकमें आ जाना (गीता—९, २०-२१) और इसी तरह पाप-भोगके लिए कुछ दिन नरकमें जाना और भोग लेनेके बाद फिर मर्त्यलोकमें आ जानेकी बात भी कही गई है। सांख्यकारिकामें बताया गया है (सां० का०—४१) कि धर्म (पुण्य) के द्वारा ऊर्ध्वगमन, अधर्म (पाप) के द्वारा अधोगमन होता है। ज्ञानसे मोक्ष और अज्ञानसे बन्धन होता है। महाभारतमें एक और विचित्र बात बताई गई है (स्वर्गारोहण पर्व—३, १४) कि जो आदमी अधिक पुण्यशाली होता है, वह पहले अपने स्वल्प पापोंको भोगनेके लिए नरकमें जाता है, और फिर स्वर्गमें और जो आदमी अधिक पापी होता है वह इसी प्रकार अपने स्वल्प पुण्योंको भोगनेके लिए पहले स्वर्गमें जाता है और फिर नरकमें। कुछ विद्वानोंका विचार है कि स्वर्ग-नरक-विचार और मोक्ष-विचार ये दोनों दो जातिके भारतीय मनीषियोंकी चिन्ताके परिचायक हैं। पहले विचार वैदिक ऋषियोंके हैं और दूसरे वेद-बाह्य आर्येतर मुनियोंके। उपनिषद्कालमें ये दोनों विचार मिलना शुरू हुए और काव्य-कालमें पूर्ण रूपसे मिलकर एक जटिल परलोक-व्यवस्थामें परिणत हो गये।

यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही माया है। पर जो माया चैतन्यस्वरूप ब्रह्मको ईश्वररूपमें प्रकट करती है वह सत्त्व-गुण-प्रधान है, अर्थात् उसमें रजोगुण और तमोगुणका प्रायः अभाव है। कुछ वेदान्ती आचार्य प्रकृतिको दो प्रकारकी मानते हैं: विशुद्ध सत्त्वप्रधान और अविशुद्ध सत्त्वप्रधान। पहलीको 'माया' कहते हैं; दूसरीको 'अविद्या'। पहली ईश्वरकी उपाधि है दूसरी जीवकी (पंचदशी १, १५-१६); इसीलिए कहा जा सकता है कि माया ही संसारको चला रही

है, क्योंकि मायोपाधिक चैतन्य ही ईश्वर है। इसी भावको लक्ष्य करके कबीरदासने कहा था कि यह रघुनाथकी माया ही है जो शिकार खेलने निकली है और साम्प्रदायिक जालोंमें फँसाकर मुनि, पीर, जैन, जोगी, जंगम, ब्राह्मण और संन्यासीको मार रही है[1]। स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि कबीरदासका यहाँ 'रघुनाथ' से तात्पर्य वेदान्तियोंके परब्रह्मसे है। परन्तु कबीरदासके पदोंसे जान पड़ता है कि उन्होंने 'माया' को 'अविद्या' से अलग करके नहीं देखा। वेदान्त-ग्रन्थोंमें माया और अविद्याकी एकात्मताके पोषक वाक्य बहुत-से मिल सकते हैं। सो, माया ही कबीरदासके मतसे जीवोंको भरमा रही है। वही उन्हें भी भुलवाने पहुँची थी। कबीरने होशियारीसे जवाब दिया था कि 'माया बहन, तू यहाँसे चली जा, कबीर फँसनेवाला जीव नहीं है। तुझे तो पाट-पटंबर चाहिये और बेचारा कबीर कमीनी जातिका जुलाहा है।' माया सहज ही छोड़नेकी नहीं। उसने जवाब दिया, 'भई, मैं तो अपना काम करती ही जाऊँगी। अपने साहबको मुझे लेखा तो देना ही पड़ेगा।' कबीर बोले, 'माया रानी, पत्थर नहीं भींज सकता। कबीर नहीं डिगेगा। जिस मच्छकी तू मच्छी है वह मेरा रखवाला है। जरा भी तेरी ओर नजर डालूँ तो वह नाराज हो जाय। तू और जगह जा[2]।'

और भी आगे बढ़कर कबीर-पंथमें एक और अध्याय जोड़ा गया था। निरंजन-विषयक विचार हम देख चुके हैं। माया इसी निरंजनकी शक्ति है। ब्रह्माण्डमें जो माया है, पिण्डमें वही कुण्डलिनी है। कुण्डलिनीका ही नाम माया

---

१ तू माया रघुनाथकी खेलणा चली अहेड़ै।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोई न छोड्या नेड़े।
मुनिवर पीर दिगम्बर मारे जतन करंता जोगी।
जंगल-महिके जंगम मारे तूँ र फिरे बलवन्ती।
वेद पढ़ंता ब्राह्मण मारा सेवा करंता स्वामी।
अरथ करंता मिसर पछाड़या तूँ र फिरै मैमंती॥
साषितकै तूँ हरता-करता हरिभगतनकी चेरी॥
दास कबीर रामकै सरने ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी॥
—क० ग्रं०, पद १८७

२ क० ग्रं०, पद २७०

है, आद्याशक्ति है, नागिन है, ठगिनिया है और और भी कई नाम हैं। इसी नागिनका फुफकार प्रणव है। इसी तरह ब्रह्माण्डमें जो वस्तु निरंजन है वही पिण्डमें मन है। इसीको 'नाग' कहते हैं। इसी 'नाग' और 'नागिन' ने मिलकर यह सारा प्रपंच खड़ा किया है। इसी नागिनकी जहरीली फुफकार जो प्रणव है उसकी उपासनामें दुनिया भटक रही है। इन्हें जो मार सकता है वही विजयी होता है (कबीर-मन्सूर, पृ० ६२५)।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यह कबीर-पंथका नया अध्याय है, क्योंकि, कबीरदासके पदोंमें ओंकार या प्रणवकी महिमा खूब गाई गई है। ज्ञानचौंतीसाके आरम्भमें ही जो यह बताया गया[1] है कि ॐकारका जप तो सभी करते हैं, पर उसका मर्म विरला ही कोई जानता है, उसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि लोग बिना समझे-बूझे, ऊपरी मनसे या दिखावेके लिए इसका जाप करते हैं। पर इस पदके साम्प्रदायिक व्याख्याकर 'मर्म' शब्दका दूसरा ही अर्थ कर लेते हैं। 'मर्म' का वास्तविक अर्थ महिमा नहीं बल्कि वास्तविक 'जहरीलापन' है! टीकाकार क्या नहीं कर सकते?

कबीरदासने मायाके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है वह वस्तुतः वेदान्त द्वारा निर्धारित अर्थमें ही। खूब सम्भव है कि कबीरदासने भक्तिसिद्धान्तके साथ ही मायासम्बन्धी उपदेश भी रामानंदाचार्यसे ही पाया था, इसीलिए वे बराबर भक्तको माया-जालसे अतीत समझते हैं। यहाँ इतना और कह रखा जाय कि कबीरदासके 'निर्गुण ब्रह्म' में 'गुण' का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण हैं, इसलिए 'नर्गुण ब्रह्म' का अर्थ वे निराकार, निस्सीम आदि समझते हैं, निर्विषय नहीं।

ऊपरकी चर्चापरसे यदि किसी नतीजेतक पहुँचा जा सकता है तो वह यही है कि (१) आचार्य रामानन्दने अपने शिष्योंको किसी वेदांतिक वादका बंधन नहीं लगाया था। वे स्वयं यद्यपि विशिष्टाद्वैतवादी थे, पर अद्वैतवादी भक्तिग्रन्थोंको बड़े सम्मानकी दृष्टिसे देखते थे। उनके लिए भक्ति ही बड़ी चीज थी, फिर चाहे वह निर्गुणकी हो या सगुणकी, द्वैत-भावसे हो या अद्वैत-भावसे। (२) उनकी

---

१ वो ॐकार आदि जो जानै। लिखिक मेटै ताहि सो मानै॥

वो ॐकार कहै सब कोई। जिन्हि वह लखा सो बिरलै होई॥

—बीजक-ज्ञानचौंतीसा १

उपदिष्ट भक्ति भिन्न-भिन्न रुचि, विद्या और संस्कारवाले शिष्योंमें नाना रूपमें प्रकट हुई और (३) कबीरदासके पदोंसे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, एकेश्वरवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षणवाद आदि कई परस्परविरोधी मतोंके समर्थन हो सकते हैं, पर इस विरोधका कारण कबीरदासके विचारोंकी अस्थिरता नहीं है बल्कि यह है कि वे भगवान्‌को अनुभवैकगम्य और निखिलातीत तथा समस्त ऐश्वर्यों और विभूतियोंका आधार समझते थे। इसीलिए लौकिक दृष्टिसे जो बातें परस्परविरोधी दीखती हैं, अलौकिक भगवत्स्वरूपमें वे सब घट जाती हैं। यह बात भक्तिकी दुनियामें नई नहीं है। भक्त लोग एक ही साथ भगवान्‌के लिए कई परस्परविरोधी विशेषणोंका व्यवहार करते हैं। लघुभागवतामृत (पृ० ३१७) में बताया गया है कि प्राकृत विशेषणोंसे भगवान्‌के अचिन्त्य रूपका बोध दुष्कर है। यही कारण है कि उनमें ऐसे अनेक विशेषणोंका प्रयोग किया जाता है जो लौकिक दृष्टिसे परस्परविरोधी जँचते हैं। इस अन्तिम बातकी विवेचना करनेका अवसर हम आगेके अध्यायमें भी पायेंगे।

---

९. निर्गुण राम

कई बार कबीरदासके आलोचकोंने आश्चर्य प्रकट किया है कि उन्होंने निर्गुण रामकी उपासना कैसे बताई। वेदान्त-ग्रन्थोंमें ब्रह्मज्ञानके कई प्रकारके अधिकारी बताये गये हैं। उत्तम अधिकारी ब्रह्मके चैतन्यमय स्वरूपकी उपलब्धि करके जीते ही जीते मुक्त हो जाता है, अर्थात् ज्ञान प्राप्त होनेके बाद यद्यपि उसका शरीर कुछ दिनोंतक आहार, निद्रा आदि विकारोंका वशवर्ती रहता है पर वस्तुतः उसका आत्मा छुटकारा पा गया होता है। जिस प्रकार कुम्हारका चक्का डंडेके घूर्णन-वेगके हटा लेनेपर भी पुराने वेगके कारण कुछ और देरतक घूमता है उसी प्रकार जीवन्मुक्तका शरीर कुछ और कालतक चलता रहता है, पर असलमें उसका आत्मा मुक्त हो गया होता है। "जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन अवस्था-रूप जो माया है वही त्रैलोक्यका कारण है। जो कुछ दिख रहा है वह सभी इस मायाके कारण। किन्तु, परंब्रह्मके दर्शनके बाद मायाकी मरीचिका जाती रहती है और जगत् असत्य भासने लगता है। सकल-वस्तु-स्वरूप वह परब्रह्म नामरूप और क्रियासे रहित है। किन्तु जो इस जगत्की मायाके बलसे सृष्टि करता है वह ईश्वर है। यही ईश्वर सब-कुछमें प्रविष्ट हो रहा है।" (आत्मज्ञान ४—५)। उत्तम अधिकारी इस तत्त्वको शम-दम-नियम-संयमादिके अभ्यासके द्वारा आयत्त कर लेता है (पंच० ९-२०), परन्तु बुद्धिकी अत्यन्त मन्दताके कारण या साधनोंके अभाववश जो व्यक्ति उत्तम अधिकारी नहीं हो सकता वह क्या करे? क्या वह सगुणकी ही उपासना करे और 'परं निर्गुण ब्रह्म' की आशा छोड़ दे? पंचदशीमें विद्यारण्यस्वामीने उत्तरमें कहा है कि नहीं; वह निर्गुण तत्त्वकी उपासना करे। यदि कहो कि जो वाणी और मनके गोचर है ही नहीं उसकी उपासना कैसे हो सकती है, तो उल्टे तुम्हींसे प्रश्न किया जा सकता है कि जो वस्तु वाणी और मनके परे है, अर्थात् जिसतक न तो वाणी पहुँच पाती है और न मन, उसका अनुभव भी तो संभव नहीं है, उसका जान लेना भी तो संभव नहीं दिखता। फिर यदि यह संभव है तो उपासना क्यों

संभव नहीं है[1] ? विद्यारण्यस्वामीके कथनमें ही कबीरके आलोचकोंका उत्तर पाया जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट भाषामें कहा है कि निर्गुण ब्रह्मतत्त्वकी उपासना असंभव नहीं है (९, ५५)।

कुछ साम्प्रदायिक पंडितोंकी ओरसे इस प्रकारके 'रहस्योद्घाटन' का दावा किया गया है कि सन्त-मतके प्रवर्तक आदि गुरु कबीरसाहबके विचार हैं कि जो मन्दाधिकारी सत्त्वशुद्धिके अभावसे आत्म-विचार नहीं कर सकता वह निर्गुण ब्रह्मोपासना भी नहीं कर सकता, क्योंकि महावाक्यजन्य परोक्ष-ज्ञानसे होनेवाली ब्रह्मोपासना मनकी कल्पना है। इस कारण उससे हृदयके विकार अहंकारादिककी निवृत्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत महा अहंकारकी उत्पत्ति होती है जो कि वासना-वाले मन्दाधिकारियोंको हानि पहुँचा सकती है। जो हृदय वासना-पंकिल है उसमें ब्रह्मदेवकी प्रतिष्ठा किस प्रकार हो सकती है ? अतः विकारोंको दूर करनेके लिए भी विषयानित्यता और परिणाम-विरसता (अर्थात् विषय अनित्य है और परिणाममें विरस है) इत्यादिक विचार ही उपयुक्त हैं।''कामनादिक विकार-वाले पुरुष पूर्वोक्त विचारके बिना ब्रह्मोपासनासे आत्मसाक्षात्कार नहीं कर सकते, अतः विकार-निवृत्तिके लिए विचार करनेकी अनुमति सद्गुरुने इस प्रकार दी है—

करु विचार जिहि सब दुख जाई। परिहरि झूठाकेर सगाई ॥

और

भव अति गरुआ दुख-करि भारी। करु जिय जतन जो देखु बिचारी ॥

तथा

खरा-खोट जिन्ह नहिं परखाया। चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया ॥

इत्यादि।

---

[1] अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मैवोपासीत सोऽनिशम् ॥
निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः।
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥
अवाङ्मनसगम्यं तन्नोपास्यमिति चेत्तदा।
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥
वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ।
वागाद्यगोचराकारामित्युपासीत नो कुतः ॥—पंच० ९, ५४–५७

वस्तुतः यम-नियमादि अनुष्ठानपूर्वक किये जानेवाले संसारानित्यादि विचारसे सत्त्व-शुद्धि हो जानेपर ब्रह्मोपासनाकी आवश्यकता नहीं रहती[१]।

इस प्रसंगमे विद्यारण्य स्वामीके इस मतपर शंका प्रकट की गई है—

यावच्चिन्त्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते।
तावद्विचिन्त्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत्[२]।—पंच० ९-७८

इस देशमें विद्यारण्य स्वामीके भक्तों और समर्थकोंकी कमी नहीं है। वे विद्वान् और समर्थ भी हैं। निश्चय ही वे इस शंकाका जवाब दे लेंगे। हमें यहाँ उस उलझनमें पड़नेकी कोई जरूरत नहीं है। पर कबीरदासके नामपर प्रचलित पदों और साखियोंका सीधा-सादा अर्थ करनेपर हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि निस्संदेह कबीरदासने आत्म-विचारको बहुमान दिया है, पर जो लोग उसके अधिकारी नहीं हैं उनके लिए 'निर्गुण राम' के जपनेका उपदेश भी दिया है। निर्गुण रामके जपका अर्थ वही है जो महावाक्योंके चिन्तनका अर्थ है। नाम-जपका महावाक्य-चिन्तनसे इतना अन्तर जरूर है कि नाम-जप करनेवाला जहाँ विचारसे बिलकुल शून्य रह सकता है वहाँ महावाक्योंका मनन करनेवाला किसी-न-किसी कोटिके विचारमें लगा ही रहेगा। महावाक्यके स्मरणसे अपनेमें ब्रह्मत्वाभिमान होनेका मतलब ही यह है कि अपनेको ब्रह्म समझते रहनेका अभ्यास करना। हमने पहले ही लक्ष्य किया है कि कबीरदास 'भाई' संबोधनके द्वारा साधारण सांसारिक जीवोंको संबोधन करते हैं और उसे अपना व्यक्तिगत उपदेश देते हैं—हे भाई, निर्गुण रामका जप करो। अविगतिकी गति लखना सहज नहीं है (तुलनीय०—अवाङ्मानसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत्—पंच०

---

१ विचार०, पृ० २१—२३

२ उपनिषदोंमें 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (बृह० ४-१०), 'वह तू ही है' (छान्दोग्य ६-७-८) आदि महावाक्योंसे ब्रह्मके साथ जीवकी अभिन्नता बताई गई। यह अभिन्नता जाननेकी चीज है। ज्ञानसे ही वह प्राप्त होती है। पर जो व्यक्ति इस ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सका है उसके लिए यह विधान किया गया है कि वह तबतक इन महावाक्योंका मनन करता हुआ अपनेको ब्रह्मसे अभिन्न समझनेका प्रयत्न करता रहे जबतक कि उसे अपनेमें ब्रह्मत्वका अभिमान (=मानना) न हो जाय। उक्त उद्धरणमें इसी विचारका विरोध किया गया है।

९-५६) वेद और पुराण, स्मृति और व्याकरण, शेष, गरुड़ और कमला भी जिसे नहीं जान सके (उसे जाननेकी चेष्टा करना साहसका कार्य है) सो, कबीरदासकी सलाह है कि हरिकी छाया पकड़ो—उन्हींकी शरणमें जाओ[१]। अरे ओ पगले, भूला-भूला क्यों फिर रहा है? कामनाओंका त्याग कर, हरिका नाम जप, वही अभयपदका दाता है,—कबीरा कोरीकी यह बात गाँठ बाँध ले[२]। इस रामके साथ विषयोंका कुछ अग्नि-तृणका-सा संबन्ध है। यह कहना कि पहले वासनायें हट जायें तभी राम आयेंगे, नहीं तो 'वासना-पंकिल हृदयमें ब्रह्मदेवकी प्रतिष्ठा' संभव नहीं है, विषयोंको रामसे जबर्दस्त समझनेके समान है। कमसे कम कबीरदास वासनाको रामकी अपेक्षा जबर्दस्त माननेको तैयार नहीं थे। एक बार उनके राम,—उनके निर्गुण ब्रह्म जिसके हृदयमें आ जाते हैं वह अनायास ही मति-बुद्धि पा जाता है। लालच और विषयरसमें आपादमस्तक डूबे हुए व्यक्तियोंसे वे ललकारते हुए कहते हैं कि भाई, तरे वही जिन्होंने राम-रसका आस्वादन किया। बकवादी तो डूब मरे, क्योंकि उन्होंने रामको कभी याद ही नहीं किया[३]। ए मेरे मन, तू अविनाशी हरिका भजन कर। उन्हें छोड़कर और कहीं न जा। अगर तू विषयरूप दीपके पास फिर रहा है तो निश्चय मान कि तू पतिंगा होकर जल जायगा। जिस प्रकार भ्रमरीके ध्यानमें मगन कीट खुद भी

---

१ निर्गुण राम जपहु रे भाई, अविगतिको गति लखी न जाई।
चारि वेद जाके सुमृत पुरांनां। नौ व्याकरनां मरम न जांनां।
सेस-नाग जाके गरुड समांनां। चरन-कँवल कँवला नहिं जांनां॥
कहै कबीर जाकै भेदै नाहीं। निज जन बैठे हरिकी छांहीं॥
क० ग्रं०, पद ४९

२. परिहरि काम रांम कहि बौरे सुनि सिख बन्धू मोरी।
हरिकौ नांव अभैपददाता कहै कबीरा कोरी॥
क० ग्रं०, पद ३४६

३ रसनां रांम गुन रमि रस पीजै। गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि-बुधि-मति पाई॥
विष तजि राम न जपसि अभागे। का बूड़े लालचके लागे॥
ते सब तिरे रांमरसस्वादी। कहै कबीर बूड़े बकवादी॥
—क० ग्रं०, पद ३७५

भ्रमरी बन जाता है उसी प्रकार तू राम-नाममें ऐसी लौ लगा कि स्वयं राम-मय हो जा (तुल०—पंचदशी ९।७८)। देख भाई, यह संसार बड़ा गुरु-गंभीर है, इस संसार-सागरमें चारों ओर विकारकी लहरें तरंगायित हो रही हैं, तुझे आर-पार कुछ भी नहीं सूझता। अरे ओ मेरे मनसाराम, इच्छाके इस अपार भव-सागरके लिए एकमात्र नैया राम है। बाबा, उसीकी शरण जा, फिर देख यह महान् संसार-समुद्र बछड़ेके खुरके समान छोटा हो जाता है कि नहीं।[1]

रामके इस परम प्रसाद और अनुग्रहकी याद दिलानेवाले पदमें क्या यही कहा गया है कि वासना-पंकिल हृदयवाला मंदाधिकारी,—जिसे विशाल भव-समुद्रमें आर-पार कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा, जो चारों ओर तरंगायित विषय-वीचिको देखकर हतबुद्धि हो रहा है, निर्गुण उपासनाका पात्र नहीं है! बल्कि उल्टे इस पदमें क्या यह नहीं बताया गया कि अज्ञानपूर्वक ध्यान करनेसे भी आदमी परम पद पा लेता है? आखिर कीट-भ्रमरीका प्रसिद्ध उदाहरण इसी बातको बतानेके लिए ही तो प्रयुक्त होता है। फिर यह क्या आश्चर्यका विषय नहीं है कि इस पदको उपासनाके प्रत्याख्यानमें प्रमाणस्वरूप पेश किया गया है? कबीरदासने राम-नामकी अपरंपार महिमा-वर्णनके प्रसंगमें द्विधारहित भाषामें कहा है कि गणिका और अजामिल जैसे अज्ञानी पापी भी पार हो गये।[2]

परन्तु यह राम या हरि कौन है? परं ब्रह्म, अपरं ब्रह्म, ईश्वर या और कुछ?

---

१ अब कछु राम-नाम अविनासी। हरि तजि जियरा कतहुँ न जासी॥
जहाँ जाहु तहाँ होहु पतंगा। अब जनि जरहु समुझि विष संगा॥
राम-नाम लौ लाय सुलीन्हा। भ्रिंगी कीट समझि मन दीन्हा॥
भव अति गरुआ दुख-करि भारी। करि जिय जतन जु देखु बिचारी।
मनकी बात है लहरि बिकारा। तुहि नहिं सूझै वार न पारा॥
साखी—इच्छाके भव-सागरै, बोहित राम अधार।
कहै कबीर हरि-सरन गहु, गोबछ-खुर-बिस्तार॥
बीजक, रमैनी २०

२ अजामल-गज-गनिका पतित करम कीन्हां।
तेऊ उतरि पार गये रांम-नांम लीन्हां॥
—क० ग्रं०, पद ३२०

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि हरि, गोविंद, राम, केशव, माधव आ
पौराणिक नामोंको कबीरदास क्वचित् कदाचित् ही सगुण अवतारके अर्थ
व्यवहार करते हैं। एकदम नहीं करते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। पर जब
अपने परम उपास्यको इन नामोंसे पुकारते हैं तो सगुण अवतारोंसे उनका मतल
नहीं होता। उनका 'अल्लाह' अलख निरंजनदेव है जो सेवासे परे है; उनक
'विष्णु' वह है जो संसाररूपमें विस्तृत है; उनका 'कृष्ण' वह है जिस
संसारका निर्माण किया है; उनका 'गोविन्द' वह है जिसने ब्रह्माण्डको धार
किया है; उनका 'राम' वह है जो सनातन तत्त्व है; उनका 'खुदा' वह है ज
दस दरवाजोंको खोल देता है, 'रब' वह है जो चौरासी लाख योनियोंक
परवरदिगार है, 'करीम' वह है जो इतना सब कर रहा है; 'गोरख' वह
जो ज्ञानसे गम्य है, 'महादेव' वह है जो मनकी जानता है; 'सिद्ध' वह
जो इस चराचर दृश्यमान जगत्का साधक है; 'नाथ' वह है जो त्रिभुवनक
एकमात्र यति या योगी है—जगत्के जितने साधक हैं, सिद्ध हैं, पैगंबर हैं,
इस एककी ही पूजा करते हैं। अनन्त हैं इसके नाम, अपरंपार उसका स्वरूप
वही कबीरदासका भगवान् है (क० ग्रं०, पद ३२७)। यह राम निरंजन है
उसका रूप नहीं, रेखा नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, धरती भी नहीं
आकाश भी नहीं, सूर्य भी नहीं, चन्द्र भी नहीं, पानी भी नहीं, पवन भ
नहीं,...समस्त दृश्यमान पदार्थोंसे विलक्षण, सबसे न्यारा (क० ग्रं०, पद २१९)
वह समस्त वेदोंसे अतीत, भेदोंसे अतीत, पाप और पुण्यसे परे, ज्ञान औ
ध्यानका अविषय, स्थूल और सूक्ष्मसे विवर्जित, भेख और भीखके अगम्य, डिं
और रूपसे अतीत—अनुपम त्रैलोक्यविलक्षण परम तत्त्व है (क० ग्रं०
पद २२०)।

जैसा कि शुरूमें ही कहा गया है, कबीरदास उत्तम अधिकारीके लिए इ
'अवाङ् मानस-गोचर' परंब्रह्मकी उपासनाको बहुत महत्त्व नहीं देते। परन्तु वे
इस बातमें खूब सावधान हैं, वे बार-बार याद दिला देते हैं कि यह जो उपासन
बताई जा रही है वह सगुण अवतारकी नहीं है वरन् 'निर्गुण राम' की है। इ
प्रसंगमें कुछ वृद्ध पंडितोंके विचारोंकी जानकारी आवश्यक है। उनके विचारोंक
सारांश यह है कि "निर्गुण और सगुणके विषयमें जो विचारपरम्परा पुराण
वादियों और वेदान्तवादियोंकी देखी जाती है, पद-पदपर वे (कबीरदास

उसीका अनुसरण करते दृष्टिगत होते हैं। कोई पुराण ऐसा नहीं है जिसमें परमात्माका वर्णन इसी रूपमें न किया गया हो। पुराणोंका सगुणवाद जैसा प्रबल है वैसा ही निर्गुणवाद भी। वे भी वेदान्तके भावोंसे प्रभावित हैं और वैष्णव पुराणोंमें उनका बड़ा ही हृदयग्राही विवेचन है। परन्तु, वे जानते हैं कि निर्गुणवादके तत्त्वोंको समझना कतिपय तत्त्वज्ञोंका ही काम है, इसलिए, उनमें सगुणवादका ही विस्तार है, क्योंकि वह बोध-सुलभ है। बिना उपासना किये उपासक सिद्धि नहीं पाता। उपासना-सोपानपर चढ़कर ही साधक उस प्रभुके सामीप्य-लाभका अधिकारी बना है जो ज्ञान-गिरा-गोतीत है। उपासनाके लिए उपास्यकी प्रयोजनीयता अविदित नहीं। यदि उपास्य अचिन्तनीय अव्यक्त है अथवा ज्ञानका विषय नहीं, तो उसमें भावोंका आरोप नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें भक्ति किसकी होगी? प्रेम किससे किया जायगा? और किनके गुणोंका मनन-चिन्तन करके मनुष्य अपनी आत्माको उन्नत बना सकेगा? इन्हीं बातोंपर दृष्टि रखकर परमात्माके सगुणरूपकी कल्पना है। जो यह समझता है कि बिना सगुणोपासना किये हम परमात्माके निर्गुण-स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लेंगे वह उसी जिज्ञासुके समान है जो विश्व नियन्ताका तो परिचय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु, यही नहीं जानता कि विश्व क्या है। पुराण सगुण-पथका पथिक बनाकर निर्गुणकी प्राप्ति कराते हैं, किन्तु बड़ी बुद्धिमत्ता और विवेकके साथ। यही कारण है कि मुखसे निर्गुणवादका गीत गानेवाले भी अन्तमें पुराणशैलीकी परिधिके अन्तर्गत हो जाते हैं। चाहे कबीर साहब हों अथवा पन्द्रहवीं सदीके दूसरे निर्गुण-वादी, उन सबके मार्गदर्शक गुप्त रूपसे पुराण ही हैं[१]।"

विचारणीय यह है: कबीरदासके उन पदोंका जिनमें उन्होंने बारम्बार "दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना। राम नामकर मरम है आना।"—जैसी बातें कहकर पुराणप्रतिपादित सगुण ब्रह्मका प्रत्याख्यान करना चाहा है। क्या ऐसा अर्थ भी लगाया जा सकता है कि मुँहसे विरोध करते रहनेपर भी कबीरदास असलमें पुराण-विरोधी नहीं थे? तुलसीदासजीने ऐसा नहीं समझा था। रामचरित-मानसमें 'दशरथ-सुत' वाली उक्ति उद्धृत करके ही उन्होंने उसका सीधी भाषामें प्रत्याख्यान किया है। उनके मतसे इस प्रकार कथन करनेवाले वेद और पुराण-प्रतिपादित सद्धर्मके जाननेवाले नहीं थे। बालकाण्डमें पार्वतीने शिवसे पूछा—

---

१ हि० भा० सा० वि०, पृ० १९९-२००

राम सो **अवध-नृपति-सुत** सोई । की अज अगुण अलख गति **कोई** ।
जो **नृप-तनय** तो ब्रह्म किमि, नारिबिरह मति भोरि ।
देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि ॥ १०८ ॥

इसके उत्तरमें गोस्वामी तुलसीदासजीने शिवजीके मुखसे जो उत्तर दिलवाया है वह ध्यानसे सुनने लायक है :

एक बात नहिं मोहि सुहानी । जदपि मोहबस कहेहु भवानी ॥
तुम्ह जो कहा **राम कोउ आना** । जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना ॥
कहहिं-सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह-पिसाच ।
पाषंडी हरिपद-बिमुख, जानहिं झूठ न साँच ॥११४॥
अग्य अकोबिद अंध अभागी । काई विषय मुकुर-मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेखी । सपनेहु संत-सभा नहीं देखी ॥
कहहिं ते वेद-असम्मत बानी । जिन्हके सूझ लाभु नहिं हानी ॥
मुकुर मलिन अरु नयनबिहीना । रामरूप देखहिं किमि दीना ॥
जिन्हके अगुन न सगुन-बिबेका । जल्पहिं कल्पित बचन अनेका ॥
हरिमाया बस जगत भ्रमाहीं । तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं ॥
बातुल भूत-बिबस मतवारे । ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे ।
जिन्ह कृत महामोह-मद पाना । तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना॥
अस निज हृदय बिचारि, तजि संसय भजु रामपद ।
सुनु गिरिराजकुमारि, भ्रमतम-रविकर वचन मन ॥११५॥

* * *

राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा ।
सहज प्रकास-रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना ॥
हरख-विषाद ज्ञान-अज्ञाना । जीव-धर्म अहमिति-अभिमाना ॥
राम ब्रह्म-व्यापक जग जाना । परमानंद परेस पुराना ।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास-निधि, प्रकट परापरनाथ ।
रघुकुल-मनि मम स्वामि सोइ, कहि शिव नायेउ माथ ॥

* * *

एहि बिधि जग हरि-आश्रित रहई । जदपि असत्य देत दुख अहई ॥
जौं सपनें सिर काटै कोई । बिनु जागें दुख दूरि न होई ॥

जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई । गिरिजा सोइ कृपालु रघुराई ॥
आदि-अन्त कोउ जासु न पावा । मति-अनुमानि निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिधि नाना ॥
आननरहित सकल-रस-भोगी । बिनु बानी बकता बड़ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेखा ॥
अस सब भाँति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाइ नहिं बरनी ॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ-सुत भगतहित, कोसलपति भगवान ॥ ११८ ॥

इस उद्धरणके मोटे टाइपके शब्दोंपर ध्यान देकर देखा जाय तो कोई सन्देह नहीं रह जाता कि तुलसीदासके मनमें 'दशरथसुत तिहुँ लोक-बखाना, राम-नाम कर मरम है आना' वाली कबीर-पथियोंकी उक्ति ही थी । बार-बार 'दशरथ-सुत,' 'नृपसुत', 'नृप-तनय', 'कोउ आना' आदि पद अचानक नहीं आ गये हैं, जान-बूझकर और सोच-समझकर ले आये गये हैं। इससे यह तो निश्चित है कि तुलसीदासजी इस मतको श्रुतिसम्मत या पुराणमार्गी नहीं मानते थे । इतना ही नहीं वे इसे अज्ञानजन्य पाखण्ड ही समझते रहे । यह दूसरी बात है कि उनका समझना ठीक था या नहीं, प्रकृत प्रसंग यह है कि गोस्वामीजीने द्विधाहीन और संकोचहीन भाषामें इस प्रकारके विचारको वेद-पुराण-बाह्य माना है ।

इस प्रकार कबीरदासके मतको वेद-पुराण-सम्मत न तो गोस्वामीजी जैसे विरोधियोंने माना है और न उनके पक्के अनुयायी शिष्योंने । एकके मतसे यह प्रबल पाखण्ड था और दूसरेके मतसे स्वयं वेद-पुराण ही पाखण्ड थे । इन उभय कोटियोंमें और चाहे जो भी असमानता हो, इस बातमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि वेद-पुराणमें वही नहीं है जो कबीरदासने कहा है । फिर जो लोग कबीरदासको एकदम उपनिषद्का सोलह आना अनुयायी समझते हैं और घोषणा करते हैं कि "यद्यपि कबीरदासने मुक्तिका साक्षात् साधन निर्विशेष आत्म-तत्त्वज्ञानको ही माना है तथापि परम्परा-मुक्तिके साधन सात्त्विक पूजा तथा अवतारोपासना, योग-जप-तप-संयम-तीर्थ-व्रत-दानादिकोंकी व्यर्थता उन्होंने कहीं नहीं लिखी, किन्तु धर्मध्वजी पाखंडियोंके द्वारा की हुई उनकी दुरुप-योगिताका ही खण्डन किया है," वे लोग क्या कहना चाहते हैं, वे ही जानें ।

कबीरदासने तो जोरदार भाषामें और साफ-साफ आचार-मात्रका प्रत्याख्यान किया है, फिर चाहे वह परम्परासमर्थित हो या व्यक्तिविशेषके उर्वर मस्तिष्कसे उद्भावित।

कबीरदासके राम पुराण-प्रतिपादित अवतार नहीं थे, यह निश्चित है। वे न तो दशरथके घर उतरे थे और न लंकाके राजाके नाश करनेवाले हुए, न तो देवकीकी कोखसे पैदा हुए थे और न यशोदाने उन्हें गोद खेलाया था; न तो वे ग्वालोंके संग घूमा करते थे और न उन्होंने गोवर्धन पर्वतको धारण ही किया था; न तो उन्होंने वामन होकर बलिको छला था और न वेदोद्धारके लिए वराहरूप धारण करके धरतीको अपने दाँतोंपर ही उठाया था; न वे गण्डकके शालिग्राम हैं, न वराह, मत्स्य, कच्छप आदि वेषधारी विष्णुके अवतार; न तो वे नरनारायणके रूपमें बदरिकाश्रममें ध्यान लगाने बैठे थे और न परशुराम होकर क्षत्रियोंका ध्वंस करने गये थे, और न तो उन्होंने द्वारिकामें शरीर छोड़ा था और न वे जगन्नाथ-धाममें बुद्धरूपमें ही अवतरित हुए। कबीरदासने बहुत विचार करके कहा है कि ये सब ऊपरी व्यवहार हैं। जो संसारमें व्याप्त हो रहा है वह राम इनकी अपेक्षा कहीं अधिक अगम अपार है[1]। उसको दूर खोजनेकी जरूरत नहीं, वह सारे शरीरमें भरपूर हो रहा है; लोहू झूठ है, चाम झूठ है, सत्य है वह राम जो इस

---

१ ता साहिबक लागौं साथा। दुखसुख मेटि जौ रह्यौ अनाथा।
नां दशरथघरि औतरि आवा। नां लंकाका रांव सतावा।
देवै कूख न औतरि आवा। नां जसवै ल गोद खेलावा।
ना वो ग्वालनके संग फिरिया। गोवरधन ले ना कर धरिया।
बांवन होय नहीं बलि छलिया। धरनी वेद लेन ऊधरिया।
गंडक सालिगरांम न कोला। मच्छ कच्छ है जलहि न डोला।
बद्री बैठा ध्यांन नहिं लावा। परसराम है खत्री न सतावा।
द्वारमती सरीर ना छाड़ा। जगननाथ ले प्यंड न गाड़ा।
कहै कबीर विचार करि, ये ऊले व्यवहार।
याहीथें जे अगम है, सो वरति रह्या संसार।

—क० ग्रं० पृ० २४२-३

सारे शरीरमें रम रहा है[१]।

यह कहना कि "कबीरदास कभी तो अद्वैतवादकी ओर झुकते दिखाई देते हैं और कभी एकेश्वरवादकी ओर, कभी वे पौराणिक सगुणभावसे भगवान्को पुकारते हैं और कभी निर्गुणभावसे; असलमें उनका कोई स्थिर तात्त्विक सिद्धान्त नहीं था," केवल अश्रद्धाप्रसूत है। ऐसी बातें वही लोग कहते हैं जो शुरूमें ही मान बैठते हैं कि कबीरदास एक अशिक्षित जुलाहे थे और उलटी-सीधी अटपटी बानियोंसे साधारण जनतापर 'प्रभाव जमाना चाहते थे!' ऐसे कथनोंका उत्तर देना बेकार है। बिना श्रद्धा-भक्ति लिये जिस किसी भक्तके कथनोंको क्यों न पढ़ा जाय, इस प्रकारके निष्कर्ष निकाल लिये जा सकते हैं। वस्तुतः कबीरदासका एकेश्वरवाद उस प्रकार था ही नहीं जैसा मुसलमानी धर्ममें स्वीकृत बताया जाता है। इस मतके अनुसार ईश्वर समस्त जगह और जीवोंसे भिन्न और परम समर्थ है। कबीरदासने स्पष्ट शब्दोंमें लोगोंको सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सबमें एकभावसे व्याप्त है; पंडित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, वह सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं। यह जो नाना भाँतिका प्रपंच दिखाई दे रहा है, अनेक घट और अनेक भाण्ड दिख रहे हैं, सब कुछ उसीका रूप है[२]। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलक है[३]।

---

१ कहै कबीर विचारि करि, जिनि कोई खोजै दूरि।
ध्यान धरौ मन सुद्ध करि, रांम रह्या भरपूरि॥
कहै कबीर विचार करि, झूठा लोही चांम।
जो या देही रहित है, सो है रमिता रांम॥—क० ग्रं०, पृष्ठ २४३

२ जबथै आतम तत्त विचारा।
तब निरबैर भया सबहिनथैं काम क्रोध गहि डारा।
व्यापक ब्रह्म सबनिमैं एकै, को पंडित को जोगी।
राणा-राव कवनसूं कहिये, कवन बैद को रोगी।
इनमैं आप आप सबहिनमैं आप आपसूं खेलै।
नाना भाँति घड़े सब भाँडे रूप धरे धरि मेल।
सोचि-बिचारि सबै जग देखा, निरगुण कोई न बतावै।
कहै कबीर गुणी अरु पंडित मिलि लीला जस गावै।—क० ग्रं०, पद १८६

३ लोका जांनि न भूलौ भाई।
खालिक खलक खलकमें खालिक, सब घट रह्यौ समाई॥—वही, पद ५

मैं और तू, तू और मैं, सब-कुछ वे ही हैं। वह आप ही आप सब घटोंमें रम रहा है (पद २०३)।

वस्तुतः जब कबीरदास निर्गुण भगवान्का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान्के गुणमय शरीरकी जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है। परन्तु 'निर्गुण'से वे केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है। वस्तुतः वे भगवान्को सत्त्व, रज और तमोगुणोंसे अतीत मानते हैं और इसी गुणातीत रूपको निर्गुण शब्दसे प्रकट करते हैं। "हे सन्तो, मैं धोखेकी बात किससे कहूँ। गुणहीमें निर्गुण है और निर्गुणमें गुण : इस सीधे रास्तेको छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय ? लोग उसे अजर कहते हैं, अमर कहते हैं, पर असल बात कोई कहता ही नहीं। वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है। निषेधात्मक विशेषण केवल धोखे हैं। यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है, पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घटमें समाया हुआ है (और इसीलिए सभी रूप उसके रूप हैं और सभी वर्ण उसके वर्ण हैं; फिर उसे अरूप या अवर्ण कैसे कहें ?)। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी बातें कही जाती हैं, पर चाहे पिण्ड हो और चाहे ब्रह्माण्ड, सभी देश और कालमें सीमित हैं, पर उसका न तो आदि है और न अन्त। फिर उसे पिण्ड और ब्रह्माण्डमें व्याप्त कह ही दिया गया तो क्या उसका ठीक-ठीक परिचय मिल गया ? सही बात यह है कि वह पिण्डसे भी परे है, ब्रह्माण्डसे भी परे है। कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि इन सबसे परे है। वह अगुण और सगुण दोनोंके ऊपर है, अजर और अमर दोनोंसे अतीत है, अरूप और अवर्ण दोनोंके परे है, पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंके अगम्य है। यही कबीरदासका निर्गुण राम है[1]।"

इतना ही नहीं, वह भाव और अभाव दोनोंसे परे है, अर्थात् न तो यही कहा

---

१ संतौ, धोखा कासूं कहिये।
गुनमैं निरगुन, निरगुनमैं गुन, बाट छांड़ि क्यूँ बहिये।
अजर-अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।
नाति-स्वरूप-वरण नहिं जाके घटि-घटि रह्यौ समाई।
प्यंड-ब्रह्मण्ड कथै सब कोई वाकै आदि अरु अन्त न होई।
प्यंड-ब्रह्माण्ड छांडि जे काहय कहै कबीर हरि सोई॥—क० ग्र०, पद १८०

जा सकता है कि वह भाव-रूप है और न यही कहा जा सकता है कि वह अभाव-रूप है, 'भावाभावविनिर्मुक्तः' है ।[1] फिर उसे किसी पक्ष-विशेषके द्वारा भी नहीं समझाया जा सकता । न तो वह द्वैत पक्षका विषय है, न अद्वैत पक्षका प्रतिपाद्य । असलमें सयाना साधु वही है जो निष्पाप भावसे उसको भजता है । जैसे तिनकेसे तिनका बँधा होता है वैसे ही लोग एक-दूसरेसे बँधे हुए हैं । जिसे आत्म-दृष्टि प्राप्त है वही ठीक-ठीक देख पाता है । वह जानना एकमेक होकर जानना है, एकमेक अर्थात् प्रेम-प्रीतिसे भरे मनको परम प्रीतिके एकमात्र आश्रय भगवान्में लीन कर देना । इसे ठीक-ठीक कह कर नहीं समझाया जा सकता । यह पूर्णकी पूर्ण दृष्टिसे पूर्णको ही देखना है ।[2] वह अद्वैतवादीकी भाँति चिदात्मक ब्रह्म-सत्तामें चैतन्यका विलय नहीं है बल्कि जैसा कि स्वयं कबीरने ही कहा है, सहज-भावसे एकमेक होकर रामसे मिल रहना है । सहज भी ऐसा 'सहज' नहीं,—परम प्रेमाश्रय भगवान्से सहज ही मिल रहना सहज है ।[3]

---

१ कहां न उपजै उपजां नहिं जाणै भाव अभाव बिहूनां ।
उदै अस्त जहाँ मति बुधि नाहीं सहजि रांम ल्यौ लीनां ।।
—क० ग्रं०, पद १७९

२ पषा पषीके पेषणै सब जगत भुलांनां ।
निरपष होइ हरि भजै सो साध सयांनां ।
ज्यूँ षरसूँ षर बाँधिया यूं बंधे सब लोई ।
जाकै आतम द्रिष्टि है साचा जन है सोई ।
एक एक जिनि जांणियां तिनहीं सच पाया ।
प्रेम-प्रीति ल्यौ लीन मनते बहुरि न आया ।
पूरेकी पूरी द्रिष्टि पूरा करि देखै ।
कहै कबीर कछु समुझि न परई, या कछु बात अलेखै ।—वही, पद १८१

३ सहजैं सहजैं सब गये सुत-बित-कांमिणि-कांम ।
एकमेक है मिलि रह्या दासि कबीरा रांम ॥
सहज सहज सब कोई कहै सहज न चीन्हें कोइ ।
जिन्ह सहजैं हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ ।
—वही, पृष्ठ ४३, साखी ४०८

फिर उसे न तो भीतर कहा जा सकता है, न बाहर। कहो तो सद्गुरु लज्जित होंगे क्योंकि सद्गुरुरूपमें वह भीतर ही बैठा है और समस्त जगत्को जो हम देख रहे हैं और पहचान रहे हैं वह इसीलिए कि वह भीतर बैठा हुआ दिखा रहा है और पहचनवा रहा है, सद्गुरुको हम बाहर कैसे कहें ? फिर अगर भीतर कहें तो सारा संसार,—समूची बाह्य रूपमें दृश्यमान सृष्टि झूठी हो जाती है। असलमें वह बाहरसे भीतरतक ऐसा व्याप्त हो रहा है कि कहकर समझाया नहीं जा सकता। न तो वह दृष्टिका विषय है (बाह्य) और न मुष्टिका (आन्तर)। वह अलख है, अगम है, अगोचर है। उसे पुस्तकमें लिखकर प्रकट नहीं किया जा सकता। उसे वही भली-भाँति जानते हैं जो पहचानते हैं। जो नहीं जानते वे कहनेपर विश्वास ही नहीं करेंगे।[1]

कुछ लोग उपासनातक तो मान लेते हैं, पर प्रार्थनाकी बात उनकी समझमें नहीं आती। स्व० कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस प्रसंगमें जो कुछ लिखा है वह विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है। यह कहना ही बेकार है कि वे ब्रह्मको निराकार और गुणातीत मानते थे। परन्तु किसी-किसी वैदान्तिक आचार्यकी भाँति उसे निष्क्रिय नहीं मानते थे। अपने एक प्रवचनके सिलसिलेमें उन्होंने कहा था (जिसका प्रमाणिक विवरण बादमें 'शान्तिनिकेतन' नामक प्रबंध-संग्रहमें छपा था) कि "कुछ लोग कहते हैं कि उपासनामें प्रार्थनाका कोई स्थान नहीं है,—उपासना केवल-मात्र ध्यान है,—ईश्वरके स्वरूपको मन ही मन उपलब्ध करना है। यह बात मैं स्वीकार कर लेता यदि जगत्में अपनी इच्छाका कोई प्रकाश न देख पाता। हम लोहेसे प्रार्थना नहीं करते, पत्थरसे प्रार्थना नहीं करते,—उसीके निकट अपनी प्रार्थना प्रकट करते हैं जिसमें इच्छा-वृत्ति हो। ईश्वर यदि केवल सत्य-स्वरूप होते, केवल अव्यर्थ नियमोंके रूपमें ही उनका प्रकाश होता तो उनके

---

१ ऐसा लो तत ऐसा लो, मैं केहि विधि कहौं गभीरा लो।
बाहर कहौं तो सतगुरु लाजै भीतर कहौं तो झूठा लो॥
बाहर-भीतर सकल निरंतर गुरुपरतापै दीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि न अगम अगोचर पुस्तक लिखा न जाई लो।
जिन पहिचाना तिन भल जाना कहै न को पतियाई लो॥ इत्यादि।
पद्मा०, शब्द २८

यह पद हणवंत नामक नाथ-सिद्धके नामपर भी मिलता है।

निकट प्रार्थना करनेकी बात हमारे मनमें स्वप्नमें भी नहीं आती। परन्तु कहा गया है वे 'आनन्दरूपम् अमृतम्' हैं, कहा गया है वे इच्छामय, प्रेममय, आनन्दमय हैं, इसीलिए सिर्फ 'विज्ञान'के द्वारा हम उन्हें नहीं जानते, इच्छाके द्वारा ही इच्छा-स्वरूप और आनंद-स्वरूपको जानना पड़ता है···

"हमारे भीतर इस इच्छाका निकेतन हृदय है। हमारा वह इच्छामय हृदय क्या शून्यमें प्रतिष्ठित है? उसकी पुष्टि मिथ्यासे होती है? उसका गम्य स्थान क्या व्यर्थताके बीचमें है? फिर भला यह विचित्र उपसर्ग (इच्छा-हृदय) कहाँसे आया! किस उपायसे वह मुहूर्त-भरके लिए यहाँ टिका हुआ है? जगत्में क्या सिर्फ एक ही धोखा है, और वह धोखा हमारा हृदय है? कभी नहीं। हमारा यह इच्छारसमय हृदय जगद्व्यापी इच्छा-रसकी नाड़ीके साथ बँधा हुआ है। वहींसे वह आनंद-रस पाकर जी रहा है, न पानेसे उसका प्राण निकल जाता है—वह अन्न-वस्त्र नहीं चाहता, विद्या-शक्ति नहीं चाहता, चाहता है अमृत, चाहता है प्रेम। जो कुछ चाहता है उसे इसीलिए चाहता है कि वह वस्तु क्षुद्र-रूपसे संसारमें और चरम रूपसे उन (भगवान्) में वर्तमान है,—नही तो किसी रुद्ध द्वारपर सिर पटककर मरनेके लिए उसका जन्म नहीं हुआ है। हृदय अपनेको जानता है इसीलिए यह भी निश्चय रूपसे जानता है कि उसकी एक परिपूर्ण कृतार्थता अन्तरमें वर्तमान है। इच्छा केवल उसीकी ओर है, यह बात नही है, दूसरी ओर भी है···दूसरी ओर भी इच्छा न होती तो वह निमेष-भरके लिए भी इधर नहीं रह सकती थी,—एक कण-भर भी इधर ऐसी बचा न रहती जिससे निश्वास-प्रश्वासरूप प्राण-क्रिया भी चल सकती। इसीलिए उपनिषदोंने इतना जोर देकर कहा है कि—कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनदो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयति।—कौन शरीरकी चेष्टा करता और कौन जी सकता था, यदि आकाशमें वह आनद न होता,—वे ही आनन्दके दाता हैं।

"दो इच्छाओंके बीच दूतीका कार्य करती है प्रार्थना। यह प्रार्थना-दूती दो इच्छाओंके मध्यवर्ती विच्छेदके ऊपर व्याकुल वेशमें खड़ी है। इसीलिए असाधारण साहसके साथ वैष्णव भक्तने कहा है कि जगत्के विचित्र सौन्दर्यके भीतर भगवान्की वंशी जो नाना सुरोंमें बज रही है वह सिर्फ हमारे लिए उनकी प्रार्थना है,—हमारे हृदयको वे इसी अनिर्वचनीय संगीतके द्वारा पुकार रहे हैं।

इसीलिए तो यह सौन्दर्य-संगीत हमारे हृदयकी विरह-वेदनाको जगा देता है।[१]... उनकी ऐसी पुकारपर भी क्या हमारे मनकी प्रार्थना नहीं जागेगी? वह क्या उनके विरहकी धूलि-आसनपर लोट कर रो नहीं उठेगी? असत्य अंधकार और मृत्युके निरानंद निर्वासनसे अभिसारकी यात्राके समय यह प्रार्थना-दूती ही क्या अपनी कम्पित दीप-शिखाको लेकर हमारा रास्ता दिखाती हुई आगे आगे नहीं चलेगी? जितने दिनतक हमारे पास हृदय है, जितने दिनतक प्रेमस्वरूप भगवान् अपने नाना सौन्दर्यों द्वारा इस जगत्को आनन्द-निकेतनके रूपमें सजा रहे हैं, तबतक उनसे मिलन हुए बिना मनुष्यकी वेदना कैसे दूर होगी? तबतक ऐसा कौन सन्देह-कठोर ज्ञानाभिमान है जो मनुष्यकी प्रार्थनाको अपमानित करके लौटा दे सके[२]?"

इसी त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैतविलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान्को कबीरदासने 'निर्गुण राम' कहकर संबोधन किया है। वह समस्त ज्ञात तत्त्वोंसे भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैक-गम्य है,—केवल अनुभवसे ही जाना जा सकता है। इसी भावको[३]

---

१ इस भावके साथ कबीरदासके निम्नलिखित पदकी तुलना की जा सकती है—

सतिगुरु हो महाराज मोपै साँई रंग डारा।
शब्दकी चोट लगी मेरे मनमें बेध गया तन सारा॥
औषध-मूल कछू नहिं लागै क्या करै बैद बिचारा।
सुरनर-मुनिजन-पीर-औलिया कोइ न पावै पारा।
साहेब कबीर सर्व रँग रंगिया रँगसे रँग न्यारा॥

शब्दा०, ९

२ शान्तिनिकेतन, विश्वभारती संस्करण, १३४१ बंगाब्द, प्रथम खण्ड, पृ० १०५-८

३ बाबा अगम अगोचर, कैसा, ताते कहि समुझावौ ऐसा।
जो दीसै सो तो है वो नाहीं, है सो कहा न जाई॥
सैना-बैना कहि समुझाओं गूंगेका गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै बिनसै नाहि नियारा॥
ऐसा ग्यान कथा गुरु मेरे पंडित करो बिचारा॥

—पदा०, शब्द २९

बतानेके लिए कबीरदासने बार-बार 'गूँगेका गुड़'[1] कहकर उसे याद किया।

वह किसी भी दार्शनिक वादके मानदण्डसे परे है, तार्किक बहसके ऊपर है, पुस्तकी विद्यासे अगम्य है, पर प्रेमसे प्राप्य है, अनुभूतिका विषय है, सहज भावसे भावित है, यही कबीरदासका निर्गुण राम है। भक्त लोग इस रामको जानते हैं और राम भी भक्तोंको पहचानते हैं। नैनकी व्यथा बैन जानती है, बैनकी वेदना श्रवण। पिंडका दुःख प्राण जानता है, प्राणका दुःख मरण। आसका दुःख प्यासको मालूम है, प्यासका दुःख पानीको। कबीरदासका निश्चित विश्वास है कि इसी प्रकार राम भक्तके दुःखको जानते हैं[2]।

---

१ अविगत अकथ-अनूपम देख्या कहतां कह्या न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै गूँगै जांनि मिठाई॥
—क० ग्रं०, पद ६

अकथ कहाणी प्रेमकी कछु कही न जाई।
गूँगेकेरी सरकरा बैठे मुसुकाई॥
—क० ग्रं० पद, १५६

सैना बैना कहि समुझाओं गूंगेका गुड़ भाई।
—पदा० शब्द २९, इत्यादि

२ जनकी पीर हो राजा रांम जानै कहूँ काहि को मानै।
नैनका दुख बैन जानै बैनका दुख श्रवनां॥
प्यंडका दुख प्रान जानै प्रानका दुख मरनां।
आसका दुख प्यास जानै प्यासका दुख नीर॥
भगतिका दुख रांम जानै कहै दास कबीर॥
—क० ग्रं०, पद २८६

१०. बाह्याचार

जिन दिनों कबीरदासका आविर्भाव हुआ था उन दिनों हिंदुओंमें पौराणिक मत ही प्रबल था। परन्तु यह साधारण गृहस्थोंका धर्म था। देशमें और भी नाना भाँतिकी साधनायें प्रचलित थीं। कोई वेदपाठी था, तो कोई उदासी; कोई ऐसा था जो दीन बना फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्यमें ही व्यस्त था; कोई मदिराके सेवनको ही चरम साधना मानता था, तो कोई तन्त्र-मन्त्र-औषधादिकी करामातसे ही सिद्ध बना फिरता था; कोई सिद्ध था, कोई तीर्थव्रती था और कोई धूमपानसे शरीरको काला बना रहा था। सब थे, पर कोई राम-नाममें लीन नहीं था। सद्गुरु (= रामानन्द ?) की कृपासे कबीरदासको यह महामन्त्र मिल गया था[1]। उस समय मुनि थे, पीर थे, दिगंबर थे, योगी थे, जंगम थे, ब्राह्मण थे, संन्यासी थे, पर सभी मायाके चक्करमें पड़े हुए थे[2]। किसी-किसी सम्प्रदायमें तोप-बंदूकेंतक चला करती थी। कबीरदास हैरान होकर लोगोंसे कहा करते थे कि भई, यह भी अजब योग है कि महादेवके नामपर पंथ चलाया जाता है। लोग बड़े

---

१ ऐसौं देखि चरित मन मोह्यो मोर,
ताथैं निस बासुरि गुन रमौं तोर।
इक पठहिं पाठ, इक भ्रमै उदास, इक नगन निरंन्तर, रहै निवास॥
इक जोग जुगुति तन हूंहि खीन, ऐमे रांम नांम संगि रहै न लीन।
इक हूंहि दीन एक देहीं दांन, इक करै कलापी सुरापांन॥
इक तंत-मंत औषध (प्र) बांन, इक सकल सिद्ध राखै अपांन।
इक तीरथ-व्रत करि काय जीति, ऐसे रांम-नांमसूं करैं न प्रीति।
इक धोम ध्यूंटि तन होंहि स्याम, यूं मुकुति नहीं बिन रांमनांम।
सतगुरु तत्त कह्यो विचार, मूल कह्यौ अनमैं विस्तार॥
जुरा मरणथै भये धीर, राम कृपा भई कहि कबीर॥
—क० ग्रं०, पद ३८६

२ क० ग्रं०, पद १८७

बड़े महन्त बनते हैं, हाट-बाजारमें समाधि लगाते हैं और मौका पाते ही तोप-बन्दूक लेकर पिल पड़ते हैं ! भला दत्तात्रेयने भी कभी मवासियों द्वारा शत्रुओंपर चढ़ाई की थी, शुकदेवने भी कभी तोप संग्रह किये थे, नारदने भी कभी बन्दूक दागी थी ! अजीब हैं ये विरक्त जिनकी सोनेकी गद्दियाँ जगमगा रही हैं, हाथी-घोड़ोंके ठाठ लगे हैं, करोड़पतियोंकी-सी शान है[1] ! रंग-ढंगसे मालूम होता है कि यह नागा लोगोंकी कुम्भकी चढ़ाई जैसी कोई घटना रही होगी। इस प्रकार बहुधा-विचित्र बाह्याडम्बर-मूलक साधनाओंके बीच कबीरदासने अपनी प्रेम-भक्तिकी साधना शुरू की थी।

जनतामें सर्वाधिक प्रभाव हिन्दू मत या पौराणिक धर्मका था। इसके बाद ही योगियोंकी प्रबलता थी। ब्राह्मणोंके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि जिन लोगोंके हाथमें इस पुस्तकके पहुँचनेकी आशा है वे सभी लोग इस मतको भली-भाँति जानते हैं। योगियोंकी साधनाका उल्लेख पहले ही हो चुका है। यहाँ संक्षेपमें उन मोटी बातोंकी चर्चा कर लेना आवश्यक समझा गया है जिन्हें कबीरदास पौराणिक ब्राह्मणधर्मकी विशेषता मानते थे और बारम्बार प्रत्याख्यानयोग्य समझते थे।

सबसे मुख्य बात यह है कि कबीरदासने पौराणिक हिन्दूधर्मके आचार-बाहुल्यको ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टिमें ज्यादा खटकता था, पर उस पूजा या उत्सवके पीछे छिपा हुआ तत्त्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टिमें उपस्थित नहीं होता था। मूर्तिकी उपासना उनको बुरी

---

१ ऐसा जोग न देखा भाई। भूला फिरै लिये गफिलाई ॥
महादेवको पंथ चलावै। ऐसो बड़ो महंत कहावै।
हाट-बजारे लावैं तारी। कच्चे सिद्धन माया प्यारी ॥
कब दत्ते मवासी तोरी। कब सुखदेव तोपची जोरी।
नारद कब बंदूक चलाया। व्यासदेव कब बंब बजाया।
करहि लराई मतिके मन्दा। ई अतीतकी तरकस बन्दा।
भये बिरक्त लोभ मन ठाना। सोना पहिरि लजावै बाना।
घोरा-घोरी कीन्ह बटोरा। गाँव पाय जस चलै ककोरा।
साखी—(तिय) सुन्दरि ना सोहई, सनकादिकके साथ।
कबहुँक दाग लगावई, कारी हाँडी हाथ ॥

—बीजक, ६९ वीं रमैनी

लगती थी, पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही किसी दार्शनिक तत्त्ववाद या पौराणिक रहस्य-व्याख्याका उल्लेख उनके ग्रन्थमें पाया जाय।

वेदपाठ, तीर्थस्नान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदासने लिखा है, पर कहीं भी इनकी गूढ़ व्याख्याओंको या इनकी पृष्ठभूमिके तत्त्ववादको उल्लेखयोग्य नहीं समझा। वस्तुतः सारा हिन्दू-धर्म उनकी दृष्टिमें एक बाह्याचारबहुल ढकोसला-मात्र था। उन्होंने योगमार्गको भी ढकोसला ही समझा था, पर हमने पिछले अध्यायोंमें देखा है कि इस विषयका वर्णन वे रस लेकर करते हैं और उसकी छोटी-छोटी विशेषताओंको भी जानकारी रखते हैं। परन्तु हिन्दू-मत या तत्त्ववादकी ओर न तो उनकी वैसी जिज्ञासा ही है और न निष्ठा ही। बीजकमें करीब एक दर्जन पद सीधे 'पण्डित' या 'पाण्डे'को संबोधन करके कहे गये हैं। इनमेंसे कई पद बहुत मामूली परिवर्तनके साथ 'कबीर-ग्रन्थावली'में भी आये हैं। इन पदोंमें वे पण्डितसे तरह-तरहके प्रश्न पूछते हैं। कहते हैं, छूत कहाँसे आ गई? पवन, वीर्य और रजके सम्बन्धसे गर्भाशयमें गर्भ रहता है, फिर वह अष्टकमलदलके नीचेसे उतरकर पृथ्वी पर आता है, ऐसी हालतमें यह छूत कैसे आ गई? यही वह धरती है जिसमें चौरासी लाख योनिके प्राणियों-का शरीर सड़कर मिट्टी हो गया, इस एक ही पाटपर परमपिताने सबको बिठाया है तो फिर छूत कैसे रही?···इत्यादि[1]। यह तर्क निश्चय ही युक्तिसंगत है, पर जिस 'पण्डित'से यह प्रश्न पूछा जाता है वह इसका बहुत-सीधा जवाब

---

१ पंडित, देखहु मनमहँ जानी।
कहु धौं छूति कहांते उपजी तब हिं छूति तुम मानी।
बादे बंदे रुधिरके संगे घटहीमहँ घट सपचै।
अस्ट कँवल होय पुहुमी आया छूति कहाते उपजै।
लख चौरासी नाना बासन सो सभ सरि भौ माटी।
एकै पाट सकल बैठाये छूति लेत धौं काकी।
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन छूतिहि जगत उपाया।
कहहि कबीर ते छूति बिबरजित जाके संग न माया।
—बीजक, शब्द ४१

जानता है। उस सीधे जवाबको प्रश्नकर्ताने एकदम भुला दिया है। गलत हो या सही, 'पंडित' यह विश्वास करता है कि छूत उसकी सृष्टि नहीं है बल्कि एक अनादि कर्मप्रवाहका फल है। वह विश्वास करता है कि प्राणिमात्र जन्म-कर्मके एक दुर्वार प्रवाहमें बहे जा रहे हैं। अगर उसे सचमुच निरुत्तर करना है तो या तो उसे उस अनादि कर्मप्रवाहकी युक्तिके भीतरसे समझाना चाहिये या फिर जन्म-कर्म-प्रवाहके इस विश्वासको ही निर्मूल सिद्ध कर देना चाहिये। यह अत्यन्त मोटी-सी बात है। पर कबीरदासके निकट 'पंडित' या 'पांडे' इतना अदना-सा और उपेक्षणीय जीव था कि उन्होंने कभी इस रहस्यको समझनेकी कोशिश नहीं की।

इसी प्रकार वे पूछते हैं, "पंडित, सोध कर बताओ तो सही, किस प्रकार आवागमन छूट सकता है और धर्म-अर्थ-काम मोक्ष ये सब फल किस दिशामें बसते हैं! अगर गोपालके बिना संसारका कोई स्थान ही नहीं है तो भला लोग नरक कैसे जाते हैं? देखो भाई, जो नहीं जानता उसके लिए नरक है, स्वर्ग है, परन्तु जो हरिको जानता है उसके लिए कुछ भी नहीं है[1]।" कहना बेकार है कि इस तत्त्वसे पंडित अपरिचित नहीं है। वह भी जानता है कि यह स्वर्ग और नरककी कल्पना अविद्याकी उपज है, पर वह कितने ही प्रकारके अधिकारियोंके अस्तित्वमें विश्वास करता है। उसे निरुत्तर करनेके लिए इस अधिकारी-भेदके सिद्धान्तोंकी ही जड़ खोदनी चाहिये थी। इस प्रकार कबीरदासका 'पंडित' वह पत्राधारी अधकचरा ब्राह्मण है जो ब्राह्मण-मतके अत्यन्त निचले स्तरका नेता है।

---

१ पंडित, सोधि कहहु समुझाई। जांते आवागंवन नसाई।
अरथ-धरम अरु काम-मोच्छ-फल, कवन दिसा बस भाई॥
उतर कि दच्छिन पुरुब कि पच्छिम सरग-पताल कि माँहीं।
बिनु गोपाल ठवर नहि कबहूँ नरक जात धौं काहीं॥
अनजानेको सरग-नरक है हरिजानेको नाहीं।
जेहि डरते भव लोग डरतु हैं सो डर हमरे नाहीं॥
पाप-पुन्नकी संका नाहीं सरग-नरक नहिं जाहीं।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जहँ पद तहाँ समाहीं॥

—बीजक, शब्द ४२

जहाँ-जहाँ भी कबीरदासने पंडितके बाह्याचारका खण्डन किया है वहाँ उसे नितान्त अदना आदमी समझके किया है। वे यह जानते ही नहीं कि पंडितके पास भी तत्त्वज्ञान है, मोक्ष और अपवर्गकी व्याख्या है, व्यावहारिक और पारमार्थिक सत्तापर बहस है, स्थूल और सूक्ष्मकी मर्यादा है, कर्म और बंधकी धारणा है। यह वे कल्पना भी नहीं करते कि पंडित ऐसे प्रश्नोंपर अपने शास्त्रोंमें विचार भी किया करता है।

यहाँ इस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि कबीरदासने बाह्याचारोंकी व्यर्थता समझनेमें गलती की है। यहाँ इसी बातका उल्लेख किया जा रहा है कि कबीर-दासने 'पंडित' या 'पांडे' को कैसा समझा था या कैसा देखा था। शास्त्रीय आतंक-जालको छिन्न करके और लोकाचारके जंजालको ढाहकर वे सहज ही सहज सत्यतक पहुँच सके थे, इसमें कोई संदेह नहीं। यहाँ केवल इतना ही प्रकृत है कि कबीरदासका 'पंडित' बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरकके सिवा और कुछ जानता ही नहीं, जात-पाँत और छुआछूतका अंध उपासक है, तीर्थ-स्नान और व्रत-उपवासका ठूँठ समर्थक है,—तत्त्वज्ञानहीन, आत्म-विचारविवर्जित, विवेकबुद्धिहीन, अटट गँवार।

अब एक बार योगमार्गके सूक्ष्म ज्ञानके साथ ब्राह्मण-मतके इस अल्पज्ञानकी कल्पना की जाय तो उस 'सत्संग सिद्धान्त' का महल बालूकी भीतपर खड़ा दिखाई देगा जिसे इतना प्रचारित किया गया है। कहा गया है कि कबीरदास मुसलमान वंशमें पैदा होकर भी 'सत्संग'के बलपर हिन्दू शास्त्रीय मतोंको इतना जान सके थे। यह सिद्धान्त वस्तुतः किसी दृढ़ प्रमाणपर आधारित नहीं है। यह कहना तो अनुचित है कि कबीरदास सत्संगी नहीं थे,—जरूर ही रहे होंगे, पर हिन्दूधर्मसम्बन्धी उनका ज्ञान सत्संग करके बटोरा हुआ नहीं था। वस्तुतः योगमत, द्वैताद्वैत-विलक्षण परमात्म-विश्वास, निर्गुण-निराकारकी भावना, समाधि, सहजावस्था, खसम-स्वभाव आदिका संपूर्ण ज्ञान उन्हें अपनी कुल-परम्परा और कुल-गुरु-परम्परासे प्राप्त हुआ था। पौराणिक हिन्दूमतको दूरपर बैठे हुए दर्शककी भाँति ही उन्होंने देखा था। इस बातकी उन्होंने कोई परवा ही नहीं की कि उसके भीतर भी कोई आध्यात्मिक तत्त्व है या नहीं।

हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि बाह्याचारमूलक जिन धार्मिक कृत्योंका खण्डन कबीरदासने किया है लगभग उन सभीका खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियोंने

उसी प्रकारकी चकनाचूर करनेवाली भाषामें किया है। लेकिन यह परम्परा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है। योगियोंके भी पूर्ववर्ती सहजयानी सिद्धोंने भिन्न-भिन्न मतके बाह्याचारका वैसा ही जोरदार खण्डन किया है। सरोरुहपाद कहते हैं कि "ब्राह्मण ब्रह्मके मुखसे पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग। तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि संस्कारसे ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डालको भी संस्कार दे कर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते? अगर कहो कि ये लोग हाथमें कुस-जल लेकर घर बैठे हवन करते हैं; यदि आगमें घी डाल देनेसे मुक्ति होती हो तो क्यों नहीं सबको डालने देते? होम करनेसे मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगनेसे आँखोंको कष्ट जरूर होता है!"[1] इसी प्रकार नग्न साधुओंको लक्ष्य करके सरोरुहपाद कहते हैं कि "ये लोग कपट-माया फैलाकर लोगोंको ठगा करते हैं। तत्त्व तो ये जानते ही नहीं। मलिन वेश धारण किये फिरते हैं और शरीरको व्यर्थ ही कष्ट देते हैं। नंगे घूमते हैं और केश उखड़वा (लुंचन) देते हैं। यदि नग्न दिगंबरको मुक्ति मिलती हो तो स्यार-कुत्तोंकी मुक्ति पहले होनी चाहिये। यदि नग्न दिगंबरको मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतोंकी मुक्ति हो जानी चाहिये जिन्हें लोभ है ही नहीं। यदि पिच्छी ग्रहण करनेसे मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उञ्छ भोजनसे मुक्ति होती हो तो हाथी-घोड़ोंको मुक्ति पहले होनी चाहिए[2]।"

---

१ ब्रह्मणेहि म जाणन्त हि भेऊ। एवइ पढिअउ ए च्चउ वेऊ ॥ १ ॥

मट्टी पाणी कुस लइ पढ़न्त। घरहिं बइसी अग्गि हुणन्त ॥

कज्जे विरहइ हुअवह होमें। अक्खि डहाविअ कडुएँ धुम्मैं ॥२॥ ज० हि० ले०, पृ० ९

इसीपर अद्वयवज्रकी टीका देखिये (वही पृ० ५२—५४)

२ दीहणग्ग जइ मलिणों वेसें। णग्गल होइ उपाडिअ केसें ॥

खवणेहि जाण बिडबिअ बेसें। अप्पण बाहिअ मोक्ख उवेसें ॥ ६ ॥

जइ णग्गा विअ होइ मुत्ति ता सुणह सिआलह।

लोमुप्पाडणे अत्थि-सिद्धि ता जुअइ णिअम्बह ॥ ७ ॥

पिच्छी-गहणे दिट्ठि मोक्ख ता मोरह चारह।

उञ्छे भोअणें होइ जाण ता करिह तुरंगह ॥ ८ ॥—वही, पृ० १०

और इसीपर अद्वयवज्रकी टीका, पृ० ६१—२

जैन लोगोंमें भी इस प्रकारके बाह्याचारोंके खण्डनकी प्रवृत्ति मामूली नहीं थी। मुनि रामसिंहके पाहुड़-दोहोंमें बाह्याचारोंकी इसी प्रकारकी धज्जियाँ उड़ाई गई हैं। बाह्याचार और भेषकी व्यर्थता दिखानेके लिए उन्होंने उसे साँपकी कंचुलीकी उपमा दी है। जिस प्रकार ऊपर आवरणके बदलनेसे सर्पका जहर नहीं जाता रहता उसी प्रकार बाह्यवेषके परिवर्तनसे चित्त-शुद्धि नहीं होती[1]। एक तीर्थसे दूसरे तीर्थतक घूम आनेसे अधिकसे अधिक बाहरी शरीरकी धुलाई हो जाती है, भीतरी शुद्धि उससे कैसे हो सकती है[2]! मूर्ख लोग मनुष्यके बनाये देवालयोंको खोज-खोजकर मरते हैं, परन्तु हृदयके उस देवालयको नहीं देखते जहाँ सचमुचके शिव विराजित हैं[3]। ओ पंडित, पोथी पढ़-पढ़कर तेरा तालू सूख गया, भला ऐसा भी एक अक्षर तो पढ़के देख जिससे शिवपुरीमें तुझे आसन मिल सके[4]; झूठा है यह कलह, बेकार है यह टंटा, किससे छूत मानूँ और किसकी पूजा करूँ? जहाँ देखता हूँ वहाँ एक ही आत्मा है[5]; इत्यादि। ऐसे भावोंके दर्जनों दोहे पाहुड़-दोहासे संग्रह

---

१ सप्पिं मुक्की कंचुलिय जं विसु तं ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ॥ १५॥

२ तित्थइं तित्थ भमंतयह किण्णेहा फल हूव।
बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतर किम हूव॥ १६२॥
तित्थइं तित्थ भमेहि बढ़ धोयउ चम्म जलेण।
एहु मण्डु किम धोएसि तुहुँ मइलउ पाव मलेण॥ १६३॥

३ मूढ़ा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं॥ १८०॥

४ बहुयइ पढियई, मूढ़पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खर तं पढहु सिवपुरि जम्मइ जेण॥ ९७॥

५ कासु समाहि करहुँ को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को बंचउं॥
हल सहि कलह केण सम्माणउं।
जहिं जहिं जोइउ ईहिं अप्पानउं॥ १३९॥

सभी दोहे 'पाहुड़-दोहा' (प्रो० हीरालाल जैन-सम्पादित), कारंजा (बरार) १९४३ से लिये गये हैं।

किये जा सकते हैं। ये दोहे भी सन् ईसवीकी प्रथम सहस्राब्दीके अन्त्य भागके हैं। अर्थात् लगभग उसी समयके हैं जब कि सहजमतके बौद्ध गान और दोहे लिखे जा रहे थे।

इस प्रकार कबीरदासने बाह्याचारमूलक धर्मकी जो आलोचना की है उसकी एक सुदीर्घ परम्परा थी। इसी परम्परासे उन्होंने अपने विचार स्थिर किये थे। इनके समयमें एक और भी प्रधान धर्ममत भारतवर्षमें आ चुका था। उसमें भी बाह्याचारकी प्रबलता थी। कबीरदासने स्वयं इस धर्म द्वारा प्रभावित वंशमें जन्म ग्रहण किया था इसलिए उसकी आचार-बहुलतासे वे भी परिचित थे। परन्तु मुल्ला और काजीको भी वे 'पंडित'के समान ही अदना और हीनवीर्य समझते रहे। ऐसा नहीं जान पड़ता कि उन्होंने मुसल्मान धर्मके बाह्याचारोंके सिवा उसके किसी अंशकी गहरी जानकारी प्राप्त करनेकी चेष्टा की हो। उन्होंने सुन्नत, बाँग और कुरबानी आदिकी खरी आलोचना की है। पर चाहे मुसलमानी धर्मके बाह्याचारका खण्डन हो या हिंदू मतके, उन्होंने अपने पूर्ववर्ती अक्खड़ योगियोंकी भाँति महज खण्डनके लिए खण्डन नहीं किया। उनका केंद्रीय विचार भक्ति था। वे भक्तिको प्रधान मानते थे। उसके रहनेपर बाह्याचारका होना, न होना गौण बात है। ऐसा जरूर है कि वे भक्तिकी प्राप्तिके बाद बाह्याचारोंका स्वयं नष्ट हो जाना जैसी बातपर विश्वास करते हैं। उनके मतसे भक्ति और बाह्याडम्बरका संबन्ध सूर्य और अन्धकारका-सा है। एक साथ दोनों नहीं रह सकते। काजी किताब पढ़ते-पढ़ते मर गया, पर तत्त्व नहीं समझ सका। कबीरदास कहते हैं कि यद्यपि उनका शरीर मुसलमानी आचारसे संस्कृत बनाया जाकर मुसलमान बना लिया गया, पर वस्तुतः यह संस्कार बाह्य और अधूरा है। उन्हें इस संस्कार द्वारा मार्जित होनेका अफसोस नहीं था। वे तो भक्तिकी टेक गहे हुए थे और काजी झख मारके भी उनको उस मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। एक बार भक्तिकी टेक गह ली तो कोई भी बाह्याचार रास्ता रोकके खड़ा नहीं हो सकता[१]।

---

१ काजी कौन कतेब बखानै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते गति एकै नहिं जानै।
सकतिसे नेह पकरि करि सुनति यह न बदूं रे भाई।
जौर खुदाइ तुरक मोहिं करता तौ आपै कटि किन जाई।

पंडितोंने कहा है कि कबीरदासकी भक्तिमें सूफी साधनाका प्रभाव है। उनकी प्रेम-विरह-संबन्धी उक्तियोंमें इस प्रभावका अस्तित्व दिखाया गया है। यह बात ठीक हो सकती है। यद्यपि कबीरदासके खुदके वचनोंके बलपर कहा जा सकता है कि प्रेमभक्तिका बीज उन्हें अन्यत्रसे मिला था, पर सूफी साधकोंसे उनका प्रभावित होना असम्भव नहीं है। परन्तु, जो लोग उन्हें मुसलिमप्रभावापन्न सुधारक मानते हैं वे बहुत ही उथले प्रमाणोंपर उड़ती-उड़ती बातें करते हैं। कबीर-पंथियोंका और कोई दावा ठीक हो या नहीं, उनका यह दावा सोलह आने संगत है कि कबीरदास मुसलमान नहीं थे, क्योंकि मुसलमानी वंशमें जन्म और लालन-पालन होना ही किसीको मुसलमान नहीं बना देता। जन्मसे वे मुसलमान रहे हों या नहीं, विश्वासमें वे एकदम मुसलमान नहीं थे। उनके ऊपर मुसलमानी संस्कृति और धर्म-विश्वासका कोई गहरा असर नहीं पड़ा था। और उन्होंने कहीं भी अपनेको मुसलमान नहीं कहा। मुसलिम धर्मसाधनासे उनका संबन्ध नाममात्रको ही था। पर मुसलमान-वंशमें प्रतिपालित होनेके कारण उनमें एक प्रकारका साहसिक भाव आ गया था और उस दार्शनिक तर्क-जालसे वे मुक्त थे जो उनके पूर्ववर्ती सिद्धों और योगियोंको अभिभूत किये हुए था। इसलिए वे सहज बातको सहज ढंगसे—बिना अपर-पक्षकी कल्पना किये—कह सके थे। यह मुसलिम-परिवारमें पालित होनेका उत्तम फल था। नहीं तो जिन खण्डनात्मक विचारोंके लिए उन्हें मुसलिम-प्रभावापन्न सुधारक माना जाता है उनकी परम्परा बहुत पुरानी थी।

पण्डितोंने एकेश्वरवाद और अद्वैतवादकी बहस उठाकर यह साबित करनेकी कोशिश की है कि कबीरदासका अमुक विषयमें एकेश्वरवादी मत मुलसमानी भावका सूचक है। सही बात यह है कि जब कबीरदास राम और रहीमकी एकताकी बात करते हैं तो उनका मतलब भारतीय परम्पराके 'अद्वैत ब्रह्म'को सामी धर्मके 'पैगंबरी खुदा'के साथ घुला देना नहीं होता। वे अत्यन्त सीधी-सी बात अत्यन्त सीधे तौरपर कहते हैं कि सृष्टिके रचयिता भगवान्को

हौ तौ तुरक किया करि सुन्नति औरतिसौ का कहिये।
अधर सरीरी नारि न छूटे आधा हिन्दू रहिये।
छाँड़ि कतेब राम कहि काजी खून करत हौ भारी।
पकरी टेक कबीर भगतिकी काजी रहे झख मारी॥

—क० ग्रं०, पद ५९

यही मानते हो तो दोकी कल्पना व्यर्थ है। एक ही परम तत्त्वको राम और रहीम कह देनेसे वह दो नहीं हो जायगा। माला और तसबीहपर जप करनेके कारण वह वस्तु भिन्न नहीं हो जायगी जो उपास्य है। इस कथनका यह तात्पर्य नहीं कि सृष्टिके रचयिताको उपादान कारण या निमित्त कारण जो भी कहो, दोनों एक ही बात है; या जगत्‌को ब्रह्मका परिणाम कहो या विवर्त कहो, दोनों एक ही बात है; या खुदाको प्रकृतिका कारण मानो या प्रकृतिके साथ उसका अनिर्वचनीय संबन्ध मानो, दोनोंमें कोई फर्क नहीं है। बिल्कुल नहीं। इस कथनका तात्पर्य यह है कि साधारण जनता, जो दार्शनिक विवादकी खबर कुछ भी नहीं रखती, जिस सर्वसामर्थ्य-युक्त परमात्मामें विश्वास करती है वह एक ही है। उसके सृष्टिरचनाके प्रकारसे कोई बहस नहीं है, सृष्टि आर प्रकृतिके साथ उसके सम्बन्धको लेकर शास्त्रार्थ नहीं है, सही बात यह है कि नामके बदलनेसे वस्तु नहीं बदल जाती। एक समाजका 'भोंदू' मोटे तौरपर जिस परमात्माकी कल्पना करता है वह दूसरे समाजके 'भोंदू' की कल्पनासे भिन्न नहीं है। यही कारण है कि कबीरदासने उसी अंशपर जोर दिया है जो सर्व-साधारणकी समझके भीतर है—

हमरे राम रहीम करीमा,
कैसो अलह राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै,
और न दूजा कोई ॥

यदि यह एकेश्वरवाद है तो अद्वैतवाद या विशिष्टाद्वैतवाद या कोई और वाद क्यों नहीं है? स्वयं कबीरदास अपनेको इन 'भोंदुओं' के लिए निर्दिष्ट पद्धतिसे ऊपर देखते थे। वे भगवान्‌के सभी नामोंसे एक वस्तुका ध्वनित होना तो मानते थे, पर शायद अच्छी तरह ही जानते थे कि इन नामोंसे अलग-अलग

१ अरे भाइ दोइ कहाँसे मोही बतावो।
बिचिही भरमका भेद लगावो।
जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनीं ॥
राम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई ॥
कहै कबीर चेत रे भोंदू, बोलनिहारा तुरुक न हिन्दू ॥
क० ग्रं०, पद ५६

तरहके विचार उलझे हुए हैं। राम कहते ही 'दशरथ-सुत' का याद आ जाना संभव है और अल्लाहके साथ बाँग देता हुआ मुल्ला ग्रथित है, इसीलिए स्वयं वे उस परमात्माको नामातीत भी मानते थे। जिस प्रकार उसका कोई रूप नहीं है उसी प्रकार कोई नाम भी नहीं है, कबीरदासकी लौ इसीलिए उस परम तत्त्वपर लगी हुई थी जिसके यहाँ अल्लाह या राम किसीकी गम नहीं है,—जो भगवत्सम्बन्धी तत्तत् उद्भट कल्पनाओंकी पहुँचके बहुत ऊपर है—

अलह रामकी गम नहीं
तहाँ कबीर रहा ल्यौ लाय।

किन्तु प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सी वस्तु है जिसने कबीरदासको इतना महिमाशाली बना दिया है? हमने अबतक देखा है कि उनके अधिकांश विचार एक पुरानी दीर्घ परम्पराकी देन हैं। यह नहीं कि कोई बात परम्परासे आनेके कारण ही हीन हो जाती है,—सत्य, दया-धर्म, करुणा-भाव आदि बातें अनादि कालसे समादृत हैं फिर भी आजका सत्यवादी, दयावान् और कारुणिक व्यक्ति इस परम्परा-विहित महत्त्वका अधिकारी होनेके कारण हीन या कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता। कबीरदासने अगर महान् आदर्श पुरानी परम्परासे लिया है तो इसीलिए कबीरका महत्त्व कम नहीं हो जाता। इस अध्ययनका उद्देश्य भी ऐसा कुछ दिखाना नहीं है, पर कबीरदासका पाठक जानता है कि उनके पदोंमें उसे एक कोई अनन्यसाधारण बात मिलती है जो सिद्धों और योगियोंकी अक्खड़ता-भरी उक्तियोंमें नहीं है, जो वेदान्तियोंके तर्क-कर्कश ग्रन्थोंमें नहीं है, जो समाजसुधारकोंकी 'हाय हाय' में भी नहीं है।—कोई अनन्यसाधारण बात। वह क्या है? फिर वह वस्तु भी क्या है जिसे रामानन्दसे पाकर कबीर जैसा मस्तमौला फक्कड़ हमेशाके लिए उनका कृतज्ञ हो गया? दोनोंका एक ही उत्तर है। वह बात भक्ति थी। वह योगियोंके पास नहीं थी, सहजयानी सिद्धोंके पास नहीं थी, कर्मकाण्डियोंके पास नहीं थी, 'पण्डितों' के पास नहीं थी, 'मुल्लाओं' के पास नहीं थी, 'काजियों' के पास नहीं थी। इसी परमाद्भुत रत्नको पाकर कबीर कृतकृत्य हो रहे। भक्ति भी किसी? रामकी! रामनाम रामानंदका अद्वितीय दान था। उनके पहले उत्तराखण्डमें राम विष्णुके अवतार जरूर समझे जाते थे, पर 'परात्पर परंब्रह्म' नहीं माने जाते थे। इस त्रिगुणातीत मायाधीश परंब्रह्म-स्वरूप रामकी भक्तिको

रामानंद ही ले आये। राम और उनकी भक्ति—ये ही रामानंदकी कबीरको देन हैं। इन्हीं दो वस्तुओंने कबीरको योगियोंसे अलग कर दिया, सिद्धोंसे अलग कर दिया, पण्डितोंसे अलग कर दिया, मुल्लाओंसे अलग कर दिया। इन्हींको पाकर कबीर 'वीर' हो गये,—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज!

ऊपर बताई हुई बाह्याचारबहुल शुष्क साधनाकी मरुभूमिमें कबीर खड़े थे। वे सहज ही गल जानेवाले जीव नहीं थे। उनकी भेदक दृष्टिसे वेश और भूषाकी व्यर्थता छिप नहीं सकती थी, थोथा तर्क और कुटिल तत्त्वज्ञान उन्हें भरमा नहीं सकता था, कूट वचन और मधुर शब्दजाल उन्हे फँसा नहीं सकते थे। वे सर्वत्र एक विचित्र प्रकारका अभाव अनुभव कर रहे थे। सारा संसार अपनी-अपनी आगमें जल रहा था। ऐसा कोई नहीं मिलता था जिससे लगकर वे रह सकें। कसाला यह था कि जिससे हृदयकी बात कहते वही डंक मार देता, निर्भय भावसे, निःशंक होकर जिस आदमीसे दिलकी बात कही जा सके ऐसा कोई मिल नहीं रहा था[1]। वे व्याकुल भावसे कुछ खोज रहे थे, पर पा नहीं रहे थे; सारा मन और प्राण संशयके विषसे जर्जर हो गये थे। हृदय बेचैन था; ऐसा प्रेमी मिल नहीं रहा था जिसके प्रेमपूर्ण संसर्गसे यह साराका सारा हलाहल अमृत हो जाता।[2] ठीक ऐसे ही समयमें रामानंदसे उनकी भेंट हुई। यह बहुत अच्छा हुआ जो गुरु मिल गये, नहीं तो बड़ी हानिकी संभावना थी। कौन जानता है, कबीर भी औरोंकी तरह माया-रूपी दीपकको अपना पूर्ण लक्ष्य समझ कर पतंगकी तरह न कूद पड़ते! सारी दुनिया तो ऐसी ही है। कौन है जो इस माया-दीपकका पतंग नहीं बन गया? ऐसे बड़भागी अँगुलियोंपर ही गिने जा सकते हैं जो गुरुकी

---

१ ऐसा कोई ना मिलै जासो रहिये लागि।
सब जग जलतां देखिया अपनी अपनी आगि॥ ५॥
ऐसा कोई ना मिलै जासौं कहूँ निसंक।
जासौं हिरदैकी कहूँ सो फिरि मारै डंक॥ ६॥
—क० ग्रं०, पृ० ६६

२ प्रेमी ढूँढ़त मैं फिरौं प्रेमी मिलै न कोइ।
प्रेमीकौं प्रेमी मिलै तब सब विष अंम्रत होइ॥ १२॥
—वही, पृ० ६७

कृपासे उबर जाते हैं। कबीरदासने सद्गुरुको पाकर अपनेको बड़भागी समझा, गुरुकी सफलता केवल गुरुके ही महत्त्वपर निर्भर नहीं होती। शिष्य भी ऐसा ही कृती चाहिये। कबीर ऐसे ही शिष्य थे[१]।

अनन्त थी इस सद्गुरुकी महिमा, अनन्त था उपकार। अनन्त दृष्टि उन्होंने खोल दी और अनन्तको दिखा दिया। क्या था वह अनन्त? राम नाम। इस महामंत्रकी पटतर देने लायक जगत्में कौन सी चीज है? हाय, कबीरदासके पास ऐसा कौन-सा धन था जिसे देकर वे गुरुकी इस महादान-जन्य कृपापर अपनी कृतज्ञता प्रकट करते[२]। उन्हें सारा सूरा तो बहुत मिले थे जो अपनी बाण-विद्यासे दूसरोंको घायल कर दें, पर ऐसा कोई नहीं मिला था जो स्वयं चोट खाये हुए हो। और तबतक रामभक्तिके दृढ़ होनेकी आशा ही क्या थी जबतक किसी घायलसे मुलाकात न हो जाती[३]! इस बार उन्हें ऐसा घायल मिला। घायल जो रामके प्रेमका दीवाना था, जो स्वय भगवद्विरहकी चोट खा चुका था। इस प्रकारके कराल द्वंद्वसे, संशय और दुविधासे छुड़ा सकनेवाले युगगुरु रामानंद ही थे। इस विषयमें उन लोगोंको भले ही संदेह हो जो कबीरदासके नामपर उलटा-सीधा मत मतांतर चलाना चाहते हों, स्वयं कबीरदासकी कोई संशय नहीं था—

---

१ भली भई जो गुर मिल्या नहिं तर होती हांणि।
दीपक दिष्टि पतग ज्यूं, पड़ता पूरी जांणि॥ १९॥
माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पडन्त।
कहै कबीर गुरु ग्यान कैं, एक-आध उबरंत॥ २०॥
सतगुरु बपुरा क्या करै जो सिष ही माहैं चूक।
भावै त्यू प्रमोधि लै, ज्यूं बंसि बजाई फूक॥ २१॥ क० ग्रं०, पृ० ३

२ सतगुरुकी महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाडिया, अनँत दिखावणहार॥ ३॥
रामनामकै पटतरै, देबैकौं कछु नांहि।
क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मनमांहि॥ ४॥—वही, पृ० १

३ सारा सूरा बहु मिले, घाइल मिलै न कोइ।
घाइल ही घाइल मिलै, तब राम-भगति दिढ़ होइ॥—वही, पृ० ६७

सद्‌गुरुके परतापतें मिटि गयौ सब दुख-दंद।
कह कबीर दुविधा मिटी, गुरु मिलिया रामानन्द॥

(स० क० सा० १।८)

क्या हुआ जो वे ब्राह्मण थे और कबीरदास जुलाहे; क्या हुआ जो वे काशीके 'आचार्य' थे और कबीरदास कमीनी जातिके 'बन्दे'? प्रेम दूरी नहीं जानता, भेद नहीं मानता, जाति नहीं मानता, कुछ नहीं देखता। कुमुदिनी पानीमें बसती है, चाँद आकाशमें; फिर भी जो जिसका मनभावन है वह सदा पासमें ही रहता है। अगर गुरु वाराणसीमें ही होते और कबीरदास कहीं समुद्रपार, तो भी उनका वत्सल स्नेह शिष्यके पास पहुँच कर ही रहता, कबीरदास तो बहुत नजदीक थे—

कमोदिनी जल हरि बसै, चन्दा बसै अकासि।
जो जाहीका भावता, सो ताहीकै पास॥
कबीर गुरु बसै बनारसी, सिक्ख समन्दर पार।
बिसास्या नहिं बीसरै, जे गुण होइ सरीर॥

(क० ग्रं०, पृ० ६७)

सो गुरुने इस रामनामके अलौकिक बीजको बो दिया। कबीरने इसके अंकुरको प्रेमकी धारासे सींचा (क० ग्रं०, पद २१६)। धन्य है वह सुन्दरी जिसने वैष्णवपुत्र पैदा किया, जिसने रामनामका सुमिरन करके निर्भयता पा ली। सारी दुनिया भटकती ही रह गई[१]। इस प्रकार सारे संसारको ढूँढ़-खोज कर कबीरने ठोक-बजा कर देख लिया कि हरि बिना इस दुनियामें अपना कोई नहीं है[२]। इस रामनामकी महिमा अपरम्पार है। इस मंत्रको पाते ही कबीरदास केवड़ेके फूल हो गये और भक्त लोग भौंरोंकी भाँति इस सौरभशालीके चारों ओर एकत्र हो गये। जहाँ-जहाँ कबीरकी भक्ति गई वहाँ-वहाँ रामका निवास हो गया—

---

१ कबीर धनि वे सुन्दरी जिन जाया वैस्नौ पूत।
राम सुमरि निरभै हुआ, सब जग गया अऊत॥
—क० ग्रं०, पृ० ५३

२ कबीर सब जग हंडिया, मंदिल कंधि चढाइ।
हरि बिन अपना कोइ नहिं, देखे ठोकि-बजाइ॥
—वही, पृ० ६१

कबीर भया है केतकी, भँवर भये सब दास।
जहँ जहँ भगति कबीर की, तहँ तहँ राम निवास॥

—क० ग्रं०, पृ० ५३

जन्म-जन्मान्तरसे नाना भवचक्रमें घूमते हुए कबीरदास थक गये थे, अकारण जीवनका व्यर्थ भार ढोते-ढोते वे हैरान थे, दुःखके बोझने जब उन्हें लाचार बना दिया था, वे हारे हुए योद्धाकी भाँति संसारको सूना देख रहे थे; ठीक ऐसे ही समय गुरुका साक्षात्कार हुआ। प्रेमभक्तिके महारससे गुरुका भाण्डार परिपूर्ण था, उन्होंने बड़ी कृपा-पूर्वक वह महारस कबीरको दे दिया। इस प्रेम-भक्तिके असाधारण रसको पीकर वे धन्य हो गये—

धावत जोनि जनम भ्रमि थाके
अब दुखकै हम हार्‍यौ रे।
कहि कबीर गुरु मिलत महारस
प्रेम-भगति बिस्तार्‍यौ रे॥

(पृ० २९२)

कबीरदास मनुष्य थे, पर इस प्रेम-रसके पानसे देवता हो गये। बलिहारी है उस महागुरुकी, जिसने मनुष्यको देखते-देखते देवता बना दिया!—

बलिहारी गुर आपणैं द्यौं-हाड़ी कै बार।
जिनि मानिषतैं देवता, करत न लागी बार॥

(पृ० १७)

और इस प्रकार द्रविड देशमें उपजी हुई जिस भक्तिको रामानन्द उत्तर-खण्डमें ले आये थे उसे कबीरने सप्त द्वीप और नौ खण्डोंमें व्याप्त कर दिया—

भक्ती द्राविड़-ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीरने, सप्तद्वीप-नवखण्ड।

(स० क० सा० १५।१)

११. 'सन्तो, भक्ति सतो गुरु आनी'

कबीरदासने बार-बार कहा है कि सद्गुरु भक्ति ले आये हैं[१]। यह भक्ति क्या है? कबीरदासकी इस भक्तिकी व्याख्या करनेका प्रयास बहुतोंने किया है। पर या तो उन्हें अपढ़ गँवार समझ कर इस प्रकार समाधान कर लिया गया है कि उन्हें निर्गुण-सगुण और द्वैत-अद्वैत आदि किसी भी विषयका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं था, या फिर उन्हें सर्वज्ञ सर्व-नियन्ता समझ कर उनके नामपर विचित्र-विचित्र बातोंका 'सागर' निर्माण किया गया है और मनमानी कथायें तैयार करके संप्रदायके लोगोंको भुलावा देनेका प्रयत्न किया गया है। दोनों ही राहें गलत हैं। प्रथम पक्ष तो यही नहीं समझ पाता कि निर्गुण अद्वैतके साथ भक्ति कैसे चल सकती है? पाठकोंने अबतक देख लिया होगा कि कबीर तात्त्विक दृष्टिसे अद्वैतवादी नहीं थे और उनके 'निर्गुण राम' में और वेदान्तियोंके पारिभाषिक 'निर्गुण-ब्रह्म' में मौलिक भेद है। फिर भी इसमें तो कोई संदेह नहीं कि कबीरदास रामको रूप-रेखा, आकार-प्रकार, द्वैत-अद्वैत भाव-अभावसे परे समझते थे (देखिये ऊपर, पृ० १२२-१२७)। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा रूपातीत भगवान् भक्तिका विषय हो सकता है?

इस प्रश्नका उत्तर बहुत कठिन नहीं है। सर्ववादि-सम्मत मत यह है कि भक्ति भगवद्विषयक प्रेमको ही कहते हैं (नारद-भक्तिसूत्र, १-२)। भक्ति रसामृत-सिन्धुमें इसी बातको इस प्रकार कहा गया है कि अनुकूल भावसे भगवान्के विषयमें अनुशीलन करना ही भक्ति है। यह अनुशीलन ज्ञान और कर्मसे ढँका हुआ नहीं होना चाहिये और न अनुशीलन करनेवालेके हृदयमें भगवान्की भक्तिके सिवा और कोई अभिलाषा होनी चाहिये। भगवद्विषयक यह जो अहैतुक या

---

१ बीजक० शब्द० १; क० वच०, पृ० १२५, पद ६६

अन्याभिलषिता-शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

—भ० र० सि० १।९

कारणरहित प्रेम है वह न तो निरुपाधिक स्वरूपके लिए असम्भव है और न अद्वैतभावनाके विरुद्ध। नारद-पंचरात्रमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि भगवान्‌के सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त स्वरूपको तत्पर होकर (अर्थात् अनन्य-भावसे) समस्त इन्द्रियों और मनके द्वारा सेवन करना ही भक्ति है।[1] अद्वैत-भावना भक्तिके मार्गमें बाधक नहीं है, इसके प्रमाण हैं तुलसीदास, शंकराचार्य और अन्यान्य बहुतेरे शैव और तान्त्रिक साधक। इस भावनाके अनुसार जीव वस्तुतः भगवान्‌का ही रूप है जो भ्रमवश अपनेको पृथक् समझ रहा है। इस अंशकी अपने स्वाभाविक रूपमें फिर जानेकी जो चेष्टा है वह अभेदमूलक आकर्षण है। नदीके प्रवाहका प्रत्येक बिन्दु जो समुद्रकी महान् सत्तामें विलीन होनेके लिए दौड़ लगा रहा है वह इसी अभेद-प्रतीति-जन्य प्रेमके कारण।[2] भक्तिके आचार्य मानते हैं कि भगवान्‌का स्वरूप मानवीय चिन्तन-शक्तिके वशका नहीं है। वह अचिन्त्य है। अनन्त है उसकी शक्ति और अगम्य है उसकी मूर्ति। कबीरदासने इसी बातको समझानेके लिए भगवान्‌को अविगत अकल-अनूपम कहा है (क० ग्रं०, पद ६), अचिन्त्य और अकथ बताया है (पद ३६); गूँगेका गुड़ (पद ६८) और शर्करा (पद १५६) कहा है।

भक्त लोग मानते हैं कि इस अनन्त अचिन्त्य भगवान्‌को सच्चिदानंद कहकर

---

१ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेशं सेवनं भक्तिरुच्यते॥

—भ० र० सि० १।१२

२ तु०—दरियावकी लहर दरियाव है जी,
दरियाव औ लहर भिन्न कोयम।
उठे तो नीर है बैठता नीर है,
कहो किस तरह दूसरा होयम।
उसीके नामको फेरके लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम।
जक्त ही फेर सब जक्त है ब्रह्ममें
ग्यान करि देख कब्बीर गोयम।

—क० वच०, पृ० १३१-२, पद ८०

यद्यपि विधिरूपसे कथंचित् समझाया जा सकता है (क्योंकि श्रुतियोंमें नेति-नेति कह-कहकर उसे निषेधरूपमें ही समझाया गया है, केवल 'सत्-चित्-आनन्द' कहकर ही उसके विधि-रूपकी ओर इशारा किया गया है) फिर भी हम नहीं जानते कि सत्ता (सत्), चैतन्य (चित्) और आनन्दके अतिरिक्त उसमें और क्या है। कितने ही भक्त होते हैं जो उसके अंश-विशेषके साथ ही अपनी अभिन्नता अनुभव करके आत्माराम हो रहते हैं। वे भगवान्‌के केवल चैतन्य-अंशके साथ अपने चित्स्वरूपको अभिन्न समझ लेते हैं। ऐसे ही भक्त अद्वैत-वेदान्ती हैं। यद्यपि वे अपनेको ज्ञानमार्गी कहते हैं तथापि वे भी वस्तुतः भगवान्‌के परम प्रेमके ही साधक हैं। एक और प्रकारके साधक हैं जो माया और परम पुरुषको अलग-अलग कर शक्ति और शक्तिमानके भेदको कभी भूलते ही नहीं। ये ऐश्वर्यरूपके उपासक भी वस्तुतः भगवान्‌के परम प्रेमके ही उपासक हैं। भगवान्‌का प्रेम एक और अखण्ड है। उसके अंश-विशेषके प्रति आसक्ति प्रकट करने मात्रसे उसकी अखडता खण्डित नहीं होती। भक्तिके साथ इन साधना-मार्गोंका कोई विरोध तो क्या होगा, वे सभी वस्तुतः भक्तिके ही प्रकार हैं। यही दिखानेके लिए श्रीमद् जीवगोस्वामिपादने भागवत् सन्दर्भमे पहले ही भगवान्‌के इस अखण्ड-प्रेमपरिपूर्ण रूपकी वन्दना इस प्रकार की है—

> यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्र-सत्ता-
> प्यशो यस्यांशकैः स्वैर्विदधति वशयन्नेव मायां पुमांश्च।
> एक यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं
> स श्रीकृष्णो विधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रीति तत्पादभाजाम्॥
>
> (भागवत-सन्दर्भ १।८)

जो लोग भक्तिमूलक वाणियोंको ऊपर-ऊपरसे ही खुरचकर रस निकाल लेना चाहते हैं उन्हें उस रसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। भक्ति भाग्यकी चीज है, प्रेम-प्रीतिका विषय है, वह उसे नहीं पा सकता—

> भाग बिना नहिं पाइये, प्रेम प्रीतिकी भक्त।
> बिना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति पर्‍यो सब जक्त॥
>
> (स० क० सा० १५।११)

भक्तिका साहित्य भी प्रेमकी अपेक्षा रखता है।[1]

भक्तोंका यह भी दावा है कि वेदान्तमें जिसे 'ब्रह्म-जिज्ञासा' या ब्रह्मकी जानकारीकी इच्छा कहा गया है वह वस्तुतः भक्ति ही है, क्योंकि, कठोपनिषद्में (२।२२) साफ-साफ कहा गया है कि 'परमात्मामें जिसकी भक्ति-श्रद्धा है उसीसे परमात्मा प्रसन्न होते हैं' और वे जिससे प्रसन्न होते हैं वही जिज्ञासा आदिके द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। और फिर यह अत्यन्त मोटी-सी बात है कि जबतक श्रद्धा और प्रेम अधिक नहीं हो जाते तबतक जाननेकी इच्छा (जिज्ञासा) भी नहीं जागती। इसीलिए मानो वेदान्त-दर्शनके प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा' की कमीको पूरा करनेके लिए ही भक्ति-सूत्रकारने कहा, 'अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे (अर्थात् ब्रह्मजिज्ञासा और कुछ नहीं, ईश्वरविषयक परम अनुरक्ति ही है)। 'बोधसार' में आचार्य नरहरिपादने भी कहा है कि जिसे वेदान्तमें अपरोक्षानुभूति कहते हैं वह वस्तुतः प्रेम-लक्षणा भक्तिका ही परिणाम है[2]। और भागवतमें अहैतुक निष्काम भक्तिका फल वैराग्य और ज्ञान ही बताया गया है[3], जो वेदान्तका भी लक्ष्य है।

अब यह मानी हुई बात है कि प्रेम आश्रय-भेदसे भिन्न हो जाता है। रूप-गोस्वामिपादने कहा भी है कि स्वभाव, संस्कार और रुचिवश भक्त लाखों तरहके हो सकते हैं। इसीलिए भक्तिके अंग और भेद भी अनन्त प्रकारके कल्पना किये जा सकते हैं या फिर एक ही भेद माना जा सकता है। वह इस प्रकार कि भक्ति एक ही है, केवल आश्रय-भेदसे अनेक प्रकारकी दीखती है (भ० र० १।४२-३)। भक्ति-शास्त्रीय-ग्रन्थोंमें जो अंग और भेद गिनाये गये हैं वे उपलक्षण-मात्र हैं। वस्तुतः जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है,

---

१ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥—अष्टो०, पृ० ६

२ अपरोक्षानुभूतिर्या वेदान्तेषु निरूपिता।
प्रेमलक्षणभक्तेः स परिणामः स एव हि॥

३ वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहेतुकम्।

—भागवत०, १-२-१

हरि भी अनन्त हैं, उनकी कथा भी अनन्त है और श्रुति तथा सन्त उसका अनन्त भाँतिसे भजन भी करते हैं—

हरि अनन्त हरि-कथा अनन्ता।
बहु प्रकार गावहिं श्रुति-सन्ता॥

सो गुरुपदाश्रय प्रभृति जो भेद भक्ति-शास्त्रोंमें बताये गये हैं वे अन्तिम और पूर्ण नहीं हैं। श्रवण कीर्तन आदि प्रकार भी उपलक्षण भर ही हैं। भक्तिके लिए केवल एक ही बात आवश्यक है,—अनन्यभावसे भगवान्की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिलाशर्त आत्मसमर्पण। कबीरदासमें इन बातोंकी चरम परिणति हुई है। वे गोविन्दको बार-बार पुकार कर कहते हैं[1], 'हे गोविन्द, मैं तुम्हारी शरण आया हूँ, क्यों नहीं मुझे उबार देते? वृक्षके नीचे आदमी छायाके लिए जाता है, अगर उस वृक्षसे ही ज्वाला निकलने लगे तो उपाय ही क्या रह जायगा! आदमी पानी पीकर शीतल होनेके लिए जलाशयमें जाता है, पर अगर वहाँसे आगकी लपटें निकलने लगें तो क्या किया जा सकता है? हे नाथ, कबीर केवल तुम्हींको जानता है, वह तुम्हारे ही शरण आया है। पर कैसे आश्चर्यकी बात है कि तुम्हीं उसे जला रहे हो। हे गोविन्द, सचमुच ही तुम डरनेकी चीज बन गये हो। कहाँ तो तुम्हें अपने प्रेम-पीयूषसे शरणागतकी रक्षा करनी थी, सो तो तुमने की नहीं उल्टे वियोगको वह्निमें झुलसाने लगे (पद-११२)। "अजी हो गुसाईं, मैं गुलाम हूँ, मुझे बेंच दो। यह सारा तन-मन-धन तेरा है और तेरे ही लिए है। राम ही गाहक है, राम ही सौदागर। कबीरने तो तन

---

१ गोव्यंदे तुम्हथैं डरपौं भारी।
सरणाई आयौं क्यूं गहिये, यह कौन बात तुम्हारी।
धूप-दाझतै छांह तकाई, मति तरवर सचपाऊँ।
तरवरमाहै ज्वाला निकसै, तौ क्या लेइ बुझाऊँ।
बजे बन जलैं त जलकूं धावै, मति जल सीतल होई।
जलही माँहि अगिनि जे निकसै, और न दूजा कोई।
तारण-तिरण तिरण तू तारण, और न दूजा जानौं।
कहै कबीर सरनाई आयौ, आन देव नहिं मानौं॥
—क० ग्रं० पद ११२

और मन निछावर करके अपने आपको रामपर कुर्बान कर दिया है[१] !" (पद ११३) "बालमके बिना कबीरदासकी आत्मा तड़प रही है। दिनको चैन नहीं, रातको नींद नहीं। सेज सूनी है, शरीर चर्खा बन गया है। आँखें थक गई हैं, राह दिखती नहीं। हाय रे बेदरदी पिया, तूने सुध भी नहीं ली!"[२] "हाय, वह विरहकी मारी वियोगिनी पिऊ-पिऊ करके जान दे रही है। किन्तु निर्गुण है वह पीव,—निर्मोही है वह भगवान्! शून्य-सनेही राम ही उसके एक-मात्र आराध्य हैं और कौन है जो उस पतिप्राणका दर्शनीय बन सके[३] ?" "हाय कबीरदासके वे दिन कब आवेंगे जब उनका जीवन सफल होगा, देह धरनेका फल प्राप्त होगा, जब पियाके साथ अंगमें अंग मिलाकर रभस आलिंगनका मौका मिलेगा, जब वे प्रियके साथ हिल-मिलकर खेलेंगे, जब उनके शरीर और इन्द्रिय, मन और प्राण प्रियतममें एकरूप हो जायेंगे। न जाने रामराजा वह

---

१ मैं गुलाम मोहिं बेचि गुसांई।
तन-मन-धन मेरा रामजीक ताईं।
आनि कबीरा हाटि उतारा,
सोइ गाहक सोइ बेंचनिहारा।
बेचैं राम तो राखै कौन,
राख राम तो बेचै कौन।
कहै कबीर मैं तन-मन जार्‍या।
साहिब अपना छिन न विसार्‍या।

२ तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया, तलफ तलफके भोर किया।
तन-मन मोर रहँट-अस डोलै, सून सेजपर जनम छिया।
नैन थकित भये पंथ न सूझै, सांई बेदरदी सुध न लिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरो पीर दुख जोर किया।
—क० बच०. पृ० १४१

३ मैं अबला पिउ पिउ करूँ निर्गुन मेरा पीव।
शून्य-सनेही राम बिन, देखूँ और न जीव॥
—स० क० सा० २७-२४

कामना कब पूरी करेंगे[१]। हाय, विरहकी मारी कबीरदासकी आत्मा पिया-मिलनकी आशा लेकर कबतक खड़ी रहे? पियाका निवास ऊँचेपर है। वहाँ जानेमें कितनी झिझक है, कितनी लज्जा! पैर उठते ही नहीं, उठते हैं तो तलमला जाते हैं। सात्त्विक भावके कम्प और रोमांचसे सारा अंग शिथिल हो जाता है, पैर आगे पड़ते ही नहीं, प्रीति-आशंकासे हृदय अस्थिर हो उठता है। हाय, इसने कभी भी तो उस मधुर मिलनका अनुभव नहीं किया,—निपट बारी. निपट अनाड़ी है यह। सँकरा मार्ग है, अटपटी चाल है, मिलन हो तो कैसे हो! सद्-गुरुके उपदेश ही इस विपत्तिकालमें सहारा हैं[२]।" "अरे ओ परदेशी, पियाको

१ वै दिन कब आवैंगे भाइ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंग लगाइ॥
हौं जानूं जे हिलिमिलि खेलूं, तन-मन-प्रान समाइ॥
या कामनां करौ परिपूरन, समरथ हो रांम-राइ।
मोंहि उदासी माधव चाहैं, चितवत रैनि बिहाइ।
सेज हमारी स्यंघ भई है, जब सोऊं तब खाइ॥
यहु अरदास दासकी सुनिये, तनकी तपति बुझाइ।
कहै कबीर मिलै जे सांई, मिलि करि मंगल गाइ।—क० ग्रं०, पद ३०६

२ पिया-मिलनकी आस, रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय, मने लज्जा भरी॥
पांव नहीं ठहराय, चढूं गिर गिर परूं॥
फिरि फिरि चढ़उँ सम्हारि, चरन आगे धरूँ॥
अग अंग थहराइ, तो बहुबिधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि, तो भ्रममें परि रहूँ।
बारी निपट अनारि, ये तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार, मिलन कस होइ है॥
छोरो कुमति-बिकार, सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु शब्द सम्हारि, चरन चित दीजिये॥
अन्तरपट दे खोल, शब्द उर लावरी।
दिलबिच दास कबीर, मिलै तोहिकों बावरी॥—क० वच०, पृ० १४१-२

पहचान ले। कुछ समझमें नहीं आता कि तुझे हो क्या गया है, कौन-सी बुरी आदत तूने सीख ली है! सारी दुनियाका चक्कर मारकर तूने क्या कर लिया, अरे ओ भलेमानस, लाभकी आशामें मूल ही न गवाँ दे। झूठे प्रपंच-चालमें भूले हुए भोले, क्यों दूसरोंके हाथ बिका हुआ है? जल्दी अपने असली प्रियतमको पहचान ले। आज-कल करके समय नष्ट न कर[१]।" "क्यों सोचता है कि उस अविनाशी पियाकी सेज कैसी होगी? वह अनुमानके परे है। उसकी शोभा कह कर समझानेकी नहीं है, वह देखते ही बनती है। ओ विरहिणी, चल उस अविनाशी प्रियतमकी शय्यापर केलि करनेके लिए। कबीर साक्षी हैं कि वहाँ परमानन्द विलास करता है[२]।" "हाय, ऐसा कोई परोपकारी क्या नहीं है जो उस प्रियतमसे कह सके कि कबीर तेरे विरहमें झुलस रहा है! जबतक उस प्रिय-के साथ एकमेक होकर मिला नहीं जाता तबतक तनकी तपन कहाँ बुझती है[३]!"

---

१ अरे परदेसी पीव पिछांनि।
कहा भयो तोकौं, समझि न परई, लागी कैसी बांनि॥
भोमि बिडारणांमैं कहा रातौ, कहा कियो कहि मोहि॥
लाहै-कारनि मूल गमावै समझावत हूं तोहिं।
निस दिन तोहिं क्यों नींद परत है, चितवत नाहीं ताहि।
जम-से बैरी सिरपर ठाढ़े, पर हाथि कहा बिकाइ॥
झूठे परपंचमैं कहां लागौ ऊठै नांहीं चालि।
कहै कबीर कछु बिलम न कीजै कौन देखी काल्हि॥—क० ग्रं०, पद ३१२

२ अविनासीकी सेजका, कैसा है उनमान।
कहिबेकी सोभा नहीं, देखे ही परमान॥
अविनासीकी सेजपर, केलि करै आनन्द।
कहै कबीर वा सेजपर, विलसत परमानन्द॥
स० क० सा० १८, ७४-७५

३ है कोइ ऐसा पर-उपगारी
हरिसूँ कहै सुनाइ रे।
ऐसे हाल कबीर भये हैं,
बिनु देखे जिय जाइ रे॥—क० ग्रं०, पद ३०७

यही है वह अपूर्व तन्मयता, अहैतुक प्रेम; अनन्य-परायण विश्वास और एकान्त-निष्ठा, जो भक्तिकी एकमात्र शर्त है। कबीर निस्सन्देह ऐसे भगवान्‌को मानते थे जो द्वन्द्वातीत है, पक्षातीत है, द्वैताद्वैत-विलक्षण है, त्रिगुणरहित है, 'अपरम्पार पारपुरुसोतिम' है, अकथ है, अकल है, अतीत है, परन्तु कौन भक्त भगवान्‌को ऐसा नहीं मानता? जो लोग शास्त्रज्ञानका दावा करते हैं और फिर भी कबीरकी भक्ति और अद्वैत-भावना और निरगुण-प्रेमको परस्परविरोधी समझते हैं उनका उद्देश्य क्या है, यह वही जानें। हम तो दृढ़ताके साथ कहनेका साहस करते हैं कि कबीरकी भक्ति और भगवद्भावनामे न तो युक्तिसे विरोध है और न शास्त्रसे। कहीं जो विरोध दीखता है तो उसका ऐतिहासिक कारण है। उसका समाधान कर लेना कठिन नहीं है। कबीरदास योग-मार्गकी ओर झुके हुए थे। उनके कुलमें और कुल-गुरु-परम्परामें वह मार्ग प्रतिष्ठित था। बादमे उनका समागम रामानन्दसे हुआ। यह बात कुछ असम्भव नहीं कि रामानन्दके प्रभावमें आनेके पूर्व उन्होंने ऐसे बहुत-से पद लिखे हों जिनमें योग-सम्प्रदायकी परम्परा-प्राप्त अक्खड़ता ही परिलक्षित होती हो और भक्ति-रसका लेश भी न हो। कबीर जैसा फक्कड़ जिस चिजको गलत समझेगा उससे इसीलिए अनन्त कालतक चिपका नहीं रहेगा कि वह कुल-परम्परासे आई है—

> तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः
> क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।

सो जिस दिनसे महागुरु रामानन्दने कबीरको भक्ति-रूपी रसायन दी उस दिनसे उन्होंने सहज समाधिकी दीक्षा ली, आँख मूँदने और कान रूँधनेके टंटेको नमस्कार कर लिया, मुद्रा और आसनकी गुलामीको सलामी दे दी। उनका चलना ही परिक्रमा हो गया, काम-काज ही सेवा हो गये, सोना ही प्रमाम बन गया, बोलना ही नाम-जप हो गया और खाने-पीनेने ही पूजाका स्थान ले लिया। हठयोगके टंटे दूर हो गये, खुली आँखोंसे ही उन्होंने भगवान्‌के मधुर मादक रूपको देखा, खुले कानोंसे ही अनहद नाद सुना, उठते-बैठते सब समय समाधिका आनन्द पाया और अत्यन्त उल्लासके आवेगमें उन्होंने घोषित किया—

> साधो, सहज समाधि भली।
> गुरु-प्रताप जा दिनसे उपजी, दिन दिन अधिक चली॥

जहँ तहँ डोलौं सोई परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा ।
जब सोवों तब करों दण्डवत, पूजों और न देवा ।
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव-पियौं सो पूजा ।
गिरह-उजाड़ एक-सम लेखौं, भाव न राखौं दूजा ॥
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुंदर रूप निहारौं ।
सबद-निरन्तरसे मन लागा, मलिन वासना त्यागी ।
ऊठत-बैठत कबहुं न छूटै, ऐसी तारी लागी ॥
कह कबीर यह उनमुनि-रहनी, सो परगट करि भाई ।
दुख-सुखसे कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई ॥

—शब्दा०, शब्द ३०

धन्य हैं वे गुरु, वे सचमुच उस भ्रमरीके समान हैं जो निरन्तर ध्यानका अभ्यास कराकर कीटको भी भ्रमरी (तितली) बना देती है । कीड़ा भ्रमरी हो गया, नई पाँखें फूट आईं, नया रंग छा गया, नई शक्ति स्फुरित हुई । उन्होंने जाति नहीं देखी, कुल नहीं विचारा । अपने आपमें मिला लिया । नालेका पानी गंगामें जाकर गंगा हो जाता है, कबीर गुरुमें मिलकर तद्रूप हो गये । धन्य हो गुरो, तुमने चञ्चल मनको पंगु बना दिया, तत्त्वमें तत्त्वातीतको दिखा दिया, बन्धनमे निर्बन्ध किया, अगम्यतक गति कर दी । केवल एक ही प्रेमका प्रसंग तुमने सिखाया, पर कैसा अचरज है कि इस प्रेम-मेघकी वर्षासे यह सारा शरीर भींग गया ! रससिक्त आत्मामें भक्तिका अंकुर लहलहा उठा—

कबीर बादल प्रेमका, हम परि बरस्या आइ ।
अंतरि भीगीं आत्मा, हरी भई बनराइ ॥
पूरेसूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि ।
निर्मल कीन्ही आतमा, तार्थैं सदा हजूरि ॥

—क० ग्रं०, पृ० ४

१२. व्यक्तित्व-विश्लेषण

कबीरदासकी वाणी वह लता है जो योगके क्षेत्रमें भक्तिका बीज पड़नेसे अंकुरित हुई थी। उन दिनों उत्तरके हठयोगियों और दक्षिणके भक्तोंमें मौलिक अन्तर था। एक टूट जाता था पर झुकता न था, दूसरा झुक जाता था पर टूटता न था। एकके लिए समाजकी ऊँच-नीच-भावना मजाक और आक्रमणका विषय थी, दूसरेके लिए मर्यादा और स्फूर्तिका। और फिर भी विरोधाभास यह कि एक जहाँ सामाजिक विषमताओंको अन्याय समझकर भी व्यक्तिको सबके ऊपर रखता था, वहाँ दूसरा सामाजिक उच्चताका अधिकारी होकर भी अपनेको 'तृणादपि सुनीचेन' (तृणसे भी गया-गुजरा) समझता था। योगी डटकर जाति-भेदपर आघात करता था, बाह्याचार और तन्मूलक श्रेष्ठताको फटकार बताता था, पर भीतर और बाहर योग-मार्गका प्रत्येक अनुयायी अपनेको समाजके अन्य निकृष्ट जीवोंसे श्रेष्ठ समझता था, दूसरोंकी बहिर्मुखी वृत्तिपर तरस खाता था, नाना प्रकारकी पेंचीदी बातोंसे उसका मजाक बनाता था और आशा करता था कि लोग उसके अचरज-करिश्मे देखकर दाँतों-तले उँगली दबा लें। भक्त जाति-भेद, वर्णाश्रमव्यवस्था और ऊँच नीचमर्यादाको शिरसा स्वीकार कर लेता था, अपनेको भवसागरमें भटकता हुआ गुमराह प्राणी मानता था, अपनी पुरानी पाप-भावनाके लिए बार-बार पश्चात्ताप करता था और आशा करता था कि सर्वान्तर्यामी भगवान् उसके हार्दिक अनुतापको जरूर सुन लेंगे और भवबन्धनसे उसे मुक्त कर देंगे। एकको अपने ज्ञानका गर्व था, दूसरेको अपने अज्ञानका भरोसा; एकके लिए पिण्ड ही ब्रह्माण्ड था और दूसरेके लिए समस्त ब्रह्माण्ड भी पिंड; एकका भरोसा अपनेपर था, दूसरेका रामपर; एक प्रेमको दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञानको कठोर; एक योगी था, दूसरा भक्त।

साधारण जनतामें इन दोनोंसे दो प्रकारकी प्रतिक्रिया हुई। एकने श्रद्धालु गृहस्थके चित्तमें शंकाका भाव पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि माया विकराल है, इससे छुटकारा पाना कठिन है, सिद्धिका मार्ग विघ्न-संकुल है। योग-क्रिया-हीन व्यक्तिकी न जाने कौन-सी दुर्गति होगी, चौरासी लाख योनियोंमें न जाने वह कबतक भटकता फिरेगा। भवजाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है,

साधन-मार्ग दुरधिगम्य है, विघ्नोंकी वाहिनीं रास्ता रोके खड़ी है और गृहस्थ लाचार है। दूसरे (भक्त) ने उसे लापरवाह बना दिया। गलतीसे भी एक बार हरिनाम जिसने ले लिया उसे कुछ और करनेकी जरूरत नहीं, विष्णुका तिलक एक बार अगर सिरपर चढ़ गया तो वैकुण्ठका दरवाजा खुला है, तुलसीकी माला यदि किसी प्रकार मिल गई तो गोलोकमें स्थान निश्चित है। कलियुग सब युगोंसे अच्छा है, क्योंकि इसमें मानस-पापका कुछ फल नहीं होता किन्तु मानस-पुण्यका पूरा फल मिलता है। रामका नाम रामसे भी बड़ा है, भयकी कोई जरूरत नहीं। योगने गृहस्थको जरूरतसे ज्यादा संशयालु बना दिया था, भक्तिने पूरा आशावादी। एकने मुक्तिको मँहगा सौदा बना दिया, दूसरेने बहुत सस्ता। योगमें गलदश्रु भावुकताको कोई स्थान नहीं। जो भक्ति पद-पदपर भक्तको कम्प, आवेग, जड़ता और रोमाद्गमकी अवस्थामें ले आ देती है वह इस क्षेत्रमें अपरिचित थी। और यदि सचमुच ही भाग और विभाग कल्पित हैं, कल्प-विकल्प बेकार हैं, संसार मृगमरीचिका है, परमतत्त्व विभाग और अविभागसे परे है, सूक्ष्म और स्थूलके अतीत है—यदि वह एक-रस है, सम-रस है, तो फिर रोनेसे होता क्या है? अखण्ड-चैतन्यस्वरूप अमायिक परमपुरुषके सामने यह विलाप क्यों? उस गुण-हीन, विकारहीन, दया-माया-हीनको पूजा क्या और स्तुति क्या[1]। निर्ममता और अमायिकता योगकी पहली शर्त है। इसीलिए वह अपने अनुयायोको अक्खड़ बना देता है। कबीरदासने यह अक्खड़ता योगियोंसे विरासतमें पाई थी। संसारमें भटकते हुए जीवोंको देखकर करुणाके अश्रुसे वे कातर नहीं हो आते थे बल्कि और भी कठोर होकर उसे फटकार बताते थे। वे प्रह्लादकी

---

१ अविवेक-विवेक-विबोध इति, अविकल्प-विकल्प विबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति, किमु रोदिषि मानस-सर्वसमः।
बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यते, विददातरयं मृगतोयसमः।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमः किमु रोदिषि मानससर्वसमः॥
सविभक्ति-विभक्तिविहीनपरम्, अनुकाय-विकाय-विहीन परम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवः यजनं च कथं स्तवनं च कथम्॥

—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहमें अवधूत-
गीताके वचन, पृ० ३५

भाँति सर्वजगत्‌के पापको अपने ऊपर ले लेनेकी वाञ्छासे ही विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सुरत और निरतका उपदेश देते थे। संसारमें भरमनेवालोंपर दया कैसी, मुक्तिके मार्गमें अग्रसर होनेवालोंको आराम कहाँ, करमकी रेखपर मेख न मार सका तो सन्त कैसा—

ज्ञानका गेंद कर सुर्तका डंड कर
खेल चौगान-मैदानमाँहीं।
जगतका भरमना छोड़ दे बालके
आय जा भेष-भगवन्त पाहीं॥
भेष-भगवंतकी शेष महिमा करे
शेषके सीरपर चरन डारै।
कामदल जीतिके कँवल-दल सोधिके
ब्रह्मको बेधिके क्रोध मारै॥
पदम-आसन करै पौन परिचै करै
गगनके महलपर मदन जारै।
कहत कब्बीर कोई सन्त-जन जौहरी
करमकी रेखपर मेख मारै॥

शब्दा०, पृ० ५०

परन्तु अक्खड़ता कबीरदासका सर्वप्रधान गुण नहीं है। जब वे अवधू या योगीको सम्बोधन करते हैं तभी उनकी अक्खड़ता पूरे चढ़ावपर होती है। वे योगके विकट रूपोंका अवतरण करते हैं; गगन और पवनकी पहेली बुझाते रहते हैं, सुन्न और सहजका रहस्य पूछते रहते हैं, द्वैत और अद्वैतके सत्त्वकी चर्चा करते रहते हैं और अवधूके अज्ञानपर कुटिल हँसी-सी हँसा करते हैं—

अवधू, अच्छरहूँसों न्यारा।
जो तुम पवना गगन चढ़ाओ, करो गुफामें बासा।
गगना-पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा॥
गगना-मद्धे जोती झलकै, पानी-मद्धे तारा।
घटिगे नीर विनसिगे तारा, निकरि गयौ केहि द्वारा॥
मेरुदंडपर डारि दुलैची, जोगी तारी लाया।
सोइ सुमेरपर खाक उड़ानी, कच्चा योग कमाया।

इँगला बिनसै, पिंगला बिनसै, बिनसै सुषमनि नाड़ी।
जब उनमनिकी तारी टूटै, तब कहँ रही तुम्हारी॥
अद्वैत-विराग कठिन है भाई, अँटके मुनिवर-जोगी।
अच्छर-लौकी गम्म बतावै, सो है मुक्ति-विरोगी॥
कह अरु अकह दुहूँतें न्यारा, सत्त-असतके पारा।
कहैं कबीर ताहि लख जोगी, उतरि जाय भव-पारा॥

इसी भाषाको योगी समझते थे। ठीक भी है, यदि समाधि-मात्रगम्य निर्ममकी भजन-पूजा विहित नहीं है तो योगीसे भी तो उलटके उसी शुष्कता और उसी निर्ममताके साथ पूछा जा सकता है कि बाबा, उन्मनितक तो ठीक है, वहाँ तुमने माना कि अक्षर-पुरुषका साक्षात्कार कर लिया, परन्तु फिर? जब समाधि भंग हुई,—जब उनमनिकी तारी टूटी, तब? तब तो फिर उसी भवजालमें लौट आये। अब तुम्हारी क्या गति होगी? सो, कबीरदास अवधूतसे बात करते समय पूरी अक्खड़तासे काम लेते हैं और अपने व्यक्तित्वको बहुत ऊँचे उठाकर बोलते हैं, क्योंकि वे अवधूके इस मनोभावको पहचानते हैं। एक बार अगर उसे अपने व्यक्तित्वको ऊपर उठा ले जानेकी छूट दे दी गई तो फिर उससे पार पाना कठिन है। विरोधीके ही अस्त्रसे विरोधीको घायल करनेकी कलामें कबीरदास उस्ताद हैं। गगन और पवनके बलपर आतंक जमानेवालेसे यह छोटा-सा प्रश्न कितना सहज और फिर भी कितना तिलमिला देनेवाला है : 'गगना-पवना दोनों बिनसै कहँ गया जोग तुम्हारा?'

यह उनकी अनधिकार चर्चा नहीं थी। वे समाधिगम्य परमपुरुषका साक्षात्कार कर चुके थे, पवनको उलटकर सहस्रार चक्रमें ले जा चुके थे, वहाँके गगनका अनन्य-साधारण गर्जन सुन चुके थे, अवशेष अमृत-वर्षी पावसका अनुभव कर चुके थे, उस महान् पदको देख आये थे जहाँ कोई विरला ही जा सकता है, जहाँ वेद और कतेबकी गम नहीं है, जहाँकी गगन-गुफामें किसी गैबकी चाँदनी छिटकी हुई है, जहाँ उदय और अस्तका नाम भी नहीं है, जहाँ दिन और रातकी पहुँच नहीं है,—जो प्रेमके प्रकाशका समुद्र है, जो सदानन्दका विशाल निर्झर है, जो भ्रम और भ्रान्तिसे परे है, जो एक-रस है, ब्रह्मकी छौलमें (आनन्दमें) वे निश्चित रूपसे झूल चुके थे—

करत कल्लोल दरियावके बीचमें,
ब्रह्मकी छौलमें हंस झूलै।
अर्ध औ' ऊर्ध्वकी पंग बाढ़ी तहाँ,
पलट मन पवनको कँवल फूलै॥
गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेबकी गम्म नाहीं तहाँ,
कहै कब्बीर कोई रमै सूरा॥
गगनकी गुंफा तहँ गैबका चाँदना,
उदय और अस्तका नाम नाहीं।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइये,
प्रेम-परकासके सिन्धु-माहीं॥
सदा आनन्द दुख-दंद ब्यापै नहीं,
पूरनानन्द भरपूर देखा।
भर्म और भ्रान्ति तहँ नेक आवै नहीं,
कहै कब्बीर रस एक पेखा॥

—शब्दा०, पृ० १०४

परन्तु वे स्वभावसे फक्कड़ थे। अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, जिससे एक बार चिपट गये उससे जिन्दगीभर चिपटे रहो, यह सिद्धान्त उन्हें मान्य नहीं था। वे सत्यके जिज्ञासु थे और कोई मोह-ममता उन्हें अपने मार्गसे विचलित नहीं कर सकती थी। वे अपना घर जलाकर हाथमें मुराड़ा लेकर निकल पड़े थे और उसीको साथी बनानेको तैयार थे जो उनके हाथों अपना भी घर जलवा सके—

हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारौं तासुका, जो चलै हमारे साथ॥

—स० क० सा० ५।८

वे सिरसे पैरतक मस्त-मौला थे। मस्त,—जो पुराने कृत्योंका हिसाब नहीं रखता, वर्तमान कर्मोंको सर्वस्व नहीं समझता और भविष्यमें सब कुछ झाड़-फटकार निकल जाता है। जो दुनियादार किये-करायेका लेखा-जोखा दुरुस्त रखता है वह

मस्त नहीं हो सकता। जो अतीतका चिट्ठा खोले रहता है वह भविष्यका क्रान्त-दर्शी नहीं बन सकता। जो इश्कका मतवाला है वह दुनियाके माप-जोखसे अपनी सफलताका हिसाब नहीं करता। कबीर जैसे फक्कड़को दुनियाकी होशियारीसे क्या वास्ता? ये प्रेमके मतवाले थे मगर अपनेको उन दीवानोंमें नहीं गिनते थे जो माशूकके लिए सरपर कफन बाँधे फिरते हैं, जो बेकरारीकी तड़पनमें इश्कका चरम फल पानेका भान करते हैं, क्योंकि बेकरारी उस वियोगमें होती है जिसमें प्रिय दूर हो,—उसे पाना कठिन हो। पर जहाँ प्यारेसे एक क्षणके लिए भी बिछोह नहीं, वहाँ तड़पन कैसी? जो गगरी भरी है उसमें छलकन कहाँ? जहाँ द्वैत-भावना ही मिट गई हो उस अजब मस्तीमें बेचैनी कहाँ?—

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमनको होशियारी क्या।
रहें आजाद या जगसे, हमन दुनियासे यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारेसे, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमनको इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपनेको, बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरुनाम साँचा है, हमन दुनियासे यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे, न हम बिछुड़ें पियारेसे।
उन्हींसे नेह लागी है, हमनको बेकरारी क्या।
कबीरा इश्कका माता, दुईको दूर कर दिलसे।
जो चलना राह नाजुक है, हमन सिर बोझ भारी क्या॥

—शब्दा०, पृ० १६–१७

इसीलिए ये फक्कड़राम किसीके धोखेमें आनेवाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम राम करके आगे चल दिये। योग-प्रक्रियाको उन्होंने डटके अनुभव किया, पर जँची नहीं। उन नकटोंके समान चुप्पी साधना उन्हें मालूम न था जिन्होंने इस आशापर नाक कटा ली थी कि इस बाधाके दूर होते ही स्वर्ग दिखाई देने लगता है। उन्हें यह परवा न थी कि लोग उनकी असफलतापर क्या-क्या टिप्पणी करेंगे। उन्होंने बिना लाग-लपेटके, बिना झिझक और संकोचके एलान किया—

आसमानका आसरा छोड़ प्यारे,
उलटि देख घट अपना जी।

तुम आपमें आप तहकीक करो,
तुम छोड़ो मनकी कलपना जी।

क० व०, पृ० १३३, पद ८७

आसमान अर्थात् गगन-चन्द्रकी परम ज्योति। जो वस्तु केवल शारीरिक व्यायाम और मानसिक शम-दमादिका साध्य है वह चरम सत्य नहीं हो सकती। योगी लोग एक प्रकारकी जड़-समाधिकी बात स्वीकार करते हैं जिसमें योगी लक्ष्य-भ्रष्ट होकर जड़ शरीर-विकारको सिद्धि समझने लगता है। परम-पुरुष योगका परम प्रतिपाद्य है, आत्मा-गम्य है, वह आँख-कानका विषय नहीं है। केवल शारीरिक और मानसिक कवायदसे दीखनेवाली ज्योति जड़ चित्तकी कल्पना-मात्र है। वह भी बाह्य है। कबीरने कहा, और आगे चलो। केवल क्रिया बाह्य है, ज्ञान चाहिए। बिना ज्ञानके योग व्यर्थ है। केवल पिण्डमें,—तत्रापि गगन-गुफामें या शून्यचक्रमें यदि घटघटवासी मिलता है तो कहीं बिसमिल्ला ही गलत हो गया है। अगर कहते हो कि वह केवल भीतर ही है तो बाहरका यह सारा विश्वब्रह्माण्ड मारे लज्जाके पानी-पानी हो जाता है। क्या गगन-गुफाके बाहर सब-कुछ भगवान्के बाहर है, क्या उसके कणकणमें प्रभु व्याप्त नहीं है, क्या वह व्यर्थ ही जगत्में पडा हुआ है? पर अगर इसीकी ओर ताकें, यही मान लें कि बाहरकी सारी दुनियामें ही वह परम पुरुष रम रहा है और भीतर उससे शून्य है तो यह बात झूठ है। कबीरदासने कितनी ही बार 'कमल-कुआमें ब्रह्मरस' का पान किया था, गगनसे झरते हुए अमृत-रसका आस्वादन किया था। यह झूठ है कि वह परम-पुरुष भीतर नहीं है। जो कहता है कि वह भीतर ही है बाहर नहीं, वह सारे बाह्य जगत्को व्यर्थ ही लज्जित करता है और जो कहता है कि वह भीतर है ही नहीं, वह झूठा है। कबीरदास हैरान हैं कि क्या कहकर इस अकथ-कथाको कहैं—

ऐसा लो, नहिं तैसा लो।
मैं केहि विधि कथौं, गँभीरा लो।
भीतर कहूँ, तो जगमय लाजै
बाहर कहूँ तो झूठा लो।
बाहर-भीतर, सकल निरन्तर
गुरु-परतापैं दीठा लो।

कबीरकी यह घर-फूँक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अक्खड़ता उनके अखण्ड आत्मविश्वासका परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञानको, अपने गुरुको और अपनी साधनाको सन्देहकी नजरोंसे नहीं देखा। अपने प्रति उनका विश्वास कहीं भी डिगा नहीं। कभी गलती महसूस हुई तो उन्होंने एक क्षणके लिए भी नहीं सोचा कि इस गलतीके कारण वे स्वयं हो सकते हैं, उनके मतसे गलती बराबर प्रक्रियामें होती थी, मार्गमे होती थी, साधनमें होती थी। शायद उनके नामपर चलनेवाले हजारों भजनोंमेंसे एक भी हमारे इस कथनके प्रतिवादमें नहा उद्धृत किया जा सकता। उनकी अखण्ड आत्म-निष्ठामें एक क्षणके लिए भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखण्ड आत्म-विश्वासको आश्रय करके ही पनपती है। कबीरके लिए साधना एक विकट संग्राम-स्थली थी, जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिरको उतारकर देनेकी कला नहीं आती वह इस मार्गका राही नहीं बन सकता—

पकरि समसेर मैदानमें पैसिये,
देह-परजंत करु जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियाँ दाब जहँका तहाँ,
आय दरबारमे सीस नाई।
करत मतवाल जहाँ संत-जन सूरमा,
घुरत निस्सान तहँ गगन घाई॥
कहै कब्बीर अब नामसों सुरखरू,
मौज दरबारकी भक्ति पाई॥

—शब्दा०, पृ० १०६

कबीर जिस साँईकी साधना करते थे वह मुफ्तकी बातोंसे नहीं मिलता था। उस रामसे सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था—

साँई सेंत न पाईये, बाताँ मिलै न कोय।
कबीर सौदा रामसों, सिर बिन कदै न होय॥

स० क० सा० ८५-४६

रामानन्दकी प्रेय-भक्तिका यह एक अभूतपूर्व परिणाम हुआ। भक्तिके अश्रु, स्वेद, कम्प आदि महाभाव हवा हो गये। भगवान्‌का प्रेम बड़ी चीज है, पर उस बड़ी चीजको पानेकी साधना भी बड़ी होनी चाहिये। प्रेमका यह व्यापार कुछ

खालाका घर नहीं है कि बात-बातपर मचल गये और फरमाइश पूरी हुई। यहाँ तो वही प्रवेश पानेका हकदार है जो पहले सिर उतारकर धरतीपर रख दे—

कबीर यह घर प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घरमाहिं॥
कबीर निज घर प्रेमका, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेमका स्वाद॥

—क० ग्रं०, पृ० ६९

यह प्रेम किसी खेतमें नहीं उपजता, किसी हाटमें नहीं बिकता, फिर भी जो कोई भी इसे चाहेगा, पा लेगा। वह राजा हो या प्रजा, उसे सिर्फ एक शर्त माननी होगी, वह है शर्त सिर उतारकर धरतीपर रख ले। जिसमें साहस नहीं, जिसमें इस अखण्ड प्रेमके ऊपर विश्वास नहीं, उस कायरकी यहाँ दाल नहीं गलेगी। हरिके मिल जानेपर साहस दिखानेकी बात करना बेकार है, पहले हिम्मत करो, भगवान् आगे आकर मिलेंगे। उथली भावुकता, हिस्टीरिक प्रेमोन्माद और बातूनी इश्क यहाँ बेकार हैं,—अपने अधिगम्यपर अखण्ड विश्वास ही इस प्रेमकी कुंजी है;—विश्वास, जिसमें संकोच नहीं, द्विधा नहीं, बाधा नहीं।

प्रेम न खेतौं नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥
सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तनकी आस।
आगेथैं हरि मुलकिया, आवत देख्या दास॥
भगति दुहेली रामकी, नहिं कायरका काम।
सीस उतारै हाथि करि, सो लेसी हरि नाम॥

—क० ग्रं०, पृ० ७०

कबीरदास भक्त और पतिव्रताको एक कोटिमें रखते थे। दोनोंका धर्म कठोर है, दोनोंकी वृत्ति कोमल है, दोनोंके सामने प्रलोभनका दुस्तर जंजाल है, दोनों ही कांचन-पद्मधर्मी हैं,—बाहरसे मृदु, भीतरसे कठोर; बाहरसे कोमल, भीतरसे परुष; सबकी सेवामें व्यस्त, पर एककी आराधिका पतिव्रता ही भक्तके साथ तुलनीय हो सकती है। सतीकी सिंदूर-रेखाके बदले काजल नहीं दिया जा सकता और कबीरके नैनोंमें भी राम रम गया है, दूसरा नहीं रम सकता—

कबीर रेख सिंदूरकी, काजल दिया न जाइ।
नैन रमइया रमि रहा, दूजा कहाँ समाइ।

भक्तकी यह प्रार्थना केवल सतीको ही शोभ सकती है—

नैना अंतर आव तूँ, ज्योंही नैंन झँपेऊँ।
नाँ हौं देखौं औरकूँ, ना तुझ देखन देऊँ॥
मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपताँ, क्या लग्गै है मेरा॥

कबीरदासमें यह जो अपने प्रति और अपने प्रियके प्रति एक अखण्ड अविचलित विश्वास था उसीने उनकी कवितामें असाधारण शक्ति भर दी है। उनके भाव सीधे हृदयसे निकलते हैं और श्रोतापर सीधे चोट करते हैं। जो लोग इस रहस्यको नहीं जानते वह व्यर्थ ही पांडित्य-प्रदर्शनसे पाठकोंका समय नष्ट करते हैं। प्रेम-भक्तिका यह पौधा भावुकताकी आँचसे न तो झुलसता ही है और न तर्कके तुषारपातसे मुरझाता है। वह हृदयके पातालभेदी अन्तस्तलसे अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे ढाह सकता है। इस प्रेममें मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अन्धानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड्डता नहीं है पर अक्खड़ता है,—इसकी प्रचण्डता सरलताका परिणाम है, उग्रता विश्वासका फल है, तीव्रता आत्मानुभूतिका विवर्त है। यह प्रेम वज्रसे भी कठोर है, कुसुमसे भी कोमल! इसमें हार भी जीत है, जीत भी जीत है।

हारौं तो हरि मान है, जो जीतूँ तो दाव।
पारब्रह्मसों खेलता, जो सिर जाय तो जाय॥

—स० क० सा० ८५–९०

इस सरलता और विश्वासके कारण ही जहाँ वे एक स्थानपर भगवान्के निकट अतिशय विनीत और हतदर्प दीखते हैं वहाँ दूसरे स्थानपर चुनौती देते हुए भी दिख जाते हैं। पर कहीं भी उन्होंने शिकायत नहीं की, मचलनेका अभिनय नहीं किया, उपालम्भोंकी झड़ी नहीं लगाई,—महान्की महत् मर्यादाको उन्होंने कभी अपनी ससीमतासे गँदला नहीं किया। साँईंके प्रति उनकी भक्ति अडिग है। वे रामके कुत्तेके रूपमें अपना परिचय देते नहीं लजाते। कबीर

रामका कुत्ता है, नाम उसका मुतिया है। रामने ही इस मुतियाके गलेमें एक रस्सी बाँध दी है। सो वह जिधर खींचता है, मुतिया भी उधर ही जाता है। जब वह तो-तो करके पुकारता है तो मुतिया भी उसके पास चला जाता है और जब दुर-दुर करता है तो बेचारे मुतियाको भागनेके सिवा और चारा ही क्या है? कबीरदास कहते हैं कि भगवान् जैसे रखे वैसे ही रहना श्रेयस्कर है, वह जो दे दे वही खा लेना कर्तव्य है। निरीह सारल्यका यह चरम दृष्टान्त है—

कबीर कूता रामका, मुतिया मेरा नाउँ।
गलै रामकी जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ॥
तो तो करै तो बाहुड़ों, दुरि दुरि करै तो जाउँ।
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहों, जो देवै सो खाउँ॥

—क० ग्रं०, पृ० २०

आत्मसमर्पणकी यह हद है। इतनेपर भी मनको प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम-रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतमको कौन-सा ढंगप सन्द हो, कौन-सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय, उस अजब मस्ताने प्रियका समागम कैसा होता होगा!—

मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तनमैं ढंग।
क्या जाणौं उस पीव-सूँ, कैसी रहसी रंग।

—क० ग्रं०, पृ० २०

इस उक्तिको अपने प्रति अविश्वास समझना गलती होगी। इसमें केवल प्रेमातिशय्य और औत्सुक्य प्रकट हुआ है। भक्तको अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है, पर प्रियकी उच्चता और महिमाके प्रति उसका विश्वास और भी अधिक है। अविचल प्रेमी ही यह सोचता है कि उसका प्रेमी कहीं अतृप्त न लौट जाय। अपनी अपूर्णता इस उत्सुकता और आशंकाका कारण होती है, अपने प्रति अवज्ञा नहीं।

पता नहीं कि कबीरदासने 'मुतिया' नाम क्यों पसन्द किया। क्या अनुमान किया जाय कि उनका बचपनका नाम मुतिया था? असम्भव नहीं। पर मुतिया नाम है बड़ा जानदार। इस नाममें ही कुत्तेकी सारी निरीहता मानों दुम हिलाती हुई सामने खड़ी हो जाती है। कभी-कभी आश्चर्य हो जाता है कि क्या यह वही आदमी है जो बीसियों बार गगनगुफाका चक्कर लगा लेनेके बाद उधरके कोने

कोनेसे ऐसा परिचित हो गया कि बड़ेसे बड़े अवधूतको ललकार सकता है, जो शास्त्र और परम्पराके जटिल जालमें घुसकर इस सफाईके साथ उसकी ग्रंथियाँ शिथिल कर देता है कि जाल फैलानेवाला ही आश्चर्य-भरी मुद्रासे देखता रह जाता है, जो क्षणभरके लिए भी अपने ज्ञानको नहीं भूलना चाहता और जिसकी उक्तियाँ प्रतिपक्षके ऊपर सीधा आघात करती हैं ! परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। सरल आदमी ही प्रचण्ड होता है, विश्वासपरायण मनुष्य ही निरीह होता है, निष्ठावान् ही विनीत होता है।

कबीर जब 'पंडित' या 'शेख' पर आक्रमण करनेको उद्यत होते हैं तो उतने सावधान नहीं होते जितने अवधूत या योगीपर आक्रमण करते समय दिखते हैं। कारण यह है कि 'पंडित' और 'शेख' के ज्ञान-भण्डारको उन्होने उतनी सूक्ष्मताके साथ नहीं देखा जितनी बारीकीसे अवधूतकी साधना देखी है। इसीलिए यह आक्रमण उतना उग्र भी नहीं होता। वह पण्डित और शेखको इस प्रकार पुकारते हैं गोया वे नितान्त नगण्य जीव हों,—केवल बाह्याचारोंके गट्ठर, केवल कुसंस्कारोंके गुड्डे। साधारण हिन्दू-गृहस्थपर आक्रमण करते समय वे लापरवाह होते हैं और इसीलिए लापरवाही-भरी एक हँसी उनके अधरोंपर मानो खेलती रहती है। मानो वे इन अदने आदमियोंको इस योग्य भी नहीं समझ रहे हों जिनपर आक्रमण किया जा सके। परन्तु इस लापरवाहीके कारण ही इन आक्रमणोंमें एक सहज-सहज भाव और एक जीवन्त काव्य मूर्त्तिमान् हो उठा है। यही लापरवाही कबीरके व्यंग्योंकी जान है। सच पूछा जाय तो आजतक हिन्दीमें ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ। उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यन्त सादी किन्तु अत्यन्त तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य-साधारण है। हमने देखा है कि बाह्याचारपर आक्रमण करनेवाले सन्तों और योगियोंकी कमी नहीं है, पर इस कदर सहज और सरस ढंगसे चकनाचूर करनेवाली भाषा कबीरके पहले बहुत कम दिखाई दी है। व्यंग्य वह है, जहाँ कहनेवाला अधरोष्ठोंमें हँस रहा हो और सुननेवाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहनेवालेको जवाब देना अपनेको और भी उपहासास्पद बना लेना हो जाता हो। कबीरदास ऐसे ही व्यंग्यकर्ता थे—

ना जाने तेरा साहब कैसा है।
मसजिद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहब तेरा बहिरा है !

चिउँटीके पग नेवर बाजे, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होयके आसन मारै, लम्बी माला जपता है ॥
अन्तर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है।
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नेंव जमाता है ॥
चलनेका मनसूबा नाहीं, रहनेको मन करता है।
कौड़ी कौड़ी माया जोडी, गाड़ि जमींमें धरता है।
जेहि लहना है सो लै जइ है, पापी बहि बहि मरता है।
सतवन्तीको गजी मिलै नहिं, वेश्या पहिरै खासा है ॥
जेहि घर साधू भीख न पावै, भंडुआ खात बतासा है ॥
हीरा पाय परख नहिं जाने, कौड़ी परखन करता है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसेको तैसा है ॥

—कबीर वच०, पृ० १५४

यह भाषा झकझोर देनेवाली है,—जितनी ही सादी उतनी ही तेज। पढ़ते समय साफ मालूम होता है कि कहनेवाला अपनी ओरसे एकदम निश्चिन्त है। अगर वह अपनी ओरसे इतना निश्चिन्त न होता तो इस तरहका करारा व्यंग्य नहीं कर सकता।

कबीरके पूर्ववर्ती सिद्ध और योगी लोगोंकी आक्रमणात्मक उक्तियोंमें एक प्रकारकी हीन भावनाकी ग्रंथि या 'इनफीरियारिटी कम्प्लेक्स' पाया जाता है। वे मानों लोमड़ीके खट्टे अंगूरोंकी प्रतिध्वनि हैं, मानो चिलम न पा सकनेवालोंके आक्रोश हैं। उनमें तर्क है पर लापरवाही नहीं है, आक्रोश है पर मस्ती नहीं है, तीव्रता है पर मृदुता नहीं। कबीरदासके आक्रमणोंमें भी एक रस है; एक जीवन है, क्योंकि, वे आक्रान्तके वैभवसे परिचित नहीं थे और अपनेको समस्त आक्रमण-योग्य दुर्गुणोंसे मुक्त समझते थे। इस तरह जहाँ उन्हें लापरवाहीका कवच मिला था वहाँ अखण्ड आत्म-विश्वासका कृपाण भी।

कबीर उस समाजमें पालित हुए थे जो न तो हिन्दुओं द्वारा समादृत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्ण रूपसे स्वीकृत। वह कुलपरम्परासे ज्ञानर्जनके अयोग्य समझा जाता था। बाहरके प्रलोभनसे हो या भीतरके आघातसे, वह मुसलमानी राजत्वकालमें मुसलमान धर्म ग्रहण करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सका था, पर न तो राजधर्मके ग्रहण कर लेनेके कारण उसमें राजकीय गरिमाका संचार ही हुआ

था और न प्राचीन हीनतासे उद्धार ही। नाम-मात्रकी मुसलमान इस जुलाहा जातिके रक्तमें प्राचीन योगमार्गीय विश्वास पूरी मात्रामें वर्तमान था, पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करनेका दरवाजा उसके लिए रुद्ध हो गया था। ये गरीबीमें जनमते थे, गरीबीमें ही पलते थे और उसीमें ही मर जाया करते थे। ऐसे कुलमें पैदा हुए व्यक्तिके लिए कल्पित ऊँच-नीच भावना और जाति-व्यवस्थाका फौलादी ढाँचा तर्क और बहसकी वस्तु नहीं होती, जीवन-मरणका प्रश्न होता है। कबीर-दास इसी समाजके रत्न थे। वे सामाजिक विषमताओंको बौद्धिक तर्क-विलासकी वस्तु न समझते रहे हों, तो यह आश्चर्यकी बात नहीं है। सौभाग्यवश उन्हें वे सब युक्तियाँ नहीं मालूम थीं जो इस स्पष्ट ही अनुचित समाज-व्यवस्थाको उचित साबित कर सकती हैं। वे उन शास्त्रीय विचारोंसे सर्वथा मुक्त थे जो सामाजिक जीवनको स्थितिशील (स्टेटिक) देखनेमें ही समाजका कल्याण समझते हैं। और भी उनमें आत्मविश्वास परिपूर्ण मात्रामें था। यह जो बाह्याचारोंकी जीवन्त प्रतिक्रिया, शास्त्रीय विचारकी अनभिज्ञताके कारण निर्भीक आक्रमणका-रिता और अपनी निर्दोषिताका परिपूर्ण भरोसा है उसने उनके आत्मविश्वासको भी आक्रामक (एग्रेसिव्ह) बना दिया था और उनकी लापरवाहीको भी रक्षणा-त्मक (डिफेन्सिव्ह) बना दिया था। इसीलिए वे सीधी बातको भी ललकारनेकी भाषामें ही बोलते थे। सारी परिस्थितिका विश्लेषण न कर सकनेवाले पंडित इसे अटपटी वाणी समझकर सन्तोष कर लेते हैं या फिर घमण्ड और दम्भ समझकर कुछ आश्वस्तसे हो लेते हैं।

जो लोग पौराणिक कथाओंको जानते हैं उन्हें मालूम है कि करीब-करीब सभी देवताओं और ऋषि मुनियोंके नाम ऐसी कहानियाँ मिलती हैं जिनसे उनके चरित्रकी विशुद्धतामें सन्देह होता है। पर जो लोग पुराणोंके तत्त्ववादके जानकार हैं वे उनमें भी भगवल्लीलाका आभास पाते हैं और उन्हें न तो उक्त कथाओंमें अविश्वास होता है और न उन मुनियों या देवताओंके चरित्रके विषयमें सन्देह। कबीरदास पौराणिक कथाओंके थोड़े-बहुत जानकार थे, पर तत्त्ववादके कायल न थे, शायद जानते भी नहीं थे। इसीलिए उन्होंने कथापर विश्वास करके मुनियों और देवताओंके चरित्रको उसी रूपमें स्वीकार किया जिस रूपमें लिखा गया है। अपने ऊपर उनका विश्वास प्रबल था और पौराणिक कथाओंने सुर-नर-मुनिके चरित्रोंपर सन्देह करनेका अवसर दिया। इसीलिए अत्यन्त सीधी और सहज बात

कहते समय भी उनके आत्मविश्वासका आक्रामक रूप प्रकट हो ही गया—

झीनी झीनी बीनी चदरिया।

काहेकै ताना काहेकै भरनी, कौन तारसे बीनी चदरिया।
इँगला-पिंगला ताना भरनी, सुसमन तारसे बीनी चदरिया॥

आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया।
साईंको सियत मास दस लागै, ठोक ठोकके बीनी चदरिया॥

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़िन, ओढ़िके मैली कीनी चदरिया।
दास कबीर जतनसे ओढ़िन, ज्योंकै त्यों धर दीनी चदरिया॥

—शब्दा०, पृ० ७४

इसमें दम्भका लेश भी नहीं है, घमण्डका स्पर्श भी नहीं है। है केवल अपने अखण्ड विश्वास और पौराणिक कथानकोंकी सरलतापूर्ण स्वीकृति। सचमुच ही तो इस पंच तत्त्व और तीन गुणकी शरीर-चादर सभी मुनियों और देवताओंने ओढ़के मैली कर दी है। पुराण तो ऐसा ही बताते हैं और यह भी सच है कि कबीरदासने उस चादरको मैली नहीं होने दी। कबीरकी अन्तरात्मा इस महा-सत्यका अविसंवादी साक्षी है। फिर इसमें दम्भ या घमण्ड कहाँ है ? पर जो कोई इसे पढ़ेगा वह इस आत्मविश्वासके आक्रमणकारी पहलूको लक्ष्य किये बिना नहीं रहेगा। सारी बात कुछ इस लहजेमें कही गई है कि वह आक्रमणमूलक हो गई है। 'सुर-नर-मुनि' को उँगली दिखाकर कहना और उनकी तुलनामें अपने आपको बैठा देना और फिर उनसे बड़ा बताना निश्चय ही एक ऐसा तीव्र कटाक्ष है जो लक्ष्यभूत श्रोताको चिढ़ाये बिना नहीं रह सकता। पर लक्ष्य करने योग्य है कहनेवालेकी लापरवाही। वह इतनी बड़ी चिढ़ा देनेवाली बात कह गया है लेकिन कटुताके साथ नहीं, और प्रत्याक्रमणकी चिन्ताके साथ तो बिलकुल नहीं।

ऐसे थे कबीर। सिरसे पैरतक मस्त-मौला; स्वभावसे फक्कड़, आदतसे अक्खड़; भक्तके सामने निरीह, भेषधारीके आगे प्रचण्ड; दिलके साफ, दिमागके दुरुस्त; भीतरसे कोमल, बाहरसे कठोर; जन्मसे अस्पृश्य, कर्मसे वन्दनीय। वे जो कुछ कहते थे अनुभवके आधारपर कहते थे, इसीलिए उनकी उक्तियाँ वेधने-वाली और व्यंग्य चोट करनेवाले होते थे। उनके पूर्ववर्ती बाह्याचार-विरोधियोंने स्वयं अपने लिए बाह्याचारका आडम्बर बना रखा था, इसलिए उनमें वह मस्ती-भरी लापरवाही नहीं थी जो कबीरको इतना आकर्षक बनाये हुए है। फिर उनके पूर्ववर्ती सहजयानी बौद्ध, और योगी लोग जितनी भी पोथीकी निन्दा

क्यों न करें, पोथी उनकी पढ़ी होती थी और भीतर ही भीतर वे पोथीकी महिमासे अभिभूत होते थे। कबीरके समान निर्भीक आत्म-विश्वासके साथ वे कभी नहीं कह सके कि—

मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होइ रे !
मैं कहता हौं आँखिन देखी
तू कहता कागदकी लेखी;
मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यो अरुझाइ रे !

अखंड आत्म-विश्वास और अहैतुक भक्तिके बिना इतनी सफाईसे कोई नहीं कह सकता कि तू राख्यो अरुझाइ रे ! सहज बातको सहज ही न कह व्यर्थ तर्क-फेनिल बना देना ही क्या अधिकांश 'कागदकी लेखी' का कार्य नहीं है ? कबीरके बहुत दिन बाद एक दूसरे भक्तने कहा था—शुरूसे ही कुछ लोग नाना प्रकारके पारिभाषिक शब्दोंमें सोचनेका अभ्यास कर लेते हैं। इनमें जो जितना ही अधिक कल्पना-प्रवीण होता है वह उतना ही बड़ा पंडित माना जाता है, पर सही बात यह होती है कि इस कौशलसे वे भगवान्से क्रमशः दूर ही होते जाते हैं और अपनी कल्पनाओंको ही ये तर्क-निष्ठ लोग 'शास्त्र' नाम देते हैं !—

अभ्यासाद्य उपाधिजात्यनुमितिव्याप्त्यादिशब्दावले—
र्जन्मारभ्य सुदूरदूरभगवद्वार्त्ताप्रसंगा अमी।
ये यत्राधिककल्पनाकुशलिनस्ते तत्र विद्वत्तमाः
स्वीयं कल्पनमेव शास्त्रमिति ये जानन्त्यहो तार्किकाः !

—कविकर्णपूर, चैतन्य-चन्द्रोदय (द्वितीय अंक)

और भी बहुत दिन बाद एक और कविने अचरजभरी मुद्रामें व्यर्थके तर्कजालको देखकर हैरान होकर कहा है, उनकी बातें मुझे चक्करमें डाल देती हैं लेकिन तुम्हारी बात मेरी समझमें आ जाती है। तुम्हारा आकाश है और तुम्हारी ही हवा है, यह तो बहुत सीधी-सी बात है !—

ओदेरे कथाय धाँदा लागे
तोमार कथा आमि बुझि।
तोमार आकाश तोमार बातास,
एइ त सबइ सोजासुजि ॥—(रवीन्द्रनाथ)

कबीर 'ज्ञानके हाथी' पर चढ़े थे, पर 'सहजका दुलीचा' डाले बिना नहीं, भक्तिके मन्दिरमें प्रविष्ट हुए थे, पर 'खालाका घर' समझकर नहीं, बाह्याचारका खण्डन किया था, पर निरुद्देश्य आक्रमणकी मंशासे नहीं, भगद्विरहकी आँचमें तपे थे, पर आँखोंमें आँसू भर कर नहीं,—रामको आग्रहपूर्वक पुकारा था, पर बालकोचित मचलनके साथ नहीं—सर्वत्र उन्होंने एक समता (बैलेंस) रखी थी। केवल कुछ थोड़ेसे विषयोंमें वे समता खो गये थे। अकारण सामाजिक उच्च-नीच मर्यादाके समर्थकोंको वे कभी क्षमा नहीं कर सके, भगवान्के नामपर पाखण्ड रखनेवालोंको उन्होंने कभी छूट नहीं दी, दूसरोंको गुमराह बनानेवालोंको उन्होंने कभी तरह देना उचित नहीं समझा। ऐसे अवसरोंपर वे उग्र थे, कठोर थे और आक्रामक थे। पर गुमराह लोगोंकी गलती दिखानेमें उन्हें एक तरहका रस मिलता था। व्यंग्य करनेमें उन्हें जैसे तृप्ति मिलती थी। निम्नलिखित पदमें गंगा नहानेवालियोंकी कैसी कस कर खबर ली गई है—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसमके मूँड़े दिहिन धराय।
बिछुवा पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसमके मारिन धाय।
गंगा न्हाइन जमुना न्हाइन, नौ मन मैल है लिहिन चढ़ाय।
पाँच-पचीसकै धक्का खाइन, घरहुँकी पूँजी आई गँवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरुसों, नहिं तोर मुकुती जाइ नसाइ॥

—क० वच०, पृ० १४४

भक्तिके अतिरेकमें उन्होंने कभी अपनेको पतित नहीं समझा। क्योंकि उनके दैन्यमें भी उनका आत्म-विश्वास साथ नहीं छोड़ देता था। उनका मन जिस प्रेमरूपी मदिरासे मतवाला बना हुआ था वह ज्ञानके गुणसे तैयार की गई थी, इसीलिए अन्धश्रद्धा, भावुकता और हिस्टीरिक प्रेमोन्मादका उनमें एकान्त अभाव था। युगावतारकी शक्ति और विश्वास लेकर वे पैदा हुए थे और युगप्रवर्तककी दृढ़ता उनमें वर्तमान थी, इसीलिए वे युग-प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्यमें उनके व्यक्तित्वको कहा जा सकता है: वे सिरसे पैरतक मस्तमौला थे—बेपरवाह, दृढ़, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर।

१३. भारतीय धर्म-साधनामें कबीरका स्थान

जिस युगमें कबीर आविर्भूत हुए थे उसके कुछ ही पूर्व भारतवर्षके इतिहासमें एक अभूतपूर्व घटना घट चुकी थी। यह घटना इसलाम जैसे एक सुसंगठित सम्प्रदायका आगमन था। इस घटनाने भारतीय धर्ममत और समाज-व्यवस्थाको बुरी तरहसे झकझोर दिया था। उसकी अपरिवर्तनीय समझी जानेवाली जाति-व्यवस्थाको पहली बार जबर्दस्त ठोकर लगी थी। सारा भारतीय वातावरण संक्षुब्ध था। बहुत-से पंडितजन इस संक्षोभका कारण खोजनेमें व्यस्त थे और अपने-अपने ढगपर भारतीय समाज और धर्म-मतको सँभालनेका प्रयत्न कर रहे थे।

सबसे पहले यह समझ लिया जाय कि यह घटना अभूतपूर्व क्यों थी और इसमें नवीनता क्या थी? भारतवर्ष कोई नया देश नहीं है। बड़े-बड़े साम्राज्य उसकी धूलमें दबे हुए हैं, बड़ी-बड़ी धार्मिक घोषणायें उसके वायुमण्डलमें निनादित हो चुकी हैं, बड़ी-बड़ी सभ्यतायें उसके प्रत्येक कोनेमें उत्पन्न और विलीन हो चुकी हैं, उनके स्मृति-चिह्न अब भी इस प्रकार निर्जीव होकर खड़े हैं मानो अट्टहास करती हुई विजयलक्ष्मीको बिजली मार गई हो! अनादिकालसे उसमें अनेकों जातियों, कबीलों, नस्लों और घुमक्कड़ खानाबदोशोंके झुण्ड इस देशमें आते रहे हैं। कुछ देरके लिए इन्होंने देशके वातावरणको विक्षुब्ध भी बनाया है, पर अन्ततक वे पराये नहीं रह सके हैं। उनके देवता तैंतीस करोड़ सिंहासनोंमेंसे किसी एकको दखल करके बैठ जाते रहे हैं और पुराने देवताओंके समान ही श्रद्धाभाजन बन जाते रहे हैं,—कभी-कभी अधिक सम्मान भी पा सके हैं। भारतीय संस्कृतिकी कुछ ऐसी विशेषता रही है कि उन कबीलों, नस्लों और जातियोंकी भीतरी समाज-व्यवस्था और धर्म-मतमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं किया गया है और फिर भी उनको संपूर्ण भारतीय बना लिया गया है। भागवतमें ऐसी जातियोंकी एक पूरी सूची देकर बताया गया है कि एक बार भगवान्‌का आश्रय पाते ही ये शुद्ध हो गई हैं। इनमें किरात हैं, हूण हैं, आंध्र हैं, पुलिन्द हैं, पुक्कस हैं, आभीर हैं, शुह्म हैं, यवन हैं, खस हैं, शक हैं

और भी निश्चय ही ऐसी बहुत जातियाँ हैं जिनका नाम भागवतकार नहीं गिना गये[1]। भारतीय संस्कृति इतने अतिथियोंको अपना सकी थी, इसका कारण यह है कि बहुत शुरूसे ही उसकी धर्म-साधना वैयक्तिक रही है। प्रत्येक व्यक्तिको अलगसे धर्मोपासनाका अधिकार है। झुंड बाँधकर उत्सव हो सकते हैं, भजन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कियेका जिम्मेदार आप है। श्रेष्ठताकी निशानी किसी धर्ममतको मानना या देव-विशेषकी पूजा करना नहीं बल्कि आचारशुद्धि और चारित्र्य है। यदि एक आदमी अपने पूर्वजोंके बताये धर्मपर दृढ़ है, चारित्रसे शुद्ध है, दूसरी जाति या व्यक्तिके आचरणकी नकल नहीं करता बल्कि स्वधर्ममें मर जानेको ही श्रेयस्कर समझता है, ईमानदार है, सत्यवादी है, तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर वह चाहे आभीर-वंशका हो या पुक्कस-श्रेणीका। कुलीनता पूर्व जन्मके कर्मका फल है, चारित्र्य इस जन्मके कर्मका प्रतीक है। देवता किसी एक जातिकी सम्पत्ति नहीं हैं, वे सबके हैं और सबकी पूजाके अधिकारी हैं। पर यदि स्वयं देवता ही चाहते हों कि उनकी पूजाका माध्यम कोई विशेष जाति या व्यक्ति हो सकता है तो भारतीय समाजको इसमें भी कोई आपत्ति नहीं। ब्राह्मण मातंगी देवीकी पूजा करेगा पर मातंगके जरिये। क्या हुआ जो मातंग चाण्डाल है। राहू यदि प्रसन्न होनेके लिए डोमोंको ही दान देना अपनी शर्त रखते हैं तो डोम ही सही। समस्त भारतीय समाज डोमको ही दान देकर ग्रहणके अनर्थसे चन्द्रमाकी रक्षा करेगा! इस प्रकार भारतीय संस्कृतिने समस्त जातियोंको उनकी सारी विशेषताओं समेत स्वीकार कर लिया। पर अबतक कोई ऐसा 'मजहब' उसके द्वारपर नहीं आया था जिसको हजम कर सकनेकी शक्ति वह नहीं रखता था।

'मजहब' क्या है? मजहब एक संघटित धर्ममत है। बहुत-से लोग एक ही देवताको मानते हैं, एक ही आचारका पालन करते हैं, और किसी नस्ल, कबीले या जातिके किसी व्यक्तिको जब एक बार अपने संघटित समूहमें मिला लेते हैं तो उसकी सारी विशेषतायें दूर कर उसी विशेष मतवादको स्वीकार कराते हैं। यहाँ

---

१ किरात-हूणान्ध्र-पुलिन्द-पुक्कसाः
आभीर-शुह्मा यवनाः खसादयः
येऽन्ये च पापास्तदपाश्रयाश्रयः—
शुद्धन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

· भागवत, २-४-१८

धर्मसाधना व्यक्तिगत नहीं, समूहगत होती है। यहाँ धार्मिक और सामाजिक विधि-निषेध एक-दूसरेमें गुँथे होते हैं। भारतीय समाज नाना जातियोंका सम्मिश्रण था। एक जातिका एक व्यक्ति दूसरी जातिमें बदल नहीं सकता, परन्तु मजहब इससे ठीक उल्टा है। वह व्यक्तिको समूहका अंग बना देता है। भारतीय समाजकी जातियाँ कई व्यक्तियोंका समूह हैं, परन्तु किसी मजहबके व्यक्ति बृहत् समूहके अंग हैं। एकका व्यक्ति अलग हस्ती रखता है पर अलग नहीं हो सकता, दूसरेका अलग हो सकता है पर अलग सत्ता नहीं रखता।

मुसलमानी धर्म एक 'मजहब' है। भारतीय समाज-संगठनसे बिल्कुल उल्टे तौरपर उसका संगठन हुआ था। भारतीय समाज जाति-गत विशेषता रखकर व्यक्ति-गत धर्म-साधनाका पक्षपाती था, इसलाम जातिगत विशेषताको लोप करके समूह-गत धर्म-साधनाका प्रचारक था। एकका केन्द्रबिन्दु चारित्र्य था, दूसरेका धर्म-मत। भारतीय समाजमें यह स्वीकृत तथ्य था कि विश्वास चाहे जो भी हो, चारित्र्य शुद्ध है तो व्यक्ति श्रेष्ठ हो जाता है, फिर चाहे वह किसी जातिका भी क्यों न हो। मुसलमानी समाजका विश्वास था कि इसलामने जो धर्म-मत प्रचार किया है उसको स्वीकार कर लेनेवाला ही अनन्त स्वर्गका अधिकारी है, जो इस धर्ममतको नहीं मानता वह अनन्त नरकमें जानेको बाध्य है। भारतवर्षको ऐसे मतसे एकदम पाला नहीं पड़ा था। उसने कभी यह विश्वास ही नहीं किया कि उसके आचार और मतको न माननेवाली जातिका कुफ्र तोड़ना उसका परम कर्तव्य है। किसी औरका परम कर्तव्य यह बात हो सकती है, यह भी उसे नहीं मालूम था। इसीलिए जब नवीन धर्म-मतने सारे संसारके कुफ्रको मिटा देनेकी प्रतिज्ञा की और सभी पाये जानेवाले साधनोंका उपयोग आरंभ किया तो भारतवर्ष इसे ठीक-ठीक समझ हीनहीं सका। इसीलिए कुछ दिनोंतक उसकी समन्वयात्मिका बुद्धि कुण्ठित हो गई। वह विक्षुब्ध-सा हो उठा। परन्तु विधाताको यह कुंठा और विक्षोभ पसंद नहीं था।

ऐसा जान पड़ता है कि पहली बार भारतीय मनीषियोंको एक संघबद्ध धर्माचारके पालनकी जरूरत महसूस हुई। इसलामके आनेके पहले इस विशाल जन-समूहका कोई एक नामतक नहीं था। अब उसका नाम 'हिंदु' पड़ा। हिंदु अर्थात् भारतीय, अर्थात् गैर-इसलामी मत। स्पष्ट ही इस गैर-इसलामी मतमें कई तरहके मत थे, कुछ ब्रह्मवादी थे, कुछ कर्मकाण्डी थे, कुछ शैव थे, कुछ वैष्णव थे, कुछ

शाक्त थे, कुछ स्मार्त थे तथा और भी न जाने क्या-क्या थे। हजारों योजनोंतक विस्तृत और हजारों वर्षोंमें परिव्याप्त इस जनसमूहके विचारों और परम्पराप्राप्त मतोंका एक विशाल जंगल खड़ा था। स्मृति, पुराण, लोकाचार और कुलाचारकी विशाल वनस्थलीमेंसे रास्त निकाल लेना बड़ा ही दुष्कर कार्य था। स्मार्त पण्डितोंने इसी दुष्कर व्यापारको शिरोधार्य किया। सारे देशमें शास्त्रीय वचनोंकी छान-बीन होने लगी। उद्देश्य था कि इस प्रकारका सर्व-सम्मत मत निकाल लिया सके, श्राद्ध-विवाहकी एक ही रीति-नीति प्रचलित हो सके, उत्सव-समारोहका एक ही विधान तैयार हो सके। भारतीय मनीषाका शास्त्रोंको आधार मान कर अपनी सबसे बड़ी समस्याके समाधानका यह सबसे बड़ा प्रयत्न था। हेमाद्रिसे लेकर कमलाकर और रघुनन्दनतक बहुतेरे पंडितोंने बहुत परिश्रमके बाद जो कुछ निर्णय किया वह यद्यपि सर्ववादिसम्मत नहीं हुआ, परन्तु, निस्सन्देह स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्योंकी छानबीनसे एक बहुत-कुछ मिलता-जुलता आचार-प्रवण धर्ममत स्थिर किया जा सका। निबंध-ग्रन्थोंकी यह बहुत बड़ी देन थी। जिस बातको आजकल 'हिन्दू-सोलिडैरिटी' कहते हैं उसका प्रथम भित्ति-स्थापन इन निबंध-ग्रंथोंके द्वारा ही हुआ था। पर समस्याका समाधान इससे नहीं हुआ।

इस प्रयत्नकी सबसे बड़ी कमजोरी इसकी आचारप्रवणता ही थी। जो नया धर्ममत भारतीय जन-समाजको संक्षुब्ध कर रहा था वह इस आचारको कोई महत्त्व ही नहीं देता था। उसका संगठन बिलकुल उल्टे किनारेसे हुआ था। निबन्ध-ग्रन्थोंने जिस आचार-प्रधान 'एकधर्म'-तत्त्वका प्रचार किया उसके मूलमें ही सबको स्वीकार करनेका सिद्धान्त काम कर रहा था। समस्त शास्त्रीय वाक्योंको नतशिरसे स्वीकार करके ही यह असाध्य साधन किया गया था। पर जिस प्रतिद्वन्द्वीसे काम पड़ा था वह बहुत वर्जनाग्रही था, अर्थात् वह निर्दयतापूर्वक अन्यान्य मतोंको तहस-नहस करनेकी दीक्षा ले चुका था और धार्मिक वर्जन-शीलता ही उसका मुख्य अस्त्र था। यद्यपि वह समाज धार्मिक रूपमें वर्जनशील था, पर सामाजिक रूपमें ग्रहणशील था, जब कि हिन्दू-समाज धार्मिक रूपमें ग्रहणशील होकर भी सामाजिक रूपमें वर्जनशील था। हिन्दू-समाज धार्मिक साधनाको स्वीकार कर सकता था, पर किसी व्यक्ति-विशेषको धर्म-मतमें ग्रहण करनेका पक्षपाती नहीं था। उधर मुसलमानी समाज व्यक्तिको अपने धर्ममतमें

शामिल कर लेनेको परम कर्तव्य समझता था; परन्तु किसी विशेष धर्म-साधनको अपने किसी व्यक्तिके लिए एकदम वर्जनीय मानता था। निबंध-ग्रन्थोंने हिंदूको और भी अधिक हिंदू बना दिया, पर मुसलमानोंको आत्मसात् करनेका कोई रास्ता नहीं बताया।

इस प्रकार मुसलमानोंके आगमनके साथ ही साथ हिन्दू-धर्म प्रधानतः आचार-प्रवण हो गया। तीर्थ, व्रत, उपवास और होमाचारकी परम्परा ही उसका केन्द्रबिंदु हो गई। इस समय पूर्व और उत्तरमें सबसे प्रबल सम्प्रदाय नाथपंथी योगियोंका था। हमने पहले ही देखा है कि ये लोग शास्त्रीय स्मार्त मतको भी नहीं मानते थे और प्रस्थानत्रयी (अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर आधारित किसी दार्शनिक मतवादके भी कायल नहीं थे। पर जनताका ध्यान ये आकृष्ट कर सके थे। विविध सिद्धियोंके द्वारा वे काफी सम्मान और संभ्रमके पात्र बन गये थे। ये गुणातीत शिव या निर्गुण-तत्त्वके उपासक थे। पर इनकी उपासना ध्यान और समाधिके द्वारा होती थी। विविध भाँतिकी शारीरिक साधनाओंके द्वारा, जिन्हें काया-साधन कहते थे, लोग परम तत्त्वको पानेके प्रयासी थे। इनमें जो सिद्ध, साधक और अवधूत थे वे घरबारी नहीं होते थे, पर इनके शिष्योंमें बहुत-से आश्रमभ्रष्ट गृहस्थ थे जो योगी जातिका रूप धारण कर चुके थे। हिंदूधर्म इन आश्रमभ्रष्ट गृहस्थोंका सम्मान तो करता ही न था उल्टे उन्हें तिरस्कारकी दृष्टिसे ही देखता था। ये आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ न तो हिंदू थे,—क्योंकि वे हिंदुओंके किसी मत या आचारके कायल न थे,—और न मुसलमान—क्योंकि इन्होंने इसलामी धर्म-मतको स्वीकार नहीं किया था। कुछ कालके इस्लामी संसर्गके बाद ये लोग धीरे-धीरे मुसलमानी धर्ममतकी ओर झुकने लगे, पर इनके संस्कार बहुत दिनोंतक बने रहे। जब वे इसी प्रक्रियामेंसे गुजर रहे थे उसी समय कबीरका आविर्भाव हुआ था।

यहाँ दो और प्रधान धार्मिक आन्दोलनोंकी चर्चा कर लेना चाहिये। पहली धारा पश्चिमसे आई। यह सूफी लोगोंकी साधना थी। मजहबी मुसलमान हिंदू धर्मके मर्मस्थानपर चोट नहीं कर पाये थे, वे केवल उसके बाहरी शरीरको विक्षुब्ध कर सकते थे। पर सूफी लोग भारतीय साधनाके अविरोधी थे। उनके उदारता-पूर्ण प्रेम-मार्गने भारतीय जनताका चित्त जीतना आरम्भ किया था। फिर भी ये

लोग आचार-प्रधान भारतीय समाजको आकृष्ट नहीं कर सके। उसका सामंजस्य आचार-प्रधान हिंदूधर्मके साथ नहीं हो सका। यहाँ यह बात स्मरण रखनेकी है कि न तो सूफी मतवाद और न योगमार्गीय निर्गुण परम तत्त्वकी साधना ही उस विपुल वैराग्यके भारको वहन कर सकी जो बौद्ध संघके अनुकरणपर प्रतिष्ठित था। देशमें पहली बार वर्णाश्रम-व्यवस्थाको एक अननुभूत-पूर्व विकट परिस्थितिका सामना करना पड़ रहा था। अबतक वर्णाश्रम-व्यवस्थाका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाजसे अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जातिकी रचना कर लेते थे। इस प्रकार सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ सृष्ट होते रहनेपर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था एक प्रकारसे चलती ही जा रही थी। अब सामने एक जबर्दस्त प्रतिद्वंद्वी समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जातिको अंगीकार करनेको बद्धपरिकर था। उसकी एकमात्र शर्त यह थी कि वह उसके विशेष प्रकार धर्म-मतको स्वीकार कर ले। समाजसे दण्ड पानेवाला बहिष्कृत व्यक्ति अब असहाय नहीं था। इच्छा करते ही वह एक सुसंघटित समाजका सहारा पा सकता था। ऐसे समयमें दक्षिणसे वेदान्त-भावित भक्तिका आगमन हुआ जो इस विशाल भारतीय महाद्वीपके इस छोरसे उस छोरतक फैल गया। डा॰ ग्रियर्सनने कहा था कि, "बिजलीकी चमकके समान अचानक इस समस्त (धार्मिक मतोंके) अन्धकारके ऊपर एक नई बात दिखाई दी। यह भक्तिका आन्दोलन है।" इसने दो रूपोंमें आत्म-प्रकाश किया। पौराणिक अवतारोंको केन्द्र करके सगुण उपासनाके रूपमें और निर्गुण-परब्रह्म जो योगियोंका ध्येय था, उसे केन्द्र करके निर्गुण प्रेम-भक्तिकी साधनाके रूपमें। पहली साधनाने हिन्दू-जातिकी बाह्याचारकी शुष्कताको आन्तरिक प्रेमसे सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधनाने बाह्याचारकी शुष्कताको ही दूर करनेका प्रयत्न किया। एकने समझौतेका रास्ता लिया, दूसरीने विद्रोहका; एकने शास्त्रका सहारा लिया, दूसरीने अनुभवका; एकने श्रद्धाको पथ-प्रदर्शक माना, दूसरीने ज्ञानको; एकने सगुण भगवान्‌को अपनाया, दूसरीने निर्गुण भगवान्‌को। पर प्रेम दोनोंका ही मार्ग था; सूखा ज्ञान दोनोंको अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनोंको सम्मत नहीं थे, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनोंको अभीष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनोंकी काम्य थी; बिना शर्तके भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण दोनोंके प्रिय साधन थे। इन बातोंमें दोनों एक थे। सबसे बड़ा अन्तर इनके लीलासंबन्धी विचारोंमें था। दोनों

ही भगवान्‌की प्रेम-लीलामें विश्वास करते थे। दोनोंका ही अनुभव था कि *भगवान् लीलाके लिए ही इस जागतिक प्रपंचको सम्हाले हुए हैं।* पर प्रधान भेद यह था कि सगुण-भावसे भजन करनेवाले भक्त भगवान्‌को दूरसे देखनेमें रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भावसे भजन करनेवाले भक्त अपने आपमें रमे हुए भगवान्‌को ही परय काम्य मानते थे।

लीला क्या है? भारतीय भक्तोंको सबसे ऊँची कल्पना है। हम जानते हैं कि भगवान् अगम्य हैं, अगोचर हैं, निरंजन हैं, अकल हैं, अनीह हैं। हम यह भी जानते हैं कि वे अनुभवैकगम्य हैं, केवल अपने स्वरूपसे ही उनको साधक अनुभव कर सकता है, वे गूँगेके गुड़ हैं, अनिर्वचनीय हैं। पर यह सब ज्ञानकी बातें हैं। भक्त लोग भगवान्‌को ज्ञानके द्वारा अगम्य मानते हैं, क्योंकि मनुष्यकी शक्ति समित है, उसकी बुद्धिकी दौड़ बहुत मामूली है। परन्तु वे प्रेमसे गम्य हैं 'ज्ञानके अगम्य तुम प्रेमके भिखारी हो।' क्योंकि ज्ञान सब मिलाकर हमें हमारी अल्पज्ञताको ही दिखा देता है। पर प्रेम संपूर्ण त्रुटियोंको भर देता है। पुत्रमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, माता उसे अपनी छातीसे लगा लेती है; क्योंकि मातृ स्नेह सभी कमियोंको भर देता है। प्रेमी सम्पूर्ण अभावोंको अपने प्रेमसे भर देता है, 'जो मिलिये सँग सजन तौ धरक नरक हूँ की न।' क्योंकि नरक आखिर कुछ अभावोंका ही तो नाम है; दुःख तो सुखका अभाव-मात्र है और अभावको दूर करनेका एक-मात्र ब्रह्मास्त्र प्रेम है। दरिद्रता, पीड़ा और अभाव, सब एक ही शब्दके पर्याय हैं और युग-युगान्तरके कवि और मनीषी अनुभव करके कह गये हैं कि सम्पूर्ण अभावोंको दूर करनेकी एक-मात्र शक्ति प्रेम है—'टूट खाट घर टपकत खटियौ टूट। पियकी बाँह उसिसवा सुखकी लूट!' कोई पूछे कि ऐसा क्यों होता है तो इसका भी कोई जवाब नहीं है। यह भगवान्‌की माया है। भगवान्‌के समान ही रहस्यपूर्ण, वैसी ही अनिर्वचनीय। और फिर दुबारा यह प्रश्न हो सकता है कि माया क्यों? क्यों पूर्ण परमात्माको अपनी सृष्टिके अभावको दूर करनेके लिए इसी विचित्र वस्तु,—मायाकी जरूरत पड़ी।

इस प्रश्नका उत्तर कठिन है। ज्ञानी इसे भी माया कहता है। विज्ञानी शायद 'इन्स्टिंक्ट' कह दे; पर एक नाम दे देनेसे समस्या हल नहीं हो जाती। माया है, यह ठीक है। क्योंकि विश्व-जगत्‌में हम ऐसे-ऐसे रहस्योंको

पाते हैं जो बुद्धिके परे हैं। हृदयके परे हैं। वे रहस्य हैं, माया हैं। पर 'क्यों हैं' का कोई उत्तर नहीं। भक्त इसका उत्तर देता है कि भगवान् परम प्रेममय हैं और यह सब उनकी लीला है। जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, जो कुछ भी घट रहा है और जो कुछ भी घटना सम्भव है, वह सब कुछ उस परम प्रेममयकी लीला है,—उसे खेलनेमें आनन्द मिलता है। वह भक्तकी सारी अपूर्णताओंको पूर्ण करता है, इसीलिए वह परम-प्रेम-स्वरूप है। परन्तु भक्त क्यों प्रेम करता है?—क्योंकि वह अपनेको परिपूर्ण करता है।—भगवान्‌को क्या कमी है जो प्रेमका भिखारी बना रहता है? भक्तका कहना है कि इसका और कोई कारण नहीं; यह प्रेम-व्यापार भी एक लीला ही है। लीला क्यों?—लीलाके लिए। लीलाके लिए कौन-सी वस्तु? लीला ही।—लीलाका फल क्या है—लीला ही। 'नहि लीलायाः किंचित्प्रयोजनमस्ति, लीला एव प्रयोजनत्वात्।' जो इस लीलाको नहीं समझता वही भ्रममें है। लीला भगवान्‌के आनन्द-स्वरूपका प्रकाश है। उपनिषदोंने बताया है कि उसी आनन्दसे भूतमात्रकी उत्पत्ति हुई है। जो कुछ दीख रहा है, जो कुछ घटित और घटमान है वह आनन्दसे ही है। अगर यह आनन्द न होता तो उत्पन्न होनेपर भी प्राणिगण जीवित नहीं रह सकते। आनन्द ही जीवनका आधार है (तैत्तिरीय ३–६)। यदि आकाशके कोने-कोनेमें यह आनन्द भरा न होता तो कोई प्राण धारण नहीं कर सकता था। क्योंकि भगवान् आनन्दमय है, रस-स्वरूप है। और फिर भी विशेषता यह कि रस पाकर ही वह आनन्दी होता है। स्वयं रसरूप होकर भी वह रसका चाहक है, और स्वयं आनन्दरूप होकर भी वह तबतक आनन्दवान् नहीं होता जबतक उसे रस न मिल जाय। यह विरोधाभास है, पर भक्तोंका दावा है कि उन्होंने अनुभव-रूपमें साक्षात्कार किया है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।

(तैत्तिरीय० २-७)

जो तर्कसे इसका अनुसंधान करना चाहेगा उसके लिए यह बात रहस्य-सी दीखेगी, पर जो प्रेमकी दृष्टिसे देखेगा उसके लिए इसमें कोई रहस्य नहीं है, कोई असंगति नहीं है और न कोई विरोध ही है। उसके लिए यह भगवान्‌की लीला है। वह स्वयं इस लीलाका जाल पसारे हुए है, इसलिए स्पष्ट ही उसे

प्रेमकी भूख है। यह पूछना बेकार है कि उसे क्या कमी है जो यह भूख लगी ? क्योंकि यह सब उसकी लीला है। सही इतना ही है कि वह रस पाये बिना आनन्दी नहीं होता,—'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।' इसी लीलाके लिए प्रेम भिखारी साईं राह चलते भक्तपर रंग डाल देता है। जो दुनियादार हैं और जिनकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं वे उस रंगकी लीलाको अनुभव ही नहीं करते, अपने रास्ते चले जाते हैं। पर जो अनुभवी हैं वे व्याकुल हो उठते हैं। उन्हें एक व्याकुल पुकार सुनाई देती है। जैसे प्रियतमने छेड़खानी करके एक ऐसी पुकार फेंकी है जिसकी चोट सँभालना मुश्किल है। यह पुकार सारे शरीरको बेध डालती है। इसकी कोई औषध नहीं, मन्त्र नहीं, जड़ी नहीं, बूटी नहीं, बेचारा वैद्य क्या कर सकता है ? इस प्रकारकी चोट जिसे लगी वही अभिभूत हो गया। देवता हो या मनुष्य, मुनि हो या राह चलता आदमी, पीर हो या औलिया, एक बार चोट लगनेपर अपनेको सँभाल रखना कठिन हो जाता है। कबीरदास गवाह हैं, कि साईंके इस रंगका चोट खाया मनुष्य सब रंगोंसे रँग जाता है और फिर भी इसका रंग सब रंगों से न्यारा होता है। स्वयं कबीरदास रँग चुके थे। वे इस अकारण प्रेम पुकारसे घायल हो चुके थे। व्याकुल भावसे वे सतगुरुके पास इसका उपाय पूछने गये थे—

> सतगुरु हो महाराज, मोपै साईं रंग डारा।
> सब्दकी चोट लगी मेरे मनमें, बेध गया तन सारा।
> औषध-मूल कछू नहीं लागै, का करै वैद बेचारा।
> सुर-नर मुनिजन पीर-औलिया, कोई न पावे पारा।
> साहब कबीर सर्ब रँग-रँगिया, सब रँगसे रँग न्यारा॥
>
> —शब्दा० ५, पृ० ९

फागुनकी ऋतु नजदीक आ जाती है, प्रियतमके रंग डालनेसे अपने आपको भूल गया हुआ भक्त व्याकुल भावसे सोचने लगता है—हाय, वह सुख फिर क्या मिल सकेगा ? क्या वह अलबेला साँईं फिर मिलेगा ? फिर उसके रंगकी चोट खानेका सौभाग्य भाग्यमें बदा है ? कौन है जो पियाके पासतक पहुँचा सके ? धन्य हैं जो प्रियके साथ एकमेव होकर फाग खेलती हैं, धन्य हैं वे जो उसकी मनभावती हैं और अभागिन है वह सखी जो ऐंचातानीमें ही रह गई। प्रियका रूप क्या वर्णन किया जा सकता है ? प्रेम-दीवानी प्रेमिका उसे अलगसे

कैसे समझावे ? वह तो उसीमें समा गई है,—तन्मय हो गई है। कबीरदास इस फागलीलाका आनन्द अनुभव कर चुके थे। उनकी गवाहीपर हम विश्वास कर सकते हैं कि वह फाग साधारण फाग नहीं है। इस पृथ्वीपर उसकी तुलनामें कोई फाग खड़ी ही नहीं हो सकती। वह कहनेकी चीज नहीं है, अनुभव करनेकी चीज है,—'अकथ कहानी' है,—विरलोंके नसीबमें इस परमसुखका अनुभव बदा है—

रितु फागुन नियरानी हो,
कोइ पियासे मिलावे ॥
सोई सुंदर जाकों पियाको ध्यान है,
सोइ पियाकी मनमानी।
खेलत फाग अंग नहिं मोड़े,
सतगुरुसे लिपटानी।
इक इक सखियाँ खेल घर पहुँची,
इक इक कुल अरुझानी।
इक इक नाम बिना बहकानी,
हो रही ऐंचातानी ॥
पियको रूप कहाँ लगि बरनौं,
रूपहिं माहिं समानी।
जो रँग रँगे सकल छवि छाके,
तन-मन सबहि भुलानी ॥
यों मत जाने यहि रे फाग है,
यह कछु अकथ-कहानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
यह गति बिरलै जानी ॥
(शब्दा० २२, पृ० १५)

यह है लीला। इसका रहस्य समझना कठिन है, क्योंकि यह रहस्यका समाधान है। समाधानका समाधान कैसा ? भक्तका दावा है कि यह अनुभवसे पाई जाती है। लीला ही लीलाका मार्ग है। लीला ही साधन है, लीला ही साध्य है। जो साधक एक बार इसकी मस्तीसे वाकिफ हो गया वह आठों पहर मतवाला बना रहता है, नहीं, वह आठों पहरको,—सम्पूर्ण कालको निचोड़कर उसका रस पीता

है। वह आठों पहर मस्तीसे मत्त रहता है, ब्रह्मकी छौलमें वह जीवन धारण करता है। छौल अर्थात् आनन्द। वह भगवदानन्दमें, अर्थात् भगवान्‌की लीलामें ही वास करता है। उसके लिए सत्यको पकड़ना आसान हो जाता है, क्योंकि वह साँच और काँचके ऊपर उठ जाता है। उसका जन्म और मरणका भ्रम भाग जाता है। उसे कोई भय नहीं होता, दुःख नहीं होता, वह निर्भय हो जाता है—

आठहूँ पहर मतवाल लागी रहै,
आठहूँ पहरकी छाक पीवै।
आठहूँ पहर मस्तान माता रहै,
ब्रह्मकी छौलमें साध जीवै।
साँच ही कहतु औ साँच ही गहतु है,
काँचको त्याग करि साँच लागा।
कहैं कब्बीर यों साध निर्भय हुआ,
जनम और मरनका भर्म भागा।
(शब्दा०, पृ० १०३–४)

भक्तकी भगवान्‌के साथ यह जो आनन्द-केलि या प्रेम-लीला है वही मध्य युगके समस्त भक्तोंकी साधनाका केन्द्र-बिन्दु है। भगवान्‌के साथ यह रसमय लीला ही भक्तका परम काम्य है,—लीला, जिसका कोई प्रयोजन नहीं, फल नहीं, कारण नहीं, आदि नहीं, अन्त नहीं। इसी बातको मध्ययुगके अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्तीने कहा था, प्रेम ही परम पुरुषार्थ है,—'प्रेमा पुमर्थो महान्।' साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भक्तके लिए कोई आकर्षण नहीं रखते। और कबीरदासने इसी बातको और शक्तिशाली ढंगसे कहा था—

राता-माता नामका, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदारका, माँगै मुक्ति बलाय॥
(क० वच०, पृ० १३)

और भक्तिके आदर्शकी घोषणा करते हुए द्विधाहीन भाषामें कहा है—

भागविना नहिं पाइये, प्रेम-प्रीतिकी भक्त।
बिना प्रेम नहीं भक्ति कछु, भक्ति-भरयो सब जक्त॥

प्रेम बिना जो भक्ति है, सो निज दम्भ-बिचार।
उदर भरनके कारने, जनम गँवायौ सार॥

(स० क० सा०, पृ० ४१)

परन्तु कबीरदास अपने युगके सगुण-साधना-परायण भक्तोंसे कुछ भिन्न थे। यद्यपि दोनोंकी साधनाका केन्द्र-बिन्दु यह प्रेम-भक्ति है,—इसे आनन्दकेलि, प्रीति, भक्ति, प्रेमलीला आदि जो भी नाम दे दिया जाय,—तथापि एक बातमें वे सबसे अलग हो जाते हैं। हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि भारतीय मनीषी उन दिनों स्मृति और पुराणग्रन्थोंकी छान-बीनमें जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्पराको शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ मानकर, सबके प्रति आदरका भाव बनाये रहकर अपने चलनेका मार्ग तै करना। सगुणोपासक भक्त-गण भी सम्पूर्ण रूपसे इस पुरानी परम्परासे प्राप्त मनोभावके पोषक रहे। समस्त शास्त्रों और मुनिजनोंको अकुण्ठ चित्तसे अपना नेता मानकर उनके वाक्योंकी संगति प्रेम-पक्षमें लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रोंका प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करनेमें उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजनशैलियोंकी आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरोंकी कल्पना करनी पड़ी, शास्त्र-ग्रन्थोंके तारतम्यकी भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृतिके प्रस्तारसे अनन्त प्रकृतिके भक्तों और अनन्त प्रणालीके भजनोंकी कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी। यद्यपि अन्ततक चलकर उन्हें भागवत महापुराण-को ही सर्व-प्रधान प्रमाण-ग्रंथ मानना पड़ा था, पर उन्होंने किसी भी शास्त्रकी उपेक्षा या अवहेलना न की। उनकी दृष्टि बराबर भगवान्‌के परम-प्रेममय रूप और उनकी मनोहारिणी लीलापर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्यके साथ अन्यान्य शास्त्रोंकी संगति लगाई और एक अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा-प्रेमको समाजमें प्रतिष्ठित कराया।

कबीरदासका रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकारके संस्कार पड़नेके रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बन्द थे। वे मुसलमान होकर भी असलमें मुसलमान नहीं थे, हिन्दू होकर भी हिन्दू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (=अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान्‌की ओर ही सबसे

न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान्‌की नृसिंहावतारकी मानवप्रतिमूर्ति थे। नृसिंहकी भाँति वे नाना असम्भव समझी जानेवाली परिस्थितियोंके मिलन-बिंदुपर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपुने वर माँग लिया था कि उसको मार सकनेवाला न मनुष्य हो न पशु; मारे जानेका समय न दिन हो न रात; मारे जानेका स्थान न पृथ्वी हो न आकाश; मार सकनेवाला हथियार न धातुका हो न पाषाणका —इत्यादि। इसीलिए उसे मार सकना एक असम्भव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिहने इसीलिए नाना कोटियोंके मिलन-बिन्दुको चुना था। असम्भव व्यापारके लिए शायद ऐसी परस्पर-विरोधी काटियोंका मिलन-बिन्दु भगवान्‌को अभीष्ट है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-बिन्दुपर खड़े थे। जहाँसे एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँपर एक ओर योगमार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँसे एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना,—उसी प्रशस्त चौरस्तेपर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशामें गये हुए मार्गोंके दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदासका भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।

जैसा कि शुरूमें ही बताया है, कबीरदासने अपनी प्रेम-भक्तिमूला साधनाका आरम्भ एकदम दूसरे किनारेसे किया था। यह किनारा सगुण साधकोंके किनारेसे ठीक उल्टे पड़ता है। सगुण साधकोंने सब-कुछ मान लिया था, कबीरने सब-कुछ छोड़ दिया था। प्रथम श्रेणीके भक्तोंकी महिमा उनके अथक परिश्रम और अव्यय धैर्यमें है और कबीरकी महिमा उसके उत्कट साहसमें। उन्होंने सफेद कागजपर लिखना शुरू किया था। वे उस पाण्डित्यको बेकार समझते थे जो केवल ज्ञानका बोझ ढोना सिखाता है, जो मनुष्यको जड़ बना देता है और भगवान्‌के प्रेममे वंचित करता है। भगवत्प्रेमपर उनकी दृष्टि इतनी दृढ़ निबद्ध थी कि इस ढाई अक्षर (प्रेम) को ही वे प्रधान मानते थे—

पढ़ि पढ़िके पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेमकी, लगी न एकौ छींट॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सो पंडित होइ॥

यह प्रेम ही सब-कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तसबीह नहीं, मंदिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, नबी नहीं, पीर नहीं, पैगम्बर नहीं। यह प्रेम समस्त बाह्याचारोंकी पहुँचके बहुत ऊपर है। समस्त संस्कारोंके प्रतिपाद्यसे कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्तेमें खड़ा होता है वह हेय है।

उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थोंको एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकारी-भेदकी कल्पना करके इनके लिए भी दुनियाके मान-सम्मानकी व्यवस्था कर जानेको उन्होंने बेकार परिश्रम समझा। उन्होंने एक अल्लाह निरंजन निर्लेपके प्रति लगनको ही अपना लक्ष्य घोषित किया। इस लगन या प्रेमका साधन यह प्रेम ही है और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रेम ही साध्य है, प्रेम ही साधन,—व्रत भी नहीं, मुहर्रम भी नहीं; पूजा भी नहीं, नमाज भी नहीं; हज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं।

> एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरुक दहूँ नहिं मेरा।
> राखूँ व्रत ना महरम जांनां, तिस ही सुमिरूँ जो रहै निदांनां।
> पूजा करूँ न निमाज गुजारूं, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
> नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्यां तौ क्या दूजा।
> कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन-सूं मन लागा।
>
> (क० ग्रं०, पद ३३८)

जो ये पीर-पैगंबर, काजी-मुल्ला, रोजा-नमाज और पश्चिमकी भक्ति हैं ये सभी गलत हैं और वे जो देव और द्विज, एकादशी और दीवाली पूरबकी दिशाकी भक्ति हैं वे भी गलत हैं। भला हिन्दुओंके भगवान् तो मन्दिरमें रहते हैं और मुसलमानोंके खुदा मस्जिदमें, पर जहाँ मन्दिर भी नहीं है और मस्जिद भी नहीं है वहाँ किसकी ठकुराई काम कर रही है! कबीरदासने इन सबको अस्वीकार कर दिया और उन लोगोंको भी अस्वीकार कर दिया जो आँख मूँदकर चलना ही पसन्द करते हैं, अपने आत्मारामको ही संगी बनाकर वे निकल पड़े। बोले-ओ फकीर, तू अपनी राह चल। मन्दिरमें भी मत जा और मस्जिदकी ओर भी रुख न कर। काहेको टंटेमें पड़ता है। तेरे राम-रहीमा, केसौ-करीमामें तो कोई भेद नहीं है, तेरे लिए तो दोनों एक ही हैं, एकमेवाद्वितीयम्।—

हमरे राम-रहीम-करीमा, कैसौ-अलह-राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई॥
इनके काजी मुलां पीर पैगंबर, रोजा-पछिम-निवाजा।
इनके पूरब दिसा देव-दिज-पूजा, ग्यारसि-गंग-दिवाजा॥
तुरुक मसीति देहुरे हिन्दू, दुहूंठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति-देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई॥
हिंदू-तुरुक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित पूरि रह्या राम राई॥
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राहि चलि भाई।
हिंदू तुरुकका करता एकै, ता गति लखी ना जाई॥
(क० ग्रं०, पद ५८)

परन्तु कबीर यहीं नहीं रुके। अगर 'अल्लाह' शब्द मुसलिम धर्मका प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू संस्कृतिका तो वे इन दोनोंको सलाम कर देनेको तैयार हैं। आखिर कोई-न-कोई शब्द तो व्यवहार करना ही पड़ेगा। पर अगर अरबी-फारसीके शब्द मुसलिम संस्कृतिकी और संस्कृत-हिन्दीके शब्द हिन्दू संस्कृतिकी अवश्य याद दिला देते हैं तो कबीरदास इस बुद्धि-भेदको भी पनपने नहीं देते। ये वेद और कुरानके भी आगे बढ़कर कहते हैं—

गगन गरजे तहाँ सदा पावस झरै, होत झनकार नित बजत तूरा।
वेद-कत्तेबकी गम्म नाहीं तहाँ, कहै कब्बीर कोइ रमै सूरा॥
—शब्दा०, पृ० १०४

इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारोंको अस्वीकार करनेका अपार साहस लेकर कबीरदास साधनाके क्षेत्रमें अवतीर्ण हुए। केवल अस्वीकार करना कोई महत्त्वकी बात नहीं है। हर कोई हर किसीको अस्वीकार कर सकता है। पर किसी बड़े लक्ष्यके लिए बाधाओंको अस्वीकार करना सचमुच साहसका काम है। बिना उद्देश्यका विद्रोह विनाशक है, पर साधु उद्देश्यसे प्रणोदित विद्रोह शूरका धर्म है। उन्होंने अटल विश्वासके साथ अपने प्रेम-मार्गका प्रतिपादन किया। रूढ़ियों और कुसंस्कारोंकी विशाल वाहिनीसे वह आजीवन जूझते रहे, प्रलोभन और आघात,—काम और क्रोध भी उनके मार्ग में जरूर रहे, खड़े हुए होंगे, उन्होंने उनको असीम साहसके साथ जीता। ज्ञानकी तलवार उनका एक-मात्र साधन था, इस अद्भुत शमशेरको उन्होंने क्षण-भरके लिए भी रुकने नहीं दिया।

वह निरन्तर इकसार बजती रही, पर शीलके स्नेहको भी उन्होंने नहीं छोड़ा,—यही उनका कवच था। इन कुसंस्कारों, रूढ़ियों और बाह्याचारके जंजालोंको उन्होंने बेदर्दीके साथ काटा। वे सिर हथेलीपर लेकर ही अपने भाग्यका सामना करने निकले थे। क्षण-भरके लिए भी उनकी भवें कुंचित नहीं हुईं, माथेपर बल नहीं पड़ा। वे सच्चे शूरकी भाँति जूझते ही रहे।

एक समसेर इकसार बजती रहै
खेल कोइ सूरमा सन्त झेलै।
• काम-दल जीति करि क्रोध पैमाल करि
परम सुख धाम तहँ सुरति मेले॥
सीलसे नेह करि ज्ञानकौ खड्ग ले
आय चौगानमें खेल खेलै।
कहैं कब्बीर सोइ सन्त जन सूरमा
सीसको सौंप करि करम ठेलै॥—(शब्दा०, पृ० १०६)

जो लोग कबीरदासको हिन्दु-मुसलिम धर्मोंका सर्व-धर्म-समन्वयकारी सुधारक मानते हैं वे क्या कहते हैं, ठीक समझमें नहीं आता। कबीरका रास्ता बहुत साफ था। वे दोनोंको शिरसा स्वीकार कर समन्वय करनेवाले नहीं थे। समस्त बाह्याचारोंके जंजालों और संस्कारोंको विध्वंस करनेवाले क्रान्तिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। इतने बड़े जंजालको नाहीं कर सकनेकी क्षमता मामूली आदमीमें नहीं हो सकती। कमजोर स्नायुका आदमी इतना भार बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिसे अपने मिशनपर अखण्ड विश्वास नहीं है वह इतना असम साहसी हो ही नहीं सकता।

कबीरने जो समस्त बाह्य-आचारोंको अस्वीकार करके मनुष्यको साधारण मनुष्यके आसनपर और भगवान्‌को 'निरपख' भगवान्‌के आसनपर बैठानेकी साधना की थी उसका परिणाम क्या हुआ और भविष्यमें वह उपयोगी होगा या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। सफलता महिमाकी एक-मात्र कसौटी नहीं है। आज शायद यह सत्य निविड़ भावसे अनुभव किया जानेवाला है कि सबकी विशेषताओंको रखकर मानव-मिलनकी साधारण भूमिका नहीं तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओंके जालको छिन्न करके ही वह आसन तैयार

किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरेसे मनुष्यकी हैसियतसे ही मिले। जब-तक यह नहीं होता तबतक अशान्ति रहेगी, मारामारी रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्द्धा रहेगी। कबीरदासने इस महती साधनाका बीज बोया था। फल क्या हुआ, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक कालके श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथने विश्वासपूर्वक गाया है कि जीवनमें जो पूजायें पूरी नहीं हो सकी हैं, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलनेसे पहले ही पृथ्वीपर झड़ गया है, जो नदी मरुभूमिके मार्गमें ही अपनी धारा खो बैठी है,—मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवनमें आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ, वह भी व्यर्थ नहीं हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता है, वे सब तुम्हारी वीणाके तारमें बज रहे हैं, मैं ठीक जानता हूँ, ये भी खो नहीं गये हैं—

जीवने यत पूजा हलो ना सारा,
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा!
ये फुल ना फुटिते झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।
जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हय नि मिछे,
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे बाजिछे ता'रा।
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।—गीतांजलि

कबीरदासकी साधना भी न तो लोप हो गई है, न खो गई है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान् हैं और जिसे अपने इष्टपर अखण्ड विश्वास है उसकी साधनाको करोड़-करोड़ काल भी झकझोरकर विचलित नहीं कर सकते—

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है संग।
कोटि काल झकझोरहीं, तऊ न हो चित भंग॥
(स० क० सा०, पृ० १८४)

१४. भगवत्प्रेमका आदर्श

हमने देखा कि कबीरदासकी भक्ति-साधनाका केन्द्रबिन्दु प्रेमलीला है। किन्तु इस लीलाका जो स्वरूप कबीरदासने उपस्थित किया है वह बहुत व्यापक और विशाल है। भक्तरूपी प्रियाके लिए भगवान्‌रूपी प्रेमिकने जो चुनरी सँवार दी है वह मामूली चुनरी नहीं है और उस चुनरीको धारण कर सकनेकी क्षमता भी मामूली नहीं है। स्वयं प्रिय ही जिसपर प्रसन्न होकर यह चुनरी दे दे वही इसे पा सकता है, वही इसे पहन सकता है,—यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। कैसी है वह चुनरी? अष्टप्रहररूपी आठ हाथोंकी वह बनी है और पंचतत्त्वरूपी पाँच रंगोंसे रँगी है। समूचा काल उसका उपादान है और समस्त जड़ प्रकृति उसकी प्रकाशिका। कालके महान् उपादानसे जो आवरण-पट तैयार हुआ है उसको प्रकाशित करनेके लिए पंचतत्त्व ही उपयुक्त रंग है। कालका अनादि-अनन्त प्रवाह सचमुच ही तबतक व्यक्त नहीं हो सकता था जबतक पंचतत्त्वोंके द्वारा हम उसपर लकीर खींच-खींचके न देख लें। काल अविभाज्य है, अगणनीय है, अ-परिमेय है। ठोस पदार्थोंके द्वारा ही हम उसका विभाग करते हैं, गणना करते हैं, परिमाप करते हैं। सूर्य-चन्द्र-तारा-ग्रह-उपग्रह आदि बाह्य वस्तुओंसे और मन-बुद्धि आदि अन्तःकरणसे हम इस अविभाज्य कालका रस ग्रहण करते हैं। इसीलिए काल-रूप सनातन तत्त्वसे बनी हुई चुनरीके लिए पंचतत्त्व (और इसी-लिए लक्षणासे जड़ प्रकृति) ही उपयुक्त रंग है। इस महान् शृंगार-पटके आँचलमें सूर्य, चन्द्र और तारोंकी जगमग ज्योतिका जलना ही उपयुक्त चित्रण-सामग्री है। इस अनादि-अनन्त चुनरीको किसीने ताने-बानेपर नहीं बुना—यह सनातन है, चिर नवीन है। पियाने प्रसन्न होकर जिस प्यारीको यह शृंगार-शाटिका दान की हो, धन्य है वह प्रियतमा, बलिहारी है उस प्रियतमकी!—

चुनरिया हमरी पियाने सँवारी,
कोई पहिरै पियकी प्यारी!
आठ हाथकी बनी चुनरिया
पँच रँग पटिया पारी।

चाँद सुरुज जामें आँचल-लागे
जगमग जोति उजारी।
बिनु ताने यह बनी चुनरिया
दास कबीर बलिहारी ॥

यह विशाल परिधेय-पट जिस प्रियने दिया है वह अजीब मस्तमौला है। प्रेम उसका सस्ता भी नहीं है, हल्का भी नहीं है। वह जिसे यह चुनरी देता है उससे बहुत बड़ा मूल्य चुका लेता है। इस चुनरीको पा लेना सौभाग्यकी बात है, पर इसको सँभालके रख लेना हिम्मतका काम है। भक्त-गण साक्षी हैं कि इस महान् दानको जिस व्यक्तिने हल्का और मुलायम समझा वह हमेशाके लिए गया। भगवान्‌ने जिस उपहारको प्रेमपूर्वक दिया हो उसे हल्का और मुलायम समझना गलती है। प्रेम जितना ही महान् होगा, उसकी कीमत भी उतनी ही अधिक होगी। यह तो माला नहीं है, यह उसकी तलवार है। भक्तने भावुकताके आवेशमें जिसे भगवान्‌की वरमाला समझा वह वस्तुतः तलवार निकली! आगके समान है उसकी आँच, वज्रके समान है भार! "हे प्रिय, तुमने कलकी सुहाग-रातको यह क्या रख दिया है? प्रातःकालीन तरुण प्रकाश ज्यों ही खिड़कीके रास्ते तुम्हारी शय्यापर पड़ा त्यों ही मैंने देखा कि यह तो तुम्हारी तलवार है! चहकते हुए सबेरेके पक्षीने व्यंग्य किया—'नारी तूने क्या पाया है!' ना, यह माल्य नहीं है, नैवेद्यका पात्र नहीं है, गन्धजलकी झारी भी नहीं है,—अरे, यह तो तुम्हारी भयंकर तलवार है!—

ए तो माला नय गो, ए ये
तोमार तरवारि।
ज्वले ओठे आगुन येन
बज्र-हेन भारी—
ए ये तोमार तरवारि।
तरुण आलो जानला बेये
पड़लो तोमार शयन-छेये
भोरेर पाखी शुधाय गेये
'की पेलि तुइ नारी!'
नय ए माला, ए थाला।

गंधजलेर झारी,
ए ये भीषण तरवारि।
—रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

भक्त हैरान है ! इसे ही क्या दान कहते हैं ? हाय, हाय, उसे वह कहाँ छिपा कर रखे ! स्थान कहाँ है ? हाय प्यारे, यही क्या तुम्हारा दान है ? मैं शक्तिहीना नारी, मुझे क्या यह आभूषण शोभेगा ? तुम्हारे इस प्रेमोपहारको रखनेका एकमात्र स्थान तो यह कलेजा है, पर वहाँ रखती हूँ तो प्राण व्यथासे काँप उठते हैं, तो भी हे प्रियतम, तुम्हारे इस दानको मैं इसी कलेजेसे लगा लूँगी। मैं जान गई कि तुम जिसे प्यार करते हो उसके लिए फूलकी सेज नहीं देते, दुखःका कँटीला मार्ग दिखा देते हो—

ताइ तो आमि भावि बसे
ए कि तोमार दान ?
कोथाय एरे लुकिये राखि
नाइ ये हेन स्थान।
ओ गो ए कि तोमार दान ?
शक्तिहीना मरि लाजे
ए भूषण कि आमार साजे ?
राखते गेले बुकेर माझे
व्यथा ये पाय प्राण।
तबु आजि बइब बुके
एइ बेदनार मान।
निये तोमारि एइ दान। —रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

सो उस मस्ताने प्रियतमकी चुनरी सँभालना भी कठिन काम है। रणरंगका मतवाला सूरा दो-चार क्षणके लिए जूझता है। क्योंकि उसे जो उपहार मिला है, वह स्थूल है, इस उपहारका प्रेम भी स्थूल है। भले वह उपहार राज्य हो, यश हो, मान हो, धन हो। सतीका संग्राम एकाध पलक रहता है, वह भी प्रलोभनोंसे जूझती है, पर जो धर्म उसे उपहारके रूपमें मिला है वह सूक्ष्म होनेपर भी सांसारिक है। परन्तु भक्तका संग्राम दिन-रातका जूझना है, मन

और प्राणकी बाजी है। जरा-सी बाग ढीली हुई कि वह गिरा। उसका गिरना भी मामूली गिरना नहीं है, क्योंकि वह आसमानसे गिरता है और धरतीपर टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जाता है। इस भयंकर जूझका कारण यह है कि भक्तको जो प्रेम उपहारमें मिला है बहुत बेशकीमत है। उसका दाम चुकाना मामूली बात नहीं है। वह फूलोंकी सेज नहीं है, काँटोका जंगल है। यह दिन-रातका जूझना, दुःख और विपत्तिमें बढ़ते जाना, किसी बिरलेका ही काम है—

साधका खेल तो बिकट बेढा मती
सती और सूरकी चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चारका
सती घमसान पल एक लागे।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह पर्जन्तका काम भाई।
कहैं कब्बीर टुक बाग ढीली करै
उलटि मन गगनसों जगीं आई।
(शब्दा०, पृ० १०८)

तो क्या भगवान्का प्रेम किसी एक व्यक्तिको ही प्राप्त होता है ? और लोग क्या निपट ठूँठे ही हैं ? नहीं; भला कौन है जिसे प्रियतमने सनातन काल-तत्त्वकी बनी हुई और पंच-तत्त्वकी रँगी हुई चुनरी नहीं दी है ? दी तो है लेकिन सँभालके रख सकनेवाला ही उसका प्रिय है, उस महान् शृङ्गार-पटका मूल्य समझ सकनेवाला धन्य है। बाकी लोग जो उसे मलिन कर रहे हैं, छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, हल्का मान बैठे हैं, वे दयनीय नहीं तो क्या हैं ? प्रियतम तो बराबर पुकार रहा है,—शब्दकी चोटसे बेध रहा है,—कौन है जो उसके साथ आनन्दकेलिको निकल पड़ेगा ! चुनरी गंदी हो गई है या गंदी हो रही है, इस बातसे मनमें पश्चात्ताप भी तो हो ! अरे ओ सुहागिन, साहब जब तुझे अपनायेगा तो तेरी चुनरीका दाग भी मिट जायगा। क्यों नहीं तू एक बार उसकी पुकारपर चल पड़ती !

मोरी चुनरीमें परि गयो दाग पिया।
पाँच तत्तकी बनी चुनरिया, सोरह सै बंद लागे जिया।

यह चुनरी मेरे मैकेतें आई, ससुरामें मनुआँ खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटै, ग्यानको साबुन लाय पिया।
कहै कबीर दाग न छूटि हैं, जब साहेब अपनाय लिया॥

(शब्दा०, पृ० ५८)

इस प्रकार कबीरदासने इस प्रेमलीलाको एक बहुत ही वीर्यवती साधनाके रूपमें देखा है। एक बार जिसे भगवान्की रहस्य-केलिकी पुकार सुनाई दे जाती है वह व्याकुल हो उठता है, प्रिय-मिलनके लिए उसकी तड़पन संसारके किसी और विरह-व्यापारसे तुलनीय नहीं हो सकती। चकईका विरह प्रसिद्ध है, पर वह भी तो रातकी समाप्तिके बाद प्रियके साथ आसानीसे मिल जाती है। रामका विरह इतना आसान नहीं है। एक बार जो इस विरहकी चपेटमे आ गया वह कुछ ऐसा बेहाल हो जाता है कि कहकर प्रकाश करना कठिन है। उसे न दिनमें सुख मिलता है न रातमें; न सपनेमें, न जागरणमें, न धूपमें, न छाँहमें। राम-विरहका मारा भक्त हर एक साधकसे पूछता रहता है कि वह कहाँ है, उसका प्रियतम किधर है, उसके पास जानेका रास्ता क्या है? वह ठीक उस विरहसे ऊबी विरहणीके समान होता है जो हर एक राहगीरसे पूछती रहती है कि उसके प्रियतम कब आयेंगे?

चकवी बिछुरी रैणिकी, आइ मिली परभाति।
जे जन बिछुरे रामसे, ते दिन मिलें न राति॥
बासरि सुख ना रैंण सुख, नां सुख सपुनैमांहि।
कबीर बिछुड्या रामसूं, नां सुख धूप न छाँह॥
विरहिन ऊभी पंथसिरि, पंथी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीवका, कब रे मिलैंगे आइ॥

(क० ग्रं०, पृ० ७-८)

रवीन्द्रनाथने जिसे तलवार कहा है, कबीरदासने उसीको बाण कहा है। यह बाण जब प्रियतमके कमानसे खिंचकर भक्तके कलेजेमें लगता है तो अन्तर छेद देता है, कलेजेको बेध देता है। जबतक यह बाण लग नहीं जाता तबतक कुछ पता नहीं चलता और जब एक बार कलेजेमें घुस जाता है तो उसकी पीड़ा-तक ऐसी मधुर लगती है, कुछ इतनी मनभावनी होती है कि भक्त बार-बार प्रार्थना करता है कि हे प्रिय, इस बाणसे फिर छेद दो, फिर इस हृदय-देशको

कुरेद डालो। अब तो वह बाण ही जीवन-आधार हो जाता है। उसके बिना भक्तको कल नहीं पड़ती—

कर कमान सर साधि करि, खैंचि जु मार्या माँहि।
भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीवै नाहिं॥
जब हूँ मारा खैंचि करि, तब मैं पाई जाणि।
लागी चोट मरम्मकी, गई कलेजा छाँड़ि॥
जिसि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिनु सचुपाऊँ नहीं॥
(क० ग्रं०, पृ० ८–९)

परन्तु वह प्रिय बड़ा ही कठोर है, और जैसा कि रवीन्द्रनाथने कहा है, 'दुःखकी रातका राजा है, अन्धकार-भरे महलका बादशाह है!' उसे सुख और साज पसन्द नहीं; अपनी प्रेयसीके विरहमे वह रस लेता है। वह सहज ही नहीं गलता। जब दुःखकी आँधी आती है, तब बिजलीकी कड़कके साथ वह भक्त प्रेयसीके छिन्न-भिन्न शयन-कंथापर आ विराजमान होता है। उसका रास्ता दुःखका है; संकटका है, जूझनेका है, विपत्तिका है! भोले हैं वे, जो दुःखकी इस महिमाको नही समझते। अरे कौन है वहाँ पड़ा हुआ? खोल दे दरवाजा, जल्दी खोल दे। मांगल्य-शंखकी गम्भीर ध्वनिसे मुखरित कर दे दिगन्तको। घनी काली गहरी रातमें अँधेरे घरका बादशाह आया है। देख, आँधीसे दिशायें समाच्छन्न हैं, आकाशमें बारम्बार वज्र-निनाद हो रहा है, बिजली झलक रही है। खीच ले आ, बिछा दे अपनी फटी गूदड़ी। अचानक दुःखकी रातका मेरा राजा आँधीके साथ आ पहुँचा है!···

ओरे दुयार खुले दे रे—
बाजा शंख बाजा।
गंभीर राते एसेछे आज
अँधार घरेर राजा।
वज्र डाके शून्य तले
विद्युतेरि झिलिक झले
छिन्न शयन टेने एने
आङ्गिना तोर साजा।

झड़ेर साथे हठात् एलो
दुःख-रातेर राजा। —रवीन्द्रनाथ : 'खेया'

सो कबीरदासका प्रियतम भी 'दुःखका राजा है'। उसका रास्ता देखते देखते आँखोंमें झाईं पड़ गई है, नाम पुकारते-पुकारते जीभमें छाले पड़ गये हैं। रातदिन आँखोंसे निर्झर झर रहा है, मुखसे पपीहेकी रट लगी हुई है,— विरह-वेदनासे सारा शरीर म्लान हो गया है। यह अजब 'दुःख' है। लोग इसे सांसारिक पीड़ा समझते हैं जो केवल कष्ट देती है, केवल अभावका प्रतिनिधित्व करती है। लेकिन यह पीड़ा अभाव-जन्य नहीं है, भाव-स्वरूप है। लोग जिसे दुःख कहते हैं उससे यह भिन्न है। यह जो परमप्रियतमके लिए रो-रोकर आँखें लाल हो गई हैं, यह भी एक अनिर्वचनीय आनंद है,—प्रेमकषायित नयनोंकी अद्भुत खुमारी है। प्रियतम इस दुःखके मार्गसे आता है, रोदन ही उसका मार्ग है। वह हँसीको पसन्द नहीं करता, सुखको नहीं चाहता और इसलिए इस रोदनमें भक्त एक प्रकारका उल्लास अनुभव करता है, क्योंकि यह प्रेमीके मिलनका मार्ग है—

अंखड़ियाँ झाँईं पड़ी, पन्थ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥ २२॥
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस-जाम।
पपीहा ज्यूं पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम॥ २४॥
अंखड़ि प्रेम-कसाइयाँ, लोग जाणै दुःखड़ियाँ।
साँईं अपणें कारणैं, रोई रोई रत्तड़ियाँ॥ २५॥
हँसि हँसि कन्त न पाइये, जिनि पांया तिन रोइ।
जो हँसि हँसि ही हरि मिलै, तो न दुहागिनि कोइ॥

(क० ग्र०, पृ० ९)

एक बार अगर वह प्रिमतम मिल जाय तो भक्त उसे नैनोंमें इस प्रकार बन्द कर ले कि न वह और किसीको देख सके और न प्रियतमको ही किसी औरके देखनेका मौका मिले—

नैना अन्तरि आपनूं, ज्यूँ हौं नैन झँपेउं।
नाँ हौं देखौं औरकूं, ना तुझ देखन देउं॥ (क० ग्रं०, पृ० १९)

कबीरदासके प्रेमके आदर्श सती और शूर हैं। जो प्रेम पदपदपर भावविह्वल कर देता है, जो मन और बुद्धिका मन्थन कर मनुष्यको परवश बना देता है, जो उत्तम भावावेश प्रेमीको हतचेतन बना देता है वह कबीरदासका अभीष्ट नहीं है। भक्तका संग्राम शूरके संग्रामसे भी बढ़ कर है, सतीके आत्मबलिदानसे भी श्रेष्ठ है। परन्तु फिर भी यदि भक्तके आत्मबलिदानकी झलक कहीं दिख सकती है तो वह सती और शूरमें ही दिखती है—

साधु सती औ सूरमां, इन पटतर कोउ नाहिं।
अगथ-पंथकौं पग धरैं, डिगैं तो कहाँ समाहिं ॥ ३१ ॥
साधु सती औ सूरमां, कबहुँ न फेरैं पीठ।
तीनों निकसि जो बाहुरैं, ताको मुँह मति दीठ ॥ ३९ ॥
टूटै बरत अकाससो, कौन सकत है झेल।
साधु सती अरु सूरका, आनी ऊपर खेल ॥ २६ ॥
(स० क० सा०, पृ० २२०)

परन्तु फिर भी,

आगि आँच सहना सुगम
सुगम खड्गकी धार।
नेह निबाहन एकरस
महा कठिन व्यवहार ॥ ६१ ॥

यह जो एकरस प्रेम है उसका निबाहना सचमुच कठिन व्यवहार है। एकरस अर्थात् जो भावावेगसे उफन न पड़े और विरह-तापसे बैठ न जाय; जो क्षणिक आवेशमें ज्ञान और कर्मकी मर्यादा न तोड़ दे और चिर-अभ्याससे जड़ आवर्तनका रूप न ग्रहण कर ले। रवीन्द्रनाथने इस बातको बहुत ही कवित्वपूर्ण और मार्मिक भाषामें व्यक्त किया है। "हे नाथ, जो भक्ति तुम्हें लेकर अधीर हो उठती है, क्षणभरमें नृत्य-गीत-गानेके रूपमें विह्वल हो उठती है, भावोन्मादसे मत्त बना देती है, यह ज्ञानको लोप कर देनेवाली (बेहोश कर देनेवाली) उफनती हुई फेनमयी भक्तिकी मद-धारा मुझे नहीं चाहिये। हे नाथ, मुझे शान्त भक्तिरूपी स्निग्ध अमृतसे भरा हुआ मंगलकलश दान करो,—मंगलकलश, जो संसारके भवन-द्वारपर सुशोभित हो,—जो भक्ति मेरे समस्त जीवनमें गूढ़ और गंभीर भावसे फैल जायगी, समस्त कर्मोंमें मुझे बल देगी, और हमारी उन सारी

शुभ चेष्टाओंको भी आनंद और कल्याणसे भर देगी जो विफल हो चुकी हैं। यह शान्तरस-भक्ति मुझे सब प्रेमोंमें तृप्ति देगी, समस्त दुःखोंमें कल्याण देगी, समस्त सुखोंमें दाहहीन दीप्ति भर देगी। भावनावेगके आँसुओंको रोककर मेरा चित्त परिपूर्ण, अमत्त और गम्भीर बना रहेगा"—

ये भक्ति तोमारे लये धैर्य नाहि माने,
मुहूर्ते विह्वल हय नृत्य-गीत-गाने,
भावोन्माद मत्तताय, सेइ ज्ञानहारा
उद्भ्रान्त उच्छलफेन भक्ति-मद-धारा
नाहि चाहि नाथ। दाओ भक्ति शान्तिरस,
स्निग्ध-सुधापूर्ण करि, मंगल कलस
संसार-भवन द्वारे। ये भक्ति-अमृत
समस्त जीवन मोर हइबे विस्तृत
निगूढ़ गभीर, सर्व कर्मे दिबे बल
व्यर्थ शुभ चेष्टारे ओ करिबे सफल
आनन्दे कल्याण। सर्व प्रेमे दिबे तृप्ति
सर्व दुःखे दिबे क्षेम, सर्व सुखे दीप्ति-
दाहहीन। सम्बरिया भाव-अश्रुनीर
चित्त रबे परिपूर्ण अमत्त गभीर।

(—नैवेद्य)

सो, कबीरदासका आदर्श भी वही है जो क्षण-भरके भावावेशमें उफन नहीं पड़ता। यह प्रेम मृत्युका प्रेम है, सिर उतार कर ही किसीको इस प्रेम-मंदिरमें बैठनेका अधिकार मिलता है। अगम्य है इसका मार्ग, अगाध है इसका विस्तार। यह खालाका घर नहीं है जहाँ मचलने और रोनेसे ही फरमाइश पूरी हो जाती है—

कबीर यहु घर प्रेमका, खालाका घर नांहि।
सीस उतारै हाथि करि, सो पैसे घर मांहि॥
कबीर निज घर प्रेमका, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकटि प्रेमका स्वाद॥

(क० ग्रं०, पृ० ६९)

और फिर जिस सतीने हाथमें सिंदूरकी डिबिया ले ली है, उसे मृत्युका क्या डर ?—सिंदूरकी डिबिया अर्थात् अचल सौभाग्यकी निशानी। भक्त भी भगवान्के साथ अनन्त मिलनका अभिज्ञान जब पा जाता है तो उसे मृत्युका कोई डर नहीं रहता। मृत्यु उसके लिए आनंद है क्योंकी इसी दरवाजेसे 'पूरण परमानंद' का आगमन होता है। मृत्यु तो सीमाके अन्तका नाम है और सीमाका अन्त पाना ही असीमकी गोदमें जाना है! इसलिए भक्त मृत्युकी परवा तो करता ही नहीं, उल्टे उसे चाहता है, कब वह दिन आयेगा जब वह मृत्युके द्वारा इस सीमाको पार कर जायगा और असीम 'पूरण परमानंद' में मिल जायगा!—

अब तो ऐसी है पड़ी, मनकारु चित कीन्ह।
मरनैं कहा डराइये, हाथि स्वंधौरा लीन्ह॥
जिस मरनैंथैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूँ कब देखहूँ, पूरण परमानन्द॥
(क० ग्रं०, पृ० ६९)

मृत्यु ! मरना भी कोई चाहेगा ? पर भक्त मरना चाहता है, आत्म-हत्या नहीं। सांसारिक विषयी व्यक्ति आत्म-हत्या करते हैं। मृत्यु तो संग्राममें होती है, जौहरसे होती है,—जहाँ मरनेवाला अपनेको बलिदान कर देता है। जो अपनेको बलिदान नहीं करता वह रोग-शोकका शिकार हो जाता है। उसकी मृत्यु या तो परवश-मृत्यु है या आत्म-घात है। पर जो प्रतिक्षण अपनेको उत्सर्ग कर सका है, जो सदा सिर हथेलीपर लिये हुए है, वह जीता भी है तो मृत्युका वरण करके। अपना आपा ही तो सीमा है, बंधन है, भय है। उसको त्याग देना और बलिदान कर देना ही मृत्यु है। सो कबीरदास इसी मृत्युको वरण करनेकी सलाह देते हैं। मरके मरना तो कोई मरना नहीं हुआ, क्यों न जीते ही मरा जाय ! अपने आपको उत्सर्ग कर देना ही जीते हुए मर जाना है !—

हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यों न मराइ।
मूँवा पीछे सत करै. जीवत क्यूँ न कराइ॥ (क० ग्रं०, पृ० ७१)

कबीरके प्रेमका जो आदर्श है वह कविवर रवीद्रनाथके प्रेम-लीलाके आदर्शसे मिलता-सा है। रवीन्द्रनाथने बहुत अधिक सरस और कवित्वपूर्ण भंगीमें जिस प्रेम-लीलाको व्यक्त किया है उसे कबीरने सरल, फक्कड़ाना और अर्थपूर्ण

भाषामें व्यक्त किया है। रवीन्द्रनाथ काव्यके सुकुमार माध्यमका सहारा लेते हैं और नये-पुराने, बाहरके और घरके शत-शत विचारोंकी सहायतासे जिस भाव-जगत्का निर्माण करते हैं वह अपूर्व है, परन्तु, यह कहनेमें कोई हर्ज नहीं कि उनके आदर्शका वैसा ही रूप कबीरमें मिल जाता है। कभी-कभी रवीन्द्रनाथकी कवितायें और आलोचनायें कबीरको समझनेमें सहायक होती हैं। फिर भी दोनोंमें एक बड़ा भारी भेद है जो जानना कबीरके पाठकके लिए बड़े कामकी चीज है। ऊपर हमने कई जगह लक्ष्य किया है कि कबीर और रवीन्द्रनाथ दोनोंकी ही धारणा है कि भगवान् भक्तके साथ प्रेम-केलिके लिए व्याकुल रहते हैं। पर रवीन्द्रनाथकी अधिकांश कविताओं और गीतियोंमें भक्तके पास भगवान् स्वयं अभिसार करते हैं जब कि कबीरकी अधिकांश कविताओंमें भक्त ही अभिसारिकाका कार्य करता है। ऐसा तो नही है कि रवीन्द्रनाथमें एक जगह भी भक्त अभिसारके लिए नहीं निकला हो और कबीरमें कहीं भी भगवान्ने अभिसारका प्रयत्न न किया हो, पर सब मिलाकर कबीरका भक्त अभिसारका प्रयत्न स्वयं करता है जब कि रवीन्द्रनाथका भगवान् निरन्तर अभिसार करता रहा है।

कबीरदासकी भक्त-रूपी अभिसारिका आरती सजाकर प्रियको ढूँढ़ने निकल पड़ती है, प्रेम-रसकी बूँदसे उसकी चुनरी भीजती रहती है—

भीजै चुनरिया प्रेमरस-बूँदन।
आरती साजके चली है सुहागिन,
प्रिय अपनेको ढूँढ़न।

—शब्दा०, पृ० ९

या फिर वह प्रियतमकी ऊँची अटारीतक पहुँचकर भी लज्जासे भरी ऊपर जानेमें संकोच करती है, पैर उसके थक गये होते हैं, यदि हिम्मत करके चढ़नेके लिए पैर भी उठाती है तो सीढ़ियोंपर ही लड़खड़ा जाती है, अंग-अंग थहरा जाते हैं, चित्त भयसे काँप उठता है,—अनाड़ी नारी इस महीन ऊँचे-सँकरे मार्गकी थाह ही नहीं पाती! और फिर भी यह कैसा मोह है, सद्गुरुके उपदेशसे उसका अन्तरपट ज्यों ही खुलता है त्यों ही ऊँचाई गायब हो जाती है, दूरी दूर हो गई होती है और थकानका पता ही नहीं रहता! प्रियतम हृदयमें ही क्रीड़ा करते पाये जाते हैं—

पिया-मिलनकी आस रहौं कबलौं खरी।
ऊँचे नहिं चढ़ि जाय मने लज्जा भरी॥
पाँव नहीं ठहराय चढूँ गिर गिर परूँ।
फिर फिर चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ॥
अंग अंग थहराय तो केहि बिधि डरि रहूँ।
करम-कपट मग घेरि तो भ्रममें परि रहूँ॥
बारी निपट अनारि तो झीनी गैल है।
अटपट चाल तुम्हार मिलन कस होइ है॥
छोरो कुमति-विकार सुमति गहि लीजिये।
सतगुरु-शब्द सम्हारि चरन चित दीजिये॥
अन्तरपट दे खोल शब्द उर लाव री।
दिल-बिच दास कबीर मिलैं तोहिं बावरी॥

(क० वच०, पृ०, १४१-२)

या फिर वह ऊँचे-रपटीले मार्गपर व्याकुल भावसे निकल पड़ती है, पाँव डगमगाते रहते हैं, मन लाज और कुलकी मर्यादाओंके भंग होनेके भयसे सशंक बना रहता है, नैहरकी बसनेवाली होनेके कारण वह नैहरमें प्रिय-समागम,—सो भी अभिसारकी लज्जा नहीं छोड़ पाती, ऊँचे महलको देखकर भौंचक्का रह जाती है। परन्तु सद्गुरु-रूपी दूती मिलते ही प्रियतमके गले लगना उसके लिए सम्भव हो जाता है—

मिलना कठिन है कैसे, मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि-सोचि पग धरौं जतनसे, बार-बार डिग जाय।
ऊँची गैल राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय॥
लोक-लाज कुलकी मरजादा, देखत मन सकुचाय।
नेहर-बास बसौं पीहरमें, लाज तजी नहिं जाय॥
अधर-भूमि जहँ महल पियाका, हमपै चढ़यौ न जाय।
धन भइ बारी पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय॥
दूती सतगुरु मिले बीचमें, दीन्हों भेद बताय।
साहब कबीर पिया सो भेटयौ, सीतल कंठ लगाय॥

(क० वच०, पृ० १३६-७)

और सही बात तो यह है कि उसे नैहर अच्छा लगता ही नहीं। उसके प्रियतमकी नगरी,—जहाँ दिन-रात मोती बरसते हैं, जहाँ प्रियकी मधुर मुरलीसे दिगन्त मुखरित होता रहता है, जहाँ बिना मूलके कमल-पुष्पों और अन्य नाना-विध कुसुमोंके सौरभसे वायुमण्डल व्याप्त रहता है,—वह नगरी उसको खींचती रहती है। वह अभिसार-यात्राको निकलनेको बाध्य है। चातक जैसे चाँदकी ओर टक लगाये रहता है वैसे ही वह उस प्रेममयी नगरीको ताकती ही रह जाती है—

मोतिया बरसे रौरे देसवां दिन-राती।
मुरली-शब्द सुनि मन आनंद भयौ, जोति बरै दिन-राती।
बिना मूलके कमल प्रगट भयौ, फुलवा फुलत भाँति भाँती।
जैसे चकोर चंद्रमा चितवै, जैसे चातक स्वाती॥ इत्यादि।

(शब्दा०, पृ० ७२)

उस परम अद्भुत नगरीके सामने क्या नैहर भा सकता है? कैसी है वह नगरी! परम रमणीय उस अद्भुत नगरीके भीतर कोई पहुँच नहीं पाता। चाँद और सूर्य भी, पवन और पानी भी वहाँ जानेमें असमर्थ हैं। इस अगम अगोचर स्थानतक प्रियतमके पास विरहकी मारी प्रियाका संदेश भी तो नहीं कोई पहुँचा सकता! हाय, सखी, कोई उपाय क्यों नहीं सोचती, किस प्रकार उस अजब सासुरेको जाऊँ! लेकिन कबीरदासको निश्चित रूपसे मालूम है कि उस नगरीको पहुँचा दे सकनेवाला साथी एक सद्गुरु ही है। वही वहाँतक प्रियाको पहुँचा सकता है। नहीं तो प्रियतमका मिलन स्वप्नमें भी असम्भव ही है!

नहरवा हमकाँ नहीं भावै।
साईंकी नगरी परम अति सुंदर, जहाँ कोई जाइ न आवै।
चाद-सुरुज जहँ पवन न पानी, को सन्देस पहुँचावै?
दरद यह साँई, को सुनावै?
आगे चलौं पन्थ नहीं सूझै, पीछे दोष लगावै।
केहि विधि ससुरे जाँव मोरी सजनी, बिरहा जोर जनावै!
विषै-रस नाच नचावै।
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई; जो यह राह बतावै।

कहत कबीर सुनो भाई साधो, सपने न प्रीतम पावै ।
तपन यह जियकी बुझावै ।—(शब्दा०, पृ० ७२)

सिर्फ यात्राके विषयमें ही कबीरदासकी परिकल्पित भक्ताभिसारिका स्वयं क्रियात्मक प्रयत्न करती हो, यह बात नहीं है। प्रियके शान्त-स्निग्ध क्रोड़में शयन करनेका प्रयत्न भी पहले उसीकी ओरसे होता है—

ए अँखियाँ अलसानी, पिया हो सेज चलो ।
खंभ पकरि पतंग अस डोलै, बोलै मधुरी बानी ।
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यो, पिया बिना कुम्हलानी ।
धीरै पाँव धरौ पलंगापर, जागत ननँद-जिठानी ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, लोक-लाज बिछलानी ॥
(क० वच०, १६६)

परन्तु रवीन्द्रनाथकी भक्त प्रेयसी और तरहकी है। उसके जीवन-देवता उसके हृदयमें अपनी प्यास बुझानेके लिए आते हैं—

ओहे अन्तरतम,
मिटेछे कि तव सकल पियास
आसि' अन्तरे मम !

अरी ओ अभागिन, तुझे कैसी नींद आ गई थी जो प्रियतमके पास आनेपर भी जाग नहीं सकी। वह निस्तब्ध रात्रिमें आया था, हाथमें उसके वीणा थी, तेरे स्वप्नमें उसने गम्भीर रागिनी बजा दी और तू सोती ही रही ! हाय, जागके देखती हूँ, दक्खिनी हवाको पागल बनाकर उसका सौरभ अन्धकारमें व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है ! हाय, क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पाकर भी नहीं पा सकती, क्यों उसकी मालाका स्पर्श मेरे वक्षःस्थलको नहीं लगने पाता—

से ये पाशे ऐसे बसेछिल, तबु जागिनि ?
की घूम तोरे पेयेछिल हतभागिनि !
एसे छिल नीरव राते, वीणाखानि छिल हाते,
स्वपन माझे बाजिये गेलो, गभीर रागिणी ।
जेगे देखि दखिन-हाओया पागल करिया ।

गंध ताहार मेसे बेड़ाय आँधार भरिया ।
केन आमार रजनी याय, काछे पेछे काछे ना पाय
केम गो तार मालार परश, बुके लागेनि ।—(गीतांजलि)

"शयनके सिरहाने अभी-अभी प्रदीप बुझा था, जाग उठी थी प्रभातकालके कोकिलके शब्दोंसे । अलग चरणोंसे (चलकर) खिड़कीपर आकर बैठी थी, शिथिल केशोंमें नई माला धारण की थी । ऐसे ही समयमें जब कि रास्ता अरुणधूसर हो उठा था, राजमार्गपर तरुण पथिक दिखाई दिया । सोनेके मुकुटपर उषाका आलोक पड़ रहा था । गलेमें सुसज्जित मुक्ताकी माला शोभ रही थी । कातरकण्ठसे पुकारा—'वह कहाँ है, कहाँ है वह ?'—व्यग्र चरणोंसे मेरे ही द्वारपर उतर कर !—मैं लाजसे मरी जा रही थी, कैसे कहूँ कि 'ऐ बटोही, वह मैं ही हूँ, वही तो मैं हूँ !'

"गोधूलि-वेला थी, तब भी प्रदीप नहीं जला था, मैं माथेमें सोनेकी बेंदी पहन रही थी,—हाथमें सोनेका दर्पण लेकर खिड़कीपर अपने मनसे कबरी बाँध रही थी । ऐसे ही समय संध्या-धूसर पथपर वह करुण नयनोंवाला तरुण पथिक रथपरसे उतरा । फेन और पसीनेके कारण घोड़े व्याकुल हो रहे थे । उसके वस्त्रों और भूषणोंमें धूल भर गई थी । कारतकंठसे उसने पुकारा—'वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?'—क्लान्त चरणोंसे हमारे ही द्वारपर उतरकर ! हाय मैं लाजसे मरी जा रही थी । कैसे कहती कि 'ऐ थके बटोही, वह मैं मैं ही हूँ, वही तो मैं हूँ ।'

"फागुनकी रात है । घरमें प्रदीप जल रहा है, दक्षिणी हवाके झकोरे छाती-पर लग रहे हैं, यह मुखरा सारिका (मैना) सोनेके पिंजड़ेमे सो रही है, द्वारके सामने द्वारपाल भी सो रहा है । सोहागघर धूपके धुएँसे धूसर हो उठा है । अगुरुकी गन्धसे सारा शरीर व्याकुल है, मोर-पंखी कंचुकी मैंने पहन ली है । दूर्वाके समान उस श्यामल वक्षःस्थलपर आँचल खींचकर विजन राजमार्गके उस पार देख रही हूँ । धूलमें उतरकर खिड़कीके नीचे बैठ गई हूँ । अकेली बैठी तीन पहरतक उदास भावसे गान गाती रही हूँ—'हताश पथिक, वह मैं ही तो थी, वही तो मैं थी !"
—'भ्रष्ट-लग्न' से अनुवादित ।

इसी प्रकार

"हे सुन्दर, तुम आज प्रातःकाल आये थे, अरुणवर्णका पारिजात तुम्हारे हाथोंमें था । सारी नगरी निद्रित थी, रास्तेमें कोई पथिक भी नहीं था । तुम

अपने सोनेके रथपर अकेले ही चले गये। सिर्फ एक बार रुक मेरी खिड़कीकी ओर तुमने करुणाभरी आँखोंसे देखा था,—हाँ, सुंदर, तुम आज प्रातःकाल आये थे!"

सुंदर, तुमि एसेछिले आजि प्राते,
अरुण-वरण पारिजात लये हाते।
निद्रित पुरी, पथिक छिल ना पथे,
एका चलि गेले, तोमार सोनार रथे,
बारेक थामिया मोर वातायनपाने
चेये छिले तव करुण नयन-पाते।
सुन्दर,तुमि एसेछिले आजि प्राते। (गीतांजलि)

स्पष्ट ही कबीर और रवीन्द्रनाथकी प्रेम-लीला एक ही प्रकारकी होनेपर भी दोनोंमें मौलिक भेद है। एककी केलि यत्न-साधित है, दूसरेकी स्वयं-प्राप्त; एक अपनेको और अपने पौरुषको भूलकर भी भूलना नहीं जानता, दूसरा अपनेको और अपनी शक्तिको स्मरण रखकर भी भूल जाता है; एक क्रियात्मक है, दूसरा भावनात्मक; एकका मार्ग साधनाका मार्ग है, दूसरेका मार्ग सौन्दर्यका; एक करनेमें विश्वास करता है, दूसरा होनेमें; एक प्रधान रूपसे सन्त है, दूसरा कवि। परन्तु दोनोंमें प्रियसे मिलनेकी व्याकुलता है, दोनोंका ही प्रियतमके प्रेमपर अखण्ड विश्वास है, दोनोंमें ही आत्मार्पणका भाव प्रबल है, दोनों ही प्रिय-प्राप्तिको सहज-लभ्य व्यापार नहीं मानते, दोनोंका ही प्रेम हिस्टीरिक प्रेमोन्मादका परिपंथी है। दोनों ही कठोर साधना और कोमल भक्तिके हामी हैं। अद्भुत है वह प्रेम, अपूर्व है उसकी ज्योति! दुःख और द्वन्द्वसे परे, भ्रम और भ्रान्तिसे अतीत यह एकरस प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—

गगनकी गुफा तहँ गैबका चाँदना, उदय औ' अस्तका नाम नाहीं।
दिवस औ रैन तहँ नेक नहिं पाइये, प्रेम-परकासके सिंधुमाहीं।
सदा आनंद दुख-द्वंद्व व्यापै नहीं, पूरनानंद भरपूर देखा।
भर्म औ' भ्रांति तहँ नेक आवै नहीं, कहैं कब्बीर रस एक पेखा॥
(शब्दा०, पृ० १०५)

१५—रूप और अरूप, सीमा और असीम

इस संसारमें सब-कुछ चंचल है। चलता जा रहा है, चूँकि कुछ भी स्थिर नहीं है, सब-कुछ गतिशील, परिवर्तनीय, इसीलिए संसारकी स्थिति है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, पर है सत्य। समस्त संसरणशील वस्तुओंकी अस्थिरताके होते हुए भी यह संसार 'है'। इसका 'है'–भाव ही सूचित करता है कि सब चलमान वस्तुओंके भीतर एक अविचल सत्य प्रतिष्ठित है। "जो लोग अनन्तकी साधना करते हैं और जो सत्यकी उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि वे चारों ओर जो कुछ देख और जान रहे हैं वही चरम सत्य नहीं है, वह अपने-आपमें स्वतन्त्र नहीं है, और किसी भी क्षण वह अपने-आपको पूर्ण रूपसे प्रकाश नहीं कर रहा है। यदि ये वस्तुएँ ऐसी होतीं तो वे सभी स्वयंभू-स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहतीं। पर उनमें एक अन्तहीन गति है, अविराम अस्थिरता है। ये जो अन्तहीन गतिके द्वारा अन्तहीन स्थितिको निर्देश कर रहे हैं वही हमारे चित्तका परम आश्रय और चरम आनन्द है। अतएव, आध्यात्मिक साधना कभी भी रूपकी साधना नहीं हो सकती। यह समस्त रूपोंके भीतरसे चंचल रूपके बंधनको अतिक्रम करके, ध्रुव सत्यकी ओर चलनेकी चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु जो अपनेको ही चरम या स्वतंत्र समझनेका भान करती है वस्तुतः वैसी नहीं है। साधक इस भानके आवरणको भेद करके ही परम पदार्थको देखना चाहता है, यदि नाम-रूपका यह आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद नहीं कर सकता था। यदि वे अविश्रांत भावसे नित्य प्रवहमान होकर अपने-आपकी ही सीमा तोड़ते हुए न चलते, तो इन्हें छोडकर और किसी बातके लिए मनुष्यके मनमें स्थान भी न होता। तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो रहते, तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल प्रत्यक्ष सत्योंकी भीषण शृंखलामें बँधकर एकदम मूक और मूर्च्छित हो रहते। इनके पीछे कुछ भी न देख सकते। किन्तु ये सारे खण्ड-वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँधकर खड़े होकर रास्ता नहीं रोके हुए हैं, इसीलिए हम अखण्ड सत्यका और अक्षय पुरुषका संधान पाते

हैं।" (रवीन्द्रनाथ) इसीलिए भक्त जन रूप-मात्रके इस निरन्तर गतिशील पहलूपर बराबर जोर देते रहते हैं। मध्ययुगमें वैराग्योद्रेकके लिए इस पहलूका अधिक उपयोग किया गया है। कबीरने भी किया है, पर कबीरका लक्ष्य उस समस्त अस्थिर रूपराशिके भीतरसे स्थिर अरूप-तत्त्वकी ओर इशारा करना अधिक रहा है। वे दस दिनके लिए अपनी नौबत बजाकर इस नगर और गलीको हमेशाके लिए नमस्कार करके चल देनेवालोंको उस परमतत्त्वकी बार-बार याद दिला देते हैं जो स्थिर है, शाश्वत है, रूपातीत है—

कबीर नौबत आपणीं, दिन दस लेहु बजाइ।
ए पुर-पाटन ए गली, बहुरि न देखै आइ॥ १॥
जिनकै नौबति बाजती, मैंगल बँधते बारि।
एकै हरिके नाँव बिन, गये जन्म सब हारि॥ २॥

(क० ग्रं०, पृ० २०)

इस विनाशकी दुनियामें एक-मात्र अविनाशी तत्त्व राम है। नष्ट होते हुए शरीरको अगर बचा लेना है तो इसी अविनश्वरकी शरण जाओ। नहीं तो इस कच्चे कुम्भके फूटनेमें क्या देर है!

कबीर यह तन जात है, सकै तो लेह बहोड़ि।
नागे-हाथें ते गये, जिनकै लाख-करोड़ि॥ ३७॥
यहु तन काचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाइ।
एक रामके नाँव बिन जदि तदि परलै जाइ॥ ३८॥

(क० ग्रं०, पृ० २४)

परन्तु रूप और सीमा चाहे जितनी भी क्यों न हो, हम उनके द्वारा ही अरूप और असीमको पानेकी ओर उन्मुख होते हैं। साधक रूप और सीमाकी सहायतासे उस शाश्वत अरूप और परिव्याप्त असीमको देखता है, जो उसका चरम प्राप्तव्य है। कवि शब्द और अर्थका सहारा लेकर अरूप रसकी ओर उन्मुख होता है, कलाकार रेखा और रंगकी सहायतासे रूपातीत भावकी अभिव्यंजना करता है, और भक्त भी नाम और रूपकी सीढ़ियोंसे ही उठकर अनाम और अरूप परम तत्त्वकी झाँकी पाता है। यह जो रूप है और सीमा है वह वस्तुतः जड़ प्रकृतिका ही विकार है। इसीको कबीरदास 'गुण' कहते हैं। जो वस्तु गुणातीत है वह गुणोंमें नहीं है ऐसा नहीं कह सकते। यह धोखा है,—भ्रम है,

जो लोग 'गुण' को 'निर्गुण' का उल्टा समझते हैं। 'गुण' 'निर्गुण' की विरोधी वस्तु नहीं है। निर्गुण परमात्मा क्या गुणोंमें नहीं है ? यह जो धरती, आकाश, चन्द्र, तारा दिखाई दे रहे हैं वे क्या त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके विकार नहीं हैं और इसीलिए क्या ये परमात्मासे खाली हैं ? यह हो नहीं सकता। सो ये लोग भोले ही हैं। जो गुणको निर्गुणके बाहर या विरुद्ध मानते हैं,—वस्तुतः गुणसे हम निर्गुणका अनुमान करते हैं। दूसरे शब्दोंमें रूप हमें अरूपकी ओर उन्मुख कर देता है, सीमा असीमका सन्धान बताती है। गुण और निर्गुण केवल तारतम्य बतानेके वास्ते हैं। जब कहा जाता है कि भगवान् गुणमय नहीं हैं तो उसका मतलब यही होता है कि जो रूप और सीमा हमें दिख रही है वह अरूप और असीमको ठीक-ठीक प्रकट नहीं कर सकती,—भगवान् न तो वह रूप ही है न उसके समान ही है। वह उससे अतीत है, परे है। 'निर्गुण' कहनेसे यदि यह अर्थ लिया जाता है कि वह दृश्यमान गुणोंसे बाहर है या विरुद्ध है, तो भ्रम है, धोखा है—

संतो, धोखा कांसूं कहिये
गुणमैं निरगुंण निरगुंणमें गुण,
बाट छाँड़ि क्यूं बहिये !
अजरा-अमरा कथै सब कोई,
अलख न कथणां जाई,
नाहिं सरूप, बरण नहिं जाकै,
घटि घटि रह्यौ समाई ॥
प्यंड-ब्रह्मंड छोड़ि जे कथिये,
कहै कबीर हरि सोई ॥

(क० ग्रं०, पद १८०)

इसीलिए वह अद्भुत, अनुपम, रामतत्त्व कहकर बताया नहीं जा सकता। उसको सगुण-निर्गुणमेंसे किसी भी नामसे पुकार नहीं सकते, पर न तो वह सगुण वस्तुमें अविद्यमान है और न निर्गुण वस्तु द्वारा असूचयितव्य। वह इन झमेलोंसे ऊपर है। ससीम-रूपदर्शी बुद्धि उस तत्त्वको नहीं समझ सकती। उसके मुँह

भी नहीं; माथा भी नहीं, रूप भी नहीं और रूपक भी नहीं। वह सूक्ष्म-से भी सूक्ष्म है, पुष्प-सौरभसे भी महीन है, वह अनुपम तत्त्व है।

जाकै मुँह माथा नहीं, नाहीं रूपक-रूप।
पहुप-बासथैं पातला, ऐसा तत्त अनूप ॥ ४ ॥ (क० ग्रं०, ६०)

'मुँह और माथा' तो उपलक्षणमात्र हैं। वह समस्त रूप और सीमाओंसे परे है, वह मन और बुद्धिके भी परे है। उसमें मोह नहीं, माया-ममता नहीं। ऐसे ही निर्मम निर्मोही पियासे प्रेम-क्रीड़ाका व्रत भक्तोंने लिया है। ऐसे प्रियके मिलनकी क्या आशा की जा सकती है! भक्त-रूपी नारी चाहे जैसी भी विरहिणी हो,—दिनका भोजन और रातकी नींद खो चुकी हो, सहेलियोंकी रग-केलि और ज्ञातिकुलको, धन-सम्पत्तिको छोड़ आई हो; वन-खण्डमें तपस्या कर चुकी हो और पानीसे निकली हुई मछली-सी तड़प रही हो, पर प्रियतम क्यों गलेगा? वह तो आकार-रूपके परे है, मोह और ममतासे ऊपर है, कामना और लालसाके अगम्य है, वह मिलेगा कैसे? ममताभरी प्रेयसीका निर्ममसे मेल क्या, लालसाकी आँखोंसे अलखका लखाव क्या, रूपसे अरूपका सामंजस्य क्या? यह रहस्यमय प्रेम-केलि चल कैसे सकती है? कबीरदास जवाबमें कहते हैं कि सिर्फ एक ही मार्ग है। तुम्हारे शरीरमें जो जड़ विकार हैं,—जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि हैं,—उनको तुमने गलतीसे अपना मान लिया है। ये उस निर्मोहीकी ओर उन्मुख करनेके साधन हैं, परन्तु यदि उन्हें ही तुमने उनके मिलनेका साधन भी समझा है तो यह भ्रम है। तुम्हारे इस नाशमान् ससीम जड़ विकारके बीच एक स्थिर शाश्वत चेतन है, वह इन्द्रिय, मन और बुद्धिके अगोचर है, वही उस निर्मोही प्रियतमका वास्तविक आकर्षण-स्थान है। निर्मोही प्रियतमको पाना चाहते हो तो शरीर, मन और बुद्धिको अपना स्वरूप समझनेके रूपमें जो पर्दा पड़ा हुआ है उसे दूर करो। एक बार इस भ्रमके पर्देको दूर कर दो तो देखो कि प्रियतम दूर नहीं है, तुम्हारी रग-रगमें भीना हुआ है। उस भ्रमके पर्देमें भी है, पर दीखता तबतक नहीं जबतक तुम उस पर्देको अपना स्वरूप समझते रहो। भगवान् और भक्तमें अब भेद नहीं रह सकेगा। युग-युगान्तरसे ये दोनों एकमेक होकर रह रहे हैं—

कैसे जीवेगी विरहिनी
पिया बिन कीजै कौन उपाय ।
दिवस न भूक रैनि नहिं सुख है,
जैसे कलियुग जाम (?)
खेलति फाग छाँड़ि चलु सुंदर
तजु चलु धन औ धाम ॥
बन खँड जाय नाम लै लावौ
मिलि पियसे सुख पाय ।
तलफत मीन बिना जल जैसे,
दरसन लीजै धाय ।
बिन आकार रूप नहिं रेखा
कौन मिलेगी आय ।
अपना पुरुष समुझि ले सुन्दरि
देखो तन निरताप ।
सब्द सरूपी जिव पिव बूझौ
छाँड़ो भ्रमकी टेक ।
कहैं कबीर और नहिं दूजा
जुग जुग हम तुम एक ॥

(शब्दा०, पृ० १०–११)

यही कारण है कि कबीरदासने कामना और लालसाके त्यागको भक्तिकी आवश्यक शर्त रखी है। जब भगवान् लालसा और कामनाकी पहुँचके बाहर ही हैं तो क्यों न पहले कामना और लालसाको खत्म किया जाय? जबतक मनमें कहीं भी कामना है, तबतक शरीर और मनके प्रति आत्माभिमानका भ्रम है। यह भ्रम और भक्ति एक साथ नहीं रह सकती। सो कबीरदास पुकार-पुकारकर कह गये कि सकामताका भ्रम छोड़कर ही भक्तिके मैदानमें आओ—

और कर्म सब कर्म हैं, भक्तिकर्म निष्कर्म ।
कहै कबीर पुकारिकै, भक्ति करो तजि भर्म ॥

(क० वच०, पृ० ११)

निष्कर्म अर्थात् निष्काम। निष्काम भावसे ही भक्ति हो सकती है, क्योंकि, जिस देवताकी भक्ति करनी है वह स्वयं निष्काम है—

जब लगि भगति सकामतां, तब लगि निर्फल सेव।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलै, निहकांमी निज देव॥

फिर एक बार समस्त कामनाओंका विसर्जन कर जब भक्तरूपी सुन्दरी अपने निर्गुण प्रियतमका दर्शन पाती है तो जो अद्‌भुत कौतुक उसे दिखाई देता है, वह कहकर समझानेकी बात नहीं है। वह प्रियतम समस्त कालकी सीमाओंके परे है इसलिए अनन्त है, समस्त देशके परे है इसलिए असीम है। सो उस अनन्तका प्रकाश अपरम्पार है, सुन्दरी कुतूहल-विस्फारित नयनोंसे उस अपूर्व तेजको देखती है,—मानो कोटि कोटि सूर्योंकी सेना खड़ी हो। वहाँ पाप नहीं, पुण्य नहीं, कर्म नहीं, आचार नहीं,—केवल अपरिमेय ज्योतिका प्रकाश, अगम्य अगोचर तेजकी झिलमिल ज्योति। ऐसे तेजोमय अद्‌भुत लोकमें प्रवेश करते ही भक्त भी हद छोड़कर बेहद हो जाता है,—अपने स्वधर्म और स्वभावमें प्रतिष्ठित हो जाता है—

कबीर तेज अनंतका, मानौं उगी सूरज सेणि।
पतिसँग जागी सुंदरी, कौतिग दीठा तेणि॥
पारब्रह्मके तेजका, कैसा है उनमान।
कहिबेकूँ सोभा नहीं, देख्या ही परमान॥
अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै ज्योति।
जहाँ कबीर बन्दगी, (तहाँ) पापपुन्य नहीं छोति॥

और

हदै छाँड़ि बेहद गया, हुआ निरन्तर बास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास॥

(क० ग्रं०, पृ० १२)

जहाँ अनन्त कोटि सूर्य सतत प्रकाशमान हैं वहाँ केवल ज्योतिका ही निर्झर झर रहा है। उस स्थानपर अगर बिना फूले ही कमल फूलता रहे तो आश्चर्य क्या है? फूलनेपर कमलके खिलनेका तो हिसाब वहाँ है जहाँ रोज अंधकार आता है और कमलको अनफूला कर जाता है। पर जहाँ सूर्योंकी सेना खड़ी हो वहाँ कमल-का संकोच कैसा? सो यह कमल निरंतर खिला रहता है। पिंडमें यही कमल शून्य

या सहस्रार चक्र है और ब्रह्माण्डमें सर्वतोव्याप्त महा-आकाश ! यही परम अवकाश हद छोड़कर बेहद होनेका उपयुक्त स्थान है। एक बार पिंडस्थित आकाश (शून्य) में जब भक्त पहुँच जाता है—जब इस विशाल शून्यमें स्नान करता है—तो प्रियतमके उस क्रीड़ा-हर्म्यमें पहुँचता है, जो सिर्फ योग और तप साधनेवाले मुनियोंको दुर्लभ है। यह प्रेम-लोक देवताओंको भी दुर्लभ है क्योंकि वे कर्मके उपासक हैं, मुनियोंको अगम्य है क्योंकि कबीरदास उन्हें योगमार्गके पथिक मानते थे, पीर-औलियोंको भी दुर्लभ है, क्योंकि उनका मार्ग अल्लाह और रामकी भेद-बुद्धिका है,—सबकी पहुँचके बाहर जो प्रेम-लोक है वहाँ केवल भक्तको ही प्रवेश पानेका अधिकार है।—भक्त जो राम-नामका छका हुआ है :

सुर-नर मुनिजन-औलिया, ए सब वेलै तीर।
अलह-रामका गम नहीं, तहँ घर किया कबीर।
(स० क० सा०, पृ० ६४)

हद छाँड़ि बेहद गया, किया सुन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया विश्राम॥
पिंजर प्रेम प्रकासिया, जाग्या जोत अनंत।
संसा खूटा सुख भया, मिल्या पियारा कन्त॥
(क० ग्रं०, पृ० १३)

परन्तु इस दुनियाकी छोटी-मोटी रूपात्मक कल्पनाओंके आधारपर हम इस अनन्त तेजःपुंज लोकका अनुमान भी नहीं कर सकते। साधारण मनुष्य उस पर्दा-नशीन नववधूकी भाँति है जो आधी खुली खिड़कीपर खड़ी हुई घूँघटके भीतरसे संसारको देख रही है। उसके सामनेवाले रास्तेपर लोग आते रहते हैं, पर वह उसका कुछ भी उद्देश्य नहीं समझ पाती, क्योंकि सम्पूर्ण देखनेका उसे अभ्यास नहीं है। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इस भावको अपनी एक कवितामें मार्मिकताके साथ प्रकट किया है—

"तुम आधी खुली खिड़कीके किनारे खड़ी हो। नई बहू हो क्या? शायद तुम चूड़ीवालेके इन्तजारमें हो कि तुम्हारे द्वारपर आयेगा। तुम सामने देख रही हो कि बैलगाड़ी धूल उड़ाती हुई चली जाती है, भरी नौकायें हवाके जोरसे पालोंके सहारे बही जा रही हैं। मैं सोच रहा हूँ कि इस आधी खुली

खिड़कीपर घूँघटकी छायासे ढकी हुई तुम्हारी आँखोंको यह विश्व कैसा दिख रहा होगा। निश्चय ही यह छायामय भुवन तुमने स्वप्नों (कल्पनाओं) से गढ़ा होगा, शायद किसी नानीके मुँहसे सुनी हुई परियोंकी कहानीके साँचेमें वह ढला होगा,—जिसकी लोरियोंकी बनी कहानीका न आदि है, न अन्त है।

"मैं सोच रहा हूँ कि हटात् यदि एक दिन वैशाखके महीनेमें आँधीके झोंकोंसे नदी लाज-शर्म छोड़कर बन्धनहीन सूने आसमानमें नाच उठे, यदि उसका पागलपन जाग पड़े,—और फिर उस आँधीके झोंकोंसे तुम्हारे घरकी सभी जंजीरें खुल जायँ और तुम्हारी आँखोंपर गिरा हुआ घूँघट भी उड़ जाय,—और फिर यह सारा जगत् विद्युत्की हँसी हँस एक क्षणमें शक्तिका वेश धारण करके तुम्हारे घरमें घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय तो फिर कहाँ रहेगी यह आधे ढँके हुए अलस दिवसकी छाया, वह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनों-सनी अपनी कल्पनासे गढ़ी हुई माया?—सभी उड़ जायँगे।

"सोचता हूँ कि उस समय तुम्हारी घूँघट-रहित काली आँखोंके कोनेमें न जाने किसका प्रकाश काँपेगा, अपने आपमें खोये हुए प्राणोंके आनन्दमें अच्छा और बुरा सब-कुछ डूब जायगा, और तुम्हारे वक्षःस्थलमे रक्तकी तरंगिनी उत्ताल नर्तनसे नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीरमें तुम्हारी यह कंकण और किंकिणी अपने चंचल कम्पनोंमे कौन-सा सुर बजा देंगी! आज तुम अपनेको आधी ढँकी रख कर, घरके एक कोनेमें खड़ी होकर न जाने किस मायाके साथ इस जगत्को देख रही हो?—मैं मन ही मन यही सोच रहा हूँ। तुम्हारे रास्तेमें आज जो आवागमन चल रहा है वह निरर्थक खेल-सा लग रहा है, छोटे दिनके कामोंकी छोटी-छोटी हँसियाँ और रुलाइयाँ न जाने कितनी उठती हैं और विलीन हो जाती हैं!—मन ही मन यही सोच रहा हूँ।" (खेया)

यह जो कल्पनाके गढ़े हुए रूप-जगत्का व्यापार है वह तबतक हमारी दृष्टिको रोके हुए है जबतक अनन्त सत्यका प्रकाश एकाएक आकर उसे छिन्न-भिन्न नहीं कर जाता। जिस दिन छिन्न-भिन्न कर जायगा उस दिन, कबीरदास गवाह हैं कि, जो दृश्य दिखाई देगा वह एकदम विचित्र होगा। न वहाँ धरती होगी, न गगन; न पानी, न पवन; न तिथि; न वार; न चाँद, न सूर्य; न हाट; न बाट; —सबसे परे, सबसे विचित्र। वहाँ कालका बन्धन नहीं है, भूत-भविष्यका

भेद नहीं है। जिसे हम लाख युग पहलेकी बात कहते हैं वह वहाँ प्रत्यक्ष है, जिसे हम कोटि कल्प बादकी बात कहेंगे वह वहाँ विद्यमान है, क्योंकि वहाँ अनन्त स्थिति है, शाश्वत सत्ता है। हमारी आँखें क्षणिक और चलमान जगत्‌की परिभाषा इनमें ही देखनेकी अभ्यस्त हैं। उस अनन्त स्थितिशील देश-काल-व्यवच्छेदके अतीत परम प्रकाशमय लोकको हम क्या समझेंगे?

चाँद नहीं सूरज नहीं, हता न वो ओंकार।
तहाँ कबीरा रामजन, को जाने संसार॥
धरती-गगन-पवनै नहीं, नहीं होत तिथि-बार।
तब हरिके हरिजन हुते, कहै कबीर बिचार॥
जा दिन किरतम ना हता, नहीं हाट नहिं बाट।
हता कबीरा सन्त-जन, (जिन) देखा औघट घाट॥
नहीं हाट नहीं बाट है, नहिं धरती नहिं धीर।
असंख्य युग परले गया, तब ही कहै कबीर॥
पवन नहीं पानी नहीं, नहिं धरती आकास।
एक निरंजन देवका, कबिरा दास-खवास॥
(स० क० सा०, पृ० ६३-४)

उस देशका सब-कुछ विचित्र है। वह देश जहाँ बारह महीने वसन्त है, जहाँ प्रेमका निर्झर झरता रहता है, जहाँ अनन्त ज्योतिपुंजसे महा-अमृत बरसता रहता है, जहाँ जाति-कुल-वर्णका विशेषत्व नहीं, जहाँ आकाश और धरतीमें अन्तर नहीं, जहाँ परब्रह्मकी आनन्द-केलि निरन्तर चल रही है, जहाँ अगम्यका दीपक बिना बाती और तेलके ही जल रहा है। अपूर्व है वह देश! कबीर उसी देशके वासी थे:

हम वासी उस देशके, जहाँ बारह मास विलास।
प्रेम झरै विकसै कँवल, तेजपुंज परकास॥
हम वासी उस देशके, जहवाँ नहिं मास वसन्त।
नीझर झरै महा अमी, भीजत हैं सब सन्त॥
हम वासी उस देशके, जहाँ जाति बरन कुल नाहिं।
शब्द मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं॥

हम वासी वा देशके, जहाँ पारब्रह्मका खेल।
दीपक जरै अगम्यका, बिन बाती बिन तेल॥

(स० क० सा० ६४–५)

यह कुछ उस प्रकारका देश है जिसे रवीन्द्रनाथने 'सब-पाया-है-का देश' कहा है। जहाँ दूरका राही एक रातके लिए आकर देख ही नहीं पाता कि इस 'सब-पा-लिया है-के देश' में क्या है।

एक रजनीर तरे हेथा, दूरेर पांथ एसे,
देखते ना पाय, कि आछे, इस सब पेयेछिर देशे ! (खेया)

कबीरने बताया है कि उस परिपूर्ण देशमें शब्द-मिलावा हो रहा है,—केवल भाव-रूपमें मिलन हो रहा है, देह रूपमें नहीं—'शब्द-मिलावा होय रहा, देह मिलावा नाहिं।' क्योंकि जड़ ससीम देह उस अनन्त भाव-लोकको बर्दाश्त नहीं कर सकती। प्रश्न है कि वहाँ जाकर क्या भक्त उस अनन्त ज्योति और अनन्त प्रेममें लोप हो जाता है ? क्या वह भी चिन्मय ब्रह्ममें विलय हो जाता है ! कबीरदास ऐसे अद्वैत-भावमें विश्वास नहीं करते। मिलन होगा यह ठीक है, पर भक्तजन वहाँ फिर भी साक्षीरूपसे वर्तमान रहेंगे। वे दो नहीं होकर रहेंगे, भगवान्से एकमेक होकर मिल जायँगे; परन्तु उस मिलनके आनन्दको अनुभव करते रहेंगे। यह कैसे सम्भव है ? क्या एकमेक और पृथक् सत्ता दोनों सम्भव हैं ? लौकिक दृष्टिसे जो बातें असम्भव दिखती हैं ऐसी बहुतेरी बातें भगवान्के विषयमें सम्भव हैं। फिर इसी 'द्वैताद्वैत-विलक्षण' भावको हम कैसे असम्भव मानें ? कबीर साक्षी हैं कि गगनमें गहरे गंभीर मेघ गर्जते रहते हैं, अमृतकी झड़ी लगी होती है और सन्तजन सिहर-सिहर कर इस आनन्द-रसकी वर्षामें भींजते रहते हैं, उस अनन्तकी ज्योति छलकती रहती होती है और परम प्रेमके आनन्द-निकेतनमें गुरुकी कृपावाले सन्तजन पहुँच जाते हैं (अवश्य ही, निगुरोंकी गति वहाँ नहीं है)—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गंभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥
गगन मंडलके बीचमें, तहवाँ छलकै नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुन्चैंगे गुरु पूर॥

(स० क० सा०, पृ० ६२)

गगन गरजि अंमृत चवै, कदली-कँवल-प्रकास।
तहाँ कबीरा बन्दगी, कै कोई निज दास॥
(क० ग्रं० पृ० १५)

कबीरदासका यह असीम प्रियतमका प्रेम साधनाके साहित्यमें अपूर्व है। हदके जीवका बेहद के प्रियसे मिलनमें एक ऐसा अलौकिक रस है जो अनुभव-द्वारा ही जाना जा सकता है। असीमकी सीमाके लिए व्याकुलताका प्रमाण यह सारा विश्व है। अगर असीम अपने आपमें ही सन्तुष्ट होता तो यह सीमाका सर्जन निरर्थक है। भक्त कबीरने इस इतने बड़े विश्व-व्यापारको निरर्थक नहीं समझा। उन्होंने उसे इस असीम प्रियतमकी लीलाका उन्मेषयिता माना है। सीमा मानों उस असीमकी ओर उठी हुई उँगली है। वह असीमका पथ बताती है, पर स्वयं उसीको असीम नहीं माना जा सकता। इसीलिए प्रेम तो असीमका ही ठीक है, सीमाके प्रति आसक्त जीव उस पीवको नहीं पा सकता—

बेहद अगाधी पीव है, ये सब हदके जीव।
जे नर राते हद्‌सों, ते कदी न पावें पीव॥
हममें पीव न पाइये, बेहदमें भरपूर।
हद बेहदकी गम लखै, तासों पीव हजूर॥
(स० क० सा०, पृ० २६२)

कबीरदासने इसीलिए सीमाको छोड़कर असीमका प्रेम किया था। उस असीमरूपी अनन्त अवकाशवान मैदानमें वे पैर फैलाकर सो रहे थे—

हद्द छांड़ि बेहद गया, रहा निरन्तर होय।
बेहदके मैदानमें, रहा कबीरा सोय॥
(स० क० सा०, पृ० २६३)

पैर फैलाकर सोने लायक अवकाश सीमाओं और बन्धनोंसे भरी दुनियामें और कहाँ मिल सकता है! कविवर रवीन्द्रनाथ अपनी 'सब-पा-लिया-है-के देश' वाली कविता में भी उल्लसित भावसे कहते हैं, "अहा, इस 'सब-पा-लिया-है-के देश' के रास्तेमें ठेलम-ठेल और धक्का-मुक्की नही है और बाजारमें यहाँ शोर-गुल नहीं है। अरे ओ कवि, यहीं तू अपनी कुटी बना ले। रास्तेकी धूल यहीं झाड़ दे, बोझा उतार दे, अपने सितारके तार ठीक कर ले और अपनी सारी खोज यहीं बन्द कर दे (क्योंकि तू अब अपने गन्तव्यपर पहुँच चुका है)।

आज साँझको यहीं पैर फैलाकर बैठ जा;—यहीं इस तारा-भरे आकाशके नीचे 'सब-पा-लिया-है-के देशमें' ।"

नाइक पथे ठेलाठेलि, नाइक हाटे गोल,
ओरे कवि एइ खाने तोर, कुटीरखानि तोल ।
धुये फेल रे पथेर धुलो, नामिये दे रे बोझा,
बेंधे ने तोर सेतार खाना, रेखे दे तोर खोजा ।
पा छड़िये बस् रे हेथाय, सारा दिनेर शेषे,
तारार भरा आकाशतले, सब पेयेछिर देशे ॥ (खेया)

आखिर इस देशमें इतनी निश्चिन्तता क्यों है ? कोई इस बेहद्दी मैदानमें सो रहता है और कोई पैर फैलाकर बैठ रहता आर सितारके तार सँभालने लगता है, ऐसा क्यों ? यहाँ क्या मिलता है, क्या दीखता है कि इतने निश्चिन्त मनसे सन्त और कवि जम जाते हैं ? क्योंकि—

हरि-संगति सीतल भया, मिटी मोहकी ताप ।
निसि-बासर सुख-निधि लह्या, जब अन्तरि प्रगट्या आप ॥
तन पाया तन बीसरा, जब मन धरिया ध्यान ।
तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान ॥ (क० ग्रं०, पृ० १५)

इस असीम-अनन्त शून्यमें स्नान करते ही सारी व्यथा शान्त हो गई । सारे कथन, सारा विज्ञापन यहाँ उपशमित हो गया । जिसे खोजा जा रहा था वह जब स्वयं आ गया, तो ताप कैसा, चांचल्य कैसा ?

थिति पाई मन थिर भया, सतगुरु करी सहाइ ।
अनिन कथा तिन आचरी, हिरदै त्रिभुवनराइ ॥
सचु पाया सुख ऊपना, अरु दिल-दरिया पूरि ।
सकल पाप सहजै गये, जब साईं मिल्या हजूरि ॥ (क० ग्रं०, पृ० १४)

जब एक बार इसका चस्का लग गया, जब यह परम प्राप्तव्य रत्न प्राप्त हो गया तब ढिंढोरा पीटनेकी क्या बात रही ? ढूँढ़ने-खोजनेको रह क्या गया ?

जिन पाया सू गहि रह्या, रसनां लागा स्वाद ।
रतन निराला पाइया, जगत ढंढोल्या बादि ॥

अब कुछ कहना बाकी नहीं रहा, इस प्रेम-नदके प्रवाहमें सारा द्वैतभाव बह

गया, साखी भी आज बेकार है, शब्द भी निष्प्रयोजन हैं। जब उस बिछुड़ हुए परम तत्त्वसे मिलन हो गया तो इन प्रपंचोंसे क्या लाभ ? यह देखा, वह देखा; यह चलमान है, वह स्थिर है; यह यह है, वह वह है; ये सारी बातें अब निरर्थक हैं। परम प्रियका जबतक मिलन नहीं हुआ था—उसका रस जबतक ज्ञात नहीं था, तभी इनकी कीमत थी। अब इस अखण्ड आनन्दरसके सामने और सब-कुछ फीका है—

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहना नाहिं।
एक रही दूजी गई, बैठा दरिया माँहिं ॥

साखी-शब्दी जब कही, मौन रहे मन माँहिं।
बिछुरा था कब ब्रह्मसों, कहिबेकों कछु नाहिं ॥

साखी-शब्दी जब कही, तब कछु जाना नाहिं।
बिछुरा था तब ही मिला, अब कछु कहना नाहिं ॥

या देखा वा देखिया, या देखा वा थीर।
यह-वह दोउ एकै भया, जब सतगुरु मिले कबीर ॥

(स० क० सा०, पृ० ६८)

यह है कबीरकी असीम-सत्ताकी प्रीति। किन्तु कबीर परम सावधानीके साथ पाठकको शब्दोंकी संकीर्ण अर्थवत्ताकी याद दिला देते हैं। 'बेहद' शब्दमें साधारणतः यह भाव है कि जो हद न हो या जो हदके विरुद्ध हो। यह बात आंशिक रूप में ही सत्य है। वस्तुतः सीमा असीमसे बाहर भी नहीं, उसकी विरोधी भी नहीं है; उसका अभाव तो एकदम नहीं। इसलिए बेहद्दीकी प्रीति बताते समय कबीरदास सावधान कर देते हैं। इसे सीमाका विरोधी समझना गलत है, सीमाके विरुद्ध मानना भी गलत है। बेहद वह है जो सीमा और सीमाभाव दोनोंके परे है, जो हद और गैर-हद दोनोंके ऊपर है। इस हद-बेहदसे अतीत वस्तुको ही भाषाकी सीमित शक्तिके कारण कबीरदास 'बेहद' कहते हैं। हद या सीमामें मनुष्य बसते हैं, बेहद या सीमाभावमें साधु बसते हैं, पर असल सन्त वह है जो इन दोनोंको छोड़ गया है, जो सीमातीत असीमका प्रेमी है—

हदमें रहै सो मानवी, बेहद रहै सो साधु।
हद-बेहद दोनों तजैं, तिनका मता अगाधु।

हद बेहद दोनों तजी, अवरन किया मिलान।
कहै कबीर ता दासपर, वारौं सकल जहान ॥

उपसंहार

कबीर धर्मगुरु थे। इसलिए उनकी वाणियोंका आध्यात्मिक रस ही आस्वाद्य होना चाहिये, परन्तु, विद्वानोंने नाना रूपमें उन वाणियोंका अध्ययन और उपयोग किया है। काव्य-रूपमें उसे आस्वादन करनेकी तो प्रथा ही चल पड़ी है। समाज-सुधारकके रूपमें, सर्व-धर्म-समन्वयकारीके रूपमे, हिन्दू-मुसलिम-ऐक्य-विधायकके रूपमें, विशेष सम्प्रदायके प्रतिष्ठाताके रूपमें और वेदान्त-व्याख्याता दार्शनिकके रूपमें भी उनकी चर्चा कम नहीं हुई है। यों तो 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता, विविध भाँति गावहिं श्रुति-सन्ता' के अनुसार कबीर-कथित हरि कथाका विविध रूपमें उपयोग होना स्वाभाविक ही है, पर कभी-कभी उत्साहपरायण विद्वान् गलतीसे कबीरको इन्हीं रूपोंमेंसे किसी एकका प्रतिनिधि समझकर ऐसी-ऐसी बातें करने लगते हैं जो असंगत कही जा सकती हैं।

भाषापर कबीरका जबरदस्त अधिकार था। वे वाणीके डिक्टेटर थे। जिस बातको उन्होंने जिस रूपमें प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूपमें भाषासे कहलवा लिया है,—बन गया है तो सीधे-सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीरके सामने लाचार-सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़की किसी फरमाइशको नाहीं कर सके। और अकह-कहानीको रूप देकर मनोग्राही बना देनेकी तो जैसी ताकत कबीरकी भाषामें है वैसी बहुत कम लेखकोंमें पाई जाती है। असीम-अनन्त ब्रह्मानन्दमें आत्माका साक्षीभूत होकर मिलना कुछ वाणीके अगोचर, पकड़में न आ सकनेवाली ही बात है। पर 'बेहद्दी मैदानमें रहा कबीरा' में न केवल उस गम्भीर निगूढ़ तत्त्वको मूर्तिमान कर दिया गया है बल्कि अपनी फक्कड़ाना प्रकृतिकी मुहर भी मार दी गई है। वाणीके ऐसे बादशाहको साहित्य-रसिक काव्यानन्दका आस्वाद करानेवाला समझें तो उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। फिर व्यंग्य करनेमें और चुटकी लेनेमें भी कबीर अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं जानते। पंडित और काजी, अवधू और जोगिया, मुल्ला और मौलवी,—सभी उनके व्यंग्यसे तिलमिला जाते हैं। अत्यन्त सीधी भाषामें वे ऐसी गहरी चोट करते हैं कि चोट खानेवाला केवल धूल झाड़के चल देनेके सिवा और कोई रास्ता ही

नहीं पाता। इस प्रकार यद्यपि कबीरने कहीं काव्य लिखनेकी प्रतिज्ञा नहीं की तथापि उनकी आध्यात्मिक रसकी गगरी से छलके हुए रससे काव्यकी कटोरीमें भी कम रस इकट्ठा नहीं हुआ है।

हिन्दी-साहित्यके हजार वर्षोंके इतिहासमें कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमामें यह व्यक्तित्व केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है, तुलसीदास। परन्तु तुलसीदास और कबीरके व्यक्तित्वमें बड़ा अन्तर था। यद्यपि दोनों ही भक्त थे, परन्तु दोनों स्वभाव, संस्कार और दृष्टिकोणमें एकदम भिन्न थे। मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब-कुछको झाड़-फटकार चल देनेवाले तेजने कबीरको हिन्दी साहित्यका अद्वितीय व्यक्ति बना दिया है। उनकी वाणियोंमें सब-कुछको छाकर उनका सर्वजयी व्यक्तित्व विराजता रहता है। उसीने कबीरकी वाणियोंमें अनन्य-साधारण जीवन-रस भर दिया है। कबीरकी वाणीका अनुकरण नहीं हो सकता। अनुकरण करनेकी सभी चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं। इसी व्यक्तित्वके कारण कबीरकी उक्तियाँ श्रोताको बलपूर्वक आकृष्ट करती हैं। इसी व्यक्तित्वके आकर्षणको सहृदय समालोचक सँभाल नहीं पाता और रीझकर कबीरको 'कवि' कहनेमें सन्तोष पाता है। ऐसे आकर्षक वक्ताको 'कवि' न कहा जाय तो और कहा क्या जाय? परन्तु यह भूल नहीं जाना चाहिए कि यह कविरूप घलुएमें मिली हुई वस्तु है। कबीरने कविता लिखनेकी प्रतिज्ञा करके अपनी बातें नहीं कही थीं। उनकी छन्दोयोजना, उक्तिवैचित्र्य और अलंकार-विधान पूर्ण-रूपसे स्वाभाविक और अयत्नसाधित हैं। काव्यगत रूढ़ियोंके न तो वे जानकार थे और न कायल। अपने अनन्य-साधारण व्यक्तित्वके कारण ही वे सहृदयको आकृष्ट करते हैं। उनमें एक और बड़ा भारी गुण है जो उन्हें अन्यान्य सन्तोंसे विशेष बना देता है। यद्यपि कबीरदास एक ऐसे विराट् और आनन्दमय लोककी बात करते हैं जो साधारण मनुष्योंकी पहुँचके बहुत ऊपर है और वे अपनेको उस देशका निवासी बताते हैं जहाँ बारह महीने वसन्त रहता है, निरन्तर अमृतकी झड़ी लगी रहती है (दे० ऊपर, पृ० २११) फिर भी, जैसा कि एवेलिन अण्डरहिलने कहा है, वे उस आत्मविस्मृतिकारी परम उल्लासमय साक्षात्कारके समय भी दैनन्दिन-व्यवहारकी दुनियाको छोड़ नहीं जाते और साधारण-मानव-जीवनको भुला नहीं देते। उनके पैर मजबूतीके साथ धरतीपर जमे रहते हैं; उनके महिमा-समन्वित और आवेगमय विचार, बराबर धीर और

सजीव बुद्धि तथा सहजभाव द्वारा नियंत्रित होते रहते हैं, जो सच्चे मरमी कवियोंमें ही मिलते हैं। उनकी सर्वाधिक लक्ष्य होनेवाली विशेषताएँ हैं—(१) सादगी और सहजभावपर निरन्तर जोर देते रहना, (२) बाह्य धर्माचारोंकी निर्मम आलोचना और (३) सब प्रकारके विरागभाव और हेतुप्रकृतिगत अनुसंधित्साके द्वारा सहज ही गलत दिखानेवाली बातोंको दुर्बोध्य और महान् बना देनेकी चेष्टाके प्रति वैर-भाव (इसके लिए कबीरवाणीके ७५, ७८, ८० और ९० नम्बरके पद देखिए)। इसीलिए वे साधारण मनुष्यके लिए दुर्बोध्य नहीं हो जाते और अपने असाधारण भावोंको ग्राह्य बनानेमें सदा सफल दिखाई देते हैं। कबीरदासके इस गुणने सैकड़ों वर्षसे उन्हें साधारण जनताका नेता और साथी बना दिया है। वे केवल श्रद्धा और भक्तिके पात्र ही नहीं, प्रेम और विश्वासके आस्पद भी बन गये हैं। सच पूछा जाय तो जनता कबीरदासपर श्रद्धा करनेकी अपेक्षा प्रेम अधिक करती है। इसीलिए उनके सन्तरूपके साथ ही उनका कविरूप बराबर चलता रहता है। वे केवल नेता और गुरु नहीं हैं, साथी और मित्र भी हैं।

कबीरने ऐसी बहुत-सी बातें कहीं हैं जिनसे (अगर उपयोग किया जाय तो) समाज-सुधारमें सहायता मिल सकती है, पर इसलिए उनको समाज-सुधारक समझना गलती है। वस्तुतः वे व्यक्तिगत साधनाके प्रचारक थे। समष्टि-वृत्ति उनके चित्तका स्वाभाविक धर्म नहीं था। वे व्यष्टिवादी थे। सर्व-धर्म-समन्वयके लिए जिस मजबूत आधारकी जरूरत होती है वह वस्तु कबीरके पदोंमें सर्वत्र पाई जाती है, वह बात है भगवान्के प्रति अहैतुक प्रेम और मनुष्यमात्रको उसके निर्विशिष्ट रूपमें समान समझना। परन्तु, आजकल सर्वधर्मसमन्वयसे जिस प्रकारका भाव लिया जाता है वह कबीरमें एकदम नहीं था। सभी धर्मोंके बाह्य आचारों और आन्तर संस्कारोंमें कुछ-न-कुछ विशेष देखना और सब आचारों, संस्कारोंके प्रति सम्मानकी दृष्टि उत्पन्न करना ही यह भाव है। कबीर इसके कठोर विरोधी थे। उन्हें अर्थ-हीन आचार पसन्द नहीं थे, चाहे वे बड़ेसे बड़े आचार्य या पैगम्बरके ही प्रवर्तित हों या उच्चसे उच्च समझी जानेवाली धर्म-पुस्तकसे उपदिष्ट हों। बाह्याचारकी निरर्थक पूजा और संस्कारोंकी विचारहीन गुलामी कबीरको पसन्द नहीं थी। वे इनसे मुक्त मनुष्यताको ही प्रेमभक्तिका पात्र मानते थे। धर्मगत विशेषताओंके प्रति सहन-शीलता और संभ्रमका भाव भी उनके पदोंमें

नहीं मिलता। परन्तु वे मनुष्यमात्रको समान मर्यादाका अधिकारी मानते थे; जातिगत, कुलगत, आचारगत श्रेष्ठताका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं था। सम्प्रदाय-प्रतिष्ठाके भी वे विरोधी जान पड़ते हैं। परन्तु फिर भी विरोधाभास यह है कि उन्हें हजारोंकी संख्यामें लोग सम्प्रदायविशेषके प्रवर्तक माननेमें ही गौरव अनुभव करते हैं!

जो लोग हिन्दू-मुसलिम एकताके व्रतमें दीक्षित हैं वे भी कबीरदासको अपना मार्गदर्शक मानते हैं। यह उचित भी है। राम-रहीम और केशव करीमकी जो एकता स्वयं-सिद्ध है उसे भी सम्प्रदाय बुद्धिसे विकृत मस्तिष्कवाले लोग नहीं समझ पाते। कबीरदाससे अधिक जोरदार शब्दोंमें इस एकताका प्रतिपादन किसीने नहीं किया। पर जो लोग उत्साहाधिक्यवश कबीरको केवल हिन्दू-मुसलिम एकताका पैगम्बर मान लेते हैं वे उनके मूल स्वरूपको भूलकर उसके एक-देशमात्रकी बात करने लगते हैं। ऐसे लोग यदि यह देखकर क्षुब्ध हों कि कबीरदासने 'दोनों धर्मोंकी ऊँची संस्कृति या दोनों धर्मोंके उच्चतर भावोंमें सामंजस्य स्थापित करनेकी कहीं भी कोशिश नहीं की, और सिर्फ यही नहीं, बल्कि उन सभी धर्मगत विशेषताओंकी खिल्ली ही उड़ाई है जिसे मजहबी नेता बहुत श्रेष्ठ धर्माचार कहकर व्याख्या करते हैं,' तो कुछ आश्चर्य करनेकी बात नहीं है, क्योंकि कबीरदास इस बिन्दुपरसे धार्मिक द्वन्द्वोंको देखते ही न थे। उन्होंने रोगका ठीक निदान किया था या नहीं, इसमें दो मत हो सकते हैं, पर औषध-निर्वाचनमें और अपथ्य-वर्जनके निर्देशमें उन्होंने बिलकुल गलती नहीं की। यह औषध है भगवद्विश्वास। दोनों धर्म समान-रूपसे भगवान्में विश्वास करते हैं और यदि सचमुच ही आदमी धार्मिक है तो इस अमोघ औषधका प्रभाव उसपर पड़ेगा ही। अपथ्य हैं बाह्य आचारोंको धर्म समझना, व्यर्थ कुलाभिमान, अकारण ऊँच-नीचका भाव। कबीरदासकी इन दोनों व्यवस्थाओंमें गलती नहीं है और अगर किसी दिन हिन्दुओं और मुसलमानोंमें एकता हुई तो इसी रास्ते हो सकती है। इसमें केवल बाह्याचारवर्जनकी नकारात्मक प्रक्रिया नहीं है, भगद्विश्वासका अविश्लेष्य सीमेंट भी काम करेगा। इसी अर्थमें कबीरदास हिन्दू और मुसलमानोंके ऐक्य-विधायक थे। परन्तु जैसा कि आरम्भमें ही कहा गया है, कबीरदासको केवल इन्हीं रूपोंमें देखना सही देखना नहीं है। वे मूलतः भक्त थे। भगवान्पर उनका अविचल अखण्ड विश्वास था। वे कभी सुधार करनेके फेरमें

नहीं पड़े। शायद वे अनुभव कर चुके थे कि जो स्वयं सुधरना नहीं चाहता उसे जबरदस्ती सुधारनेका व्रत व्यर्थका प्रयास है। वे अपने उपदेश 'साधु' भाईको देते थे या फिर स्वयं अपने आपको ही सम्बोधित करके कह देते थे। यदि उनकी बात कोई सुननेवाले न मिले तो वे निश्चिन्त होकर स्वयंको ही पुकार कर कह उठते: 'अपनी राह तू चले कबीरा!' अपनी राह अर्थात् धर्म, सम्प्रदाय, जाति, कुल और शास्त्रकी रूढ़ियोंसे जो बद्ध नहीं है, जो अपने अनुभवके द्वारा प्रत्यक्षीकृत है।

कबीरदासका यह भक्तरूप ही उनका वास्तविक रूप है। इसी केन्द्रके इर्द-गिर्द उनके अन्य रूप स्वयमेव प्रकाशित हो उठे हैं। मुश्किल यह है कि इस केन्द्रीय वस्तुका प्रकाश भाषाकी पहुँचके बाहर है। भक्ति कहकर नहीं समझाई जा सकती, वह अनुभव करके आस्वादन की जा सकती है। कबीरदासने इस बातको हजार तरहसे कहा है। इस भक्ति या भगवान्के प्रति अहैतुक अनुरागकी बात कहते समय उन्हें ऐसी बहुत-सी बातें कहनी पड़ी हैं जो भक्ति नहीं हैं पर भक्तिके अनुभव करनेमें सहायक हैं। मूल वस्तु चूँकि वाणीके अगोचर है, इसलिए केवल वाणीका अध्ययन करनेवाले विद्यार्थीको अगर भ्रममें पड़ जाना पड़ा हो तो आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। वाणी द्वारा उन्होंने उस निगूढ़ अनुभवैकगम्य तत्त्वकी ओर इशारा किया है, उसे 'ध्वनित' किया है। ऐसा करनेके लिए उन्हें भाषाके द्वारा रूप खड़ा करना पड़ा है और अरूपको रूपके द्वारा अभिव्यक्त करनेकी साधना करनी पड़ी है। काव्यशास्त्रके आचार्य इसे ही कविकी सबसे बड़ी शक्ति बताते हैं। रूपके द्वारा अरूपकी व्यंजना, कथनके जरिए अकथ्यका ध्वनन, काव्य-शक्तिका चरम निदर्शन नहीं तो क्या है? फिर भी वह ध्वनित वस्तु ही प्रधान है; ध्वनित करनेकी शैली और सामग्री नहीं। इस प्रकार काव्यत्व उनके पदोंमें फोकटका माल है,—बाईप्रोडक्ट है; वह कोलतार और सीरेकी भाँति और चीजोंको बनाते-बनाते अपने आप बन गया है।

प्रेम-भक्तिको कबीरदासकी वाणियोंकी केन्द्रीय वस्तु न माननेका ही यह परिणाम हुआ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें घमडी, अटपटी वाणीका बोलनहारा, एकेश्वरवाद और अद्वैतवादके बारीक भेदको न जाननेवाला, अहंकारी, अगुण सगुण विवेक-अनभिज्ञ आदि कहकर अपनेको उनसे अधिक योग्य मानकर सन्तोष पाते रहे हैं। यह मानी हुई बात है कि जो बात लोकमें अहंकार कहलाती है वह भगवत्प्रेमके क्षेत्रमें,—स्वाधीनभर्तृका नायिकाके गर्वकी

भाँति अपने और अपने प्रियके प्रति अखण्ड विश्वासकी परिचायक है; जो बात लोकमें दब्बूपन और कायरता कहलाती है वही भगवत्प्रेमके क्षेत्रमें भगवान्‌के प्रति भक्तका अनन्यपरायण आत्मार्पण होती है और जो बातें लोकमें परस्पर विरुद्ध जँचती हैं भगवान् के विषय में उनका विरोध दूर हो जाता है। लोकमें ऐसे जीवकी कल्पना नहीं की जा सकती जो कर्णहीन होकर भी सब-कुछ सुनता हो, चक्षुरहित बना रहकर भी सब-कुछ देख सकता हो, वाणीहीन होकर भी वक्ता हो सकता हो; जो छोटेसे छोटा भी हो और बड़ेसे बड़ा भी; जो एक भी हो और अनेक भी; जो बाहर भी हो और भीतर भी; जिसे सबका मालिक भी कहा जा सके और सबका सेवक भी; जिसे सबके ऊपर भी कहा जा सके और सर्वमय सेवक भी; जिसमें समस्त गुणोंका आरोप भी किया जा सके और गुण-हीनताका भी; और फिर भी जो न इन्द्रियका विषय हो, न मनका, न बुद्धिका। परन्तु भगवान्‌के लिए सब विशेषण सब देशोंके साधक सर्व-भावसे देते रहे हैं। जो भक्त नहीं है, जो अनुभव द्वारा साक्षात्कार किये हुए सत्यमें विश्वास नहीं रखते, वे केवल तर्कमें उलझकर रह जाते हैं, पर जो भक्त हैं, वे भुजा उठाकर घोषणा करते हैं, 'अगुणहि-सगुणहिं नहिं कछु भेदा।' (तुलसी-दास)। परन्तु तर्कपरायण व्यक्ति इस कथनके अटपटेपनको वदतोव्याघात कह-कर सन्तोष कर लेता है। यदि भक्तिको कबीरदासकी वाणियोंकी केन्द्रीय वस्तु मान लिया जाता तो निस्सन्देह स्वीकार कर लिया जाता कि भक्तके लिए वे सारी बातें बेमतलब हैं जिन्हें कि विद्वान् लोग बारीक भेद कहकर आनन्द पाया करते हैं। भगवान्‌के अनिर्वचनीय स्वरूपको भक्तने जैसा कुछ देखा है वह वाणीके प्रकाशन-क्षेत्रके बाहर है, इसीलिए वाणी नाना प्रकारसे परस्परविरोधी और अविरोधी शब्दों द्वारा उस परम प्रेममयका रूपनिर्देश करनेकी चेष्टा करती है। भक्त उसकी असमर्थतापर नहीं जाता; वह उसकी रूपातीत व्यंजनाको ही देखता है।

भक्ति-तत्त्वकी व्याख्या करते-करते उन्हें उन बाह्याचारके जंजालोंको साफ करनेकी जरूरत महसूस हुई है जो अपनी जड़ प्रकृतिके कारण विशुद्ध चेतन-तत्त्वकी उपलब्धिमें बाधक हैं। यह बात ही समाज-सुधार और साम्प्रदायिक ऐक्यकी विधात्री बन गई है। पर यहाँ भी यह कह रखना ठीक है कि यह भी फोकटका माल या बाईप्रोडक्ट ही है।

जो लोग इन बातोंसे ही कबीरदासकी महिमाका विचार करते हैं वे केवल

सतहपर ही चक्कर काटते हैं। कबीरदास एक जबरदस्त क्रान्तिकारी पुरुष थे। उनके कथनकी ज्योति जो इतने क्षेत्रोंको उद्भासित कर सकी है सो मामूली शक्तिमत्ताको परिचायिका नहीं है। परन्तु यह समझना कि उद्भासित पदार्थ ही ज्योति है, बड़ी भारी गलती है। उद्भासित पदार्थ ज्योतिकी ओर इशारा करते हैं और ज्योति किधर और कहाँ है, इस बातका निर्देश देते हैं। ऊपर-ऊपर, सतहपर चक्कर काटनेवाले समुद्र भले ही पार कर जायँ, पर उसकी गहराईकी थाह नहीं पा सकते। इन पंक्तियोंका लेखक अपनेको सतहका चक्कर काटनेवालोंसे विशेष नहीं समझता। उसका दृढ़ विश्वास है कि कबीरदासके पदोंमें जो महान् प्रकाशपुंज है वह बौद्धिक आलोचनाका विषय नहीं है। वह म्यूजियमकी चीज नहीं है बल्कि जीवित प्राणवान् वस्तु है। कबीरपर पुस्तकें बहुत लिखी गई हैं, और भी लिखी जायँगी, पर ऐसे लोग कम ही हैं जो उस साधनाकी गहराईतक जानेकी चेष्टा करते हों। रामकी वानरी सेना समुद्र जरूर लाँघ गई थी, पर उसकी गहराईका पता तो मंदर पर्वतको ही था जिसका विराट् शरीर आपातालनिमग्न हो गया था—

अब्धिर्लंघित एव वानरभटैः किन्त्वस्य गम्भीरताम्
आपाताल-निमग्न-पीवरतनु र्जानाति मन्द्राचलः।

सो, कबीरदासकी सच्ची महिमा तो कोई गहरेमें गोता लगानेवाला ही समझ सकता है।

फिर भी लेखकने इस पुस्तकमें जो लम्बी व्याख्या प्रकाशित की है उसके लिए उसे पश्चात्ताप नहीं है। कबीरने जिन तत्त्वोंको अपनी रचनासे ध्वनित करना चाहा है उसके लिए कबीरकी भाषासे ज्यादा साफ और जोरदार भाषाकी सम्भावना भी नहीं है और जरूरत भी नहीं है। परन्तु कालक्रमसे वह भाषा आजके शिक्षित व्यक्तिको दुरूह जान पड़ती है। कबीरने शास्त्रीय भाषाका अध्ययन नहीं किया था, पर फिर भी उनकी भाषामें परम्परासे चली आई विशेषताएँ वर्तमान हैं। इसका ऐतिहासिक कारण है। इस ऐतिहासिक कारणको जाने बिना उस भाषाको ठीक-ठीक समझना सम्भव नहीं है। इस पुस्तकमें उसी ऐतिहासिक परम्पराके अध्ययनका प्रयास है। यह प्रयास पूर्ण रूपसे सफल हुआ ही होगा, ऐसा हम दावा नहीं करते; परन्तु वह गर्हणीय नहीं है, इस बातमें लेखकको कोई सन्देह नहीं है।

कबीरदासने स्वयं अरूपको रूप देनेकी चेष्टा की थी। परन्तु वे स्वयं कह गये हैं कि ये सारे प्रयास तभीतक थे जबतक परम-प्रेमके आधार प्रियतमका मिलन नहीं हुआ था। साखी, पद, शब्द और दोहरे उसी प्राप्तिके साधन हैं, मार्ग हैं (दे० पृ० २१५)। गन्तव्यतक पहुँच जानेपर मार्गका हिसाब करना बेकार होता है। फिर इन साखी, शब्द और दोहरोंकी व्याख्याके प्रयासको क्या कहा जाय ? ये तो साधनको समझानेके साधन,—साधनके भी साधन हैं !

प्रसंग-क्रमसे इसमें कबीरदासकी भाषा और शैली समझानेके कार्यसे कभी-कभी आगे बढ़नेका साहस किया गया है। जो वाणीके अगोचर है, उसे वाणीके द्वारा अभिव्यक्त करनेकी चेष्टा की गई है, जो मन और बुद्धिकी पहुँचसे परे है उसे बुद्धिके बलपर समझनेकी कोशिश की गई है, जो देश और कालकी सीमाके परे है उसे दो-चार-दस पृष्ठमें बाँध डालनेकी साहसिकता दिखाई गई है। कहते हैं, समस्त पुराणों और महाभारतीय संहिता लिखनेके बाद व्यासदेवने अत्यन्त अनुतापके साथ कहा था कि हे अखिल विश्वके गुरुदेव, आपका कोई रूप नहीं है फिर भी मैंने ध्यानके द्वारा इन ग्रन्थोंमें रूपकी कल्पना की है, आप अनिर्वचनीय हैं, व्याख्या करके आपके स्वरूपको समझा सकना सम्भव नहीं है फिर भी मैंने स्तुति द्वारा व्याख्या करनेकी कोशिश की है,—वाणी द्वारा प्रकाश करनेका प्रयास किया है। तुम समस्त-भुवन-व्याप्त हो, इस ब्रह्माण्डके प्रत्येक अणु-परमाणुमें तुम भिने हुए हो, तथापि तीर्थ-यात्रादि विधानसे उस व्यापित्वको खंडित किया है। भला जो सर्वत्र परिव्याप्त है उसके लिए तीर्थविशेषमें जानेकी व्यवस्था क्या ? सो हे जगदीश, मेरी बुद्धिगत विकलताके ये तीन अपराध,—अरूपकी रूपकल्पना, अनिर्वचनीयका स्तुतिनिर्वचन, व्यापीका स्थान-विशेषमें निर्देश—तुम क्षमा करो। क्या व्यासजीके महान् आदर्शका पदानुसरण करके इस लेखकको भी यही कहनेकी जरूरत है ?—

> रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत्कल्पितम्,
> स्तुत्या निर्वचनीयताऽखिलगुरोर्दूरीकृतायन्मया।
> व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना,
> क्षन्तव्यं जगदीश, तद् विकलता-दोषत्रयं मत्कृतम्॥

परिशिष्ट—१

परवर्ती कबीरपन्थी सिद्धान्त

इस पुस्तकके अन्तमें कबीर-वाणी नामसे एक संग्रह जोड़ दिया गया है। कई विद्यार्थियों और मित्रोंके अनुरोधसे उसपर टिप्पणियाँ भी लिखी गई हैं जो संगृहीत पदोंको समझनेमें सहायक हो सकती हैं। प्रथम सौ पदोंका महत्त्व रवीन्द्रनाथके अनुवादके कारण है। इनमें कुछ पद परवर्ती जान पड़ते है। इन परवर्ती पदोंको ठीक-ठीक समझनेके लिए परवर्ती कबीरपन्थी सिद्धान्तोंकी जानकारी आवश्यक है। मैंने इस विषयपर अलग पुस्तक लिखी है। यहाँ संक्षेपमें इन सिद्धान्तोंकी चर्चा कर दी जाती है। व्याख्यात्मक्त टिप्पणियोंमें जहाँ आवश्यक होगा वहाँ इस परिशिष्टके अनुच्छेदोंका हवाला दे दिया जायगा।

१. पहले यह जीव जब अपने सत्य-स्वरूपमें था, उसकी सत्य-स्वरूप देह थी, पिण्ड और ब्रह्माण्ड सत्य-स्वरूप और पक्के थे, पाँच पक्के तत्त्व और गुण थे। पाँच पक्के तत्त्वोंके नाम हैं—(१) धर्म, (२) दया, (३) शील, (४) विचार और (५) सत्य। तीन गुण हैं विवेक-वैराग्य, गुरु-भक्ति और साधु भाव। इन्हीं पाँच तत्त्वों और तीन गुणोंकी देह हंसाकी थी। इस जीवका प्रकाश और स्वभाव अद्वितीय था। जब इस जीव (हंसा) ने अपनी सुन्दरताका विचार किया तब उसको बड़ा आनन्द हुआ और उसे अपने देहकी सुधि भूल गई। फिर तो पक्की देह पलटकर कच्ची देह बन गई। तत्त्व और प्रकृति सब बदल गये। धर्मसे आकाश, शीलसे अग्नि, विचारसे जल, दयासे वायु और सत्यसे पृथ्वी हो गई। इस प्रकार पक्के गुणसे कच्चे गुण हो गये। फिर तो पचीस प्रकृति आदि कच्चे आकारका प्रादुर्भाव हुआ।

२. जिस समय यह अपनी देहकी ज्योति, प्रभाव और प्रकाशको देखकर आनन्दमें बेसुध हुआ उस समय उसने आँख उठाकर शून्यमें देखा। यहाँ

उसकी छाया देख पड़ी जो स्त्रीरूप हो गई। इसीसे बादमें चलकर उसका संयोग हुआ। इसीको माया और ब्रह्मका संयोग कहते हैं। इसीसे समस्त प्रकारकी रचना हुई।

३. बादमें इस जीवको अहंकार उत्पन्न हुआ तब वह जानने लगा कि सब मैं ही हूँ। फिर तो स्वाभाविक 'एकोऽहं बहु स्यां' की स्फुरना उटी। इसी ब्रह्म सच्चिदानन्दकी बात सब वेद, शास्त्र, किताब आदि करते हैं, परन्तु स्वसंवेद ही जानता है कि यह ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वयं बन्धनमें है और सर्वदा आवागमनमें बद्ध है। जबसे यह जीव सूक्ष्मसे स्थूल देहमें आया तभीसे भ्रममें पड़ गया और उसी भ्रमकी अवस्थामें वेद, किताब, ग्रन्थ, वाणी आदि बनाया जिसका कुछ वारापार नहीं।

४. जब यह एकसे अनेक होता है तब अज्ञानी हो जाता है और जब अद्वैतकी ओर मुख फेरता है और आत्मज्ञानके हेतु प्रयत्न करता है, तब इसमें पुनः ज्ञानका प्रकाश आ जाता है और संसार लय हो जाता है, क्योंकि जिसकी ओर ध्यान न होगा वह अवश्य ही नाश हो जायेगा, परन्तु अद्वैतमुख होनेके बाद भी जीवमें वासना बनी ही रहती है। जबतक वासनाका बीज नहीं नष्ट हो जाता तबतक मुक्ति कैसे सम्भव है? यही कारण है कि जीव निरन्तर सूक्ष्मसे स्थूल और स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर चढ़ता-उतरता चौरासी लाख योनियोंके भवजालमें भटकता रहता है। जीव अपने उपायों और युक्तियोंसे ज्ञानाग्निको उठाता है तो ज्ञानाग्नि प्रकट होकर कर्मोंको जला देती है। जिस प्रकार लाल अंगार थोड़ी देर-तक चमक दिखा लेनेके बाद ठण्ढा बनकर कोयला हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि भी ठण्डी हो जाती है और ब्रह्मपदको प्राप्त जीव फिर संसारचक्रमें आ फँसता है। वेद-वेदाङ्ग केवल ब्रह्मत्त्व-प्राप्तिका उपाय बताते हैं, पर उन्हें बिलकुल पता नहीं कि ब्रह्मत्त्व जितना बड़ा पद भी क्यों न हो, जीवको स्थायी सुख नहीं दे सकता।

५. पारख गुरुके सिवा इस भ्रमजालसे छुड़ानेवाला दूसरा कोई नहीं है। जब जीव तीर्थ-व्रत, वेद-कुरान, रोजा-नमाज, उपासना-योग आदि करके थक गया और कुछ करते नहीं बना तब उसने नौ कोशों और छः देहोंमें अपना घर बनाया। नौ कोश ये हैं—अन्नमय कोश, शब्दमय कोश, प्राणमय०, आनन्दमय०,

मनोमय०, प्रकाशमय०, ज्ञानमय०, आकाशमय०, विज्ञानमय०। छः देह इस प्रकार हैं—

(१) स्थूल देह—पच्चीस तत्त्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, चार अन्तःकरण और जीव। इसकी अवस्थाका नाम जाग्रत अवस्था है।

(२) सूक्ष्म शरीर सत्रह तत्त्वों अर्थात् पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे बनता है। अवस्था स्वप्न है।

(३) कारण देह तीन तत्त्वों अर्थात् चित्त, अहङ्कार और जीवात्मासे बनता है। अवस्थाका नाम सुषुप्ति है।

(४) महाकारण देह दो तत्त्वों—अहङ्कार और जीवात्मा—का है। अवस्था तुरीया।

(५) कैवल्य देह एक तत्त्व—चित्—जीवात्मा—से बना है। अवस्था तुरीयातीत है।

(६) हंस देह—इसमें कोई तत्त्व नहीं है। जिस प्रकाशमें यह जीव समष्टि-रूप था उसी प्रकाशको उसने अपना स्वरूप माना। सो ऐसा मानना इसका भ्रममात्र है।

६. बड़े-बड़े धर्माचार्य और मुनि पैगम्बर ज्यादासे ज्यादा इन्हीं नौ कोशों और छः देहोंकी बात जानते हैं और निकलनेकी राह नहीं पा रहे हैं। एक-मात्र कबीर साहब इनका भ्रम छुड़ानेका सामर्थ्य रखते हैं। यह स्पष्ट रूपसे समझ लेना चाहिए कि हंस-देह भी भ्रम ही है, यद्यपि हंस-रूप (विशुद्ध चैतन्य) ही जीवका स्वरूप है और उसको प्राप्त होना ही कबीरपन्थी साधकका परम काम्य है। क्योंकि जिस ब्रह्म प्रकाशमें तम अर्थात् अन्धकार भरा हुआ है उसको जो छठा हंसका शरीर मानते हो, और यह भी मानते हो कि हम वही हैं, ऐसा मानकर उसमें निमग्न होनेसे तुम्हारी दशा चार प्रकारकी हुई। बाल, मूक, पिशाच और जड़। बुद्धि ठिकाने न रही, एकदम अचेत हो गए। पूर्ण गुरुके बिना तुमको हंस देह कदापि प्राप्त न होगी। जिसको तुमने हंस देह अनुमान कर रखा है सो तुम्हारी भूल और भ्रम है। हंसका स्वरूप सद्‌गुरुकी

दया बिना कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। कहते हैं, स्वयं कबीरदासने छः देहोंका परिचय बताया है और यथाप्रसंग यह भी कहा है कि हंस-रूपके गुण अकथ हैं।

७. सद्गुरुकी कृपासे जब इस भ्रान्त जीवको पारख गुरुका सन्निधान प्राप्त होता है तब इसका एक-अनेकका भ्रम नष्ट होता है और वह अपने सत्य-स्वरूपको पा जाता है। पारखसे ही इसका मन और बुद्धि स्थिर होती है और आवागमन छूट जाता है। स्वसंवेदके अनुसार वेदने जो 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका उपदेश दिया है उसके तीनों पद तत्—त्वम्—असि धोखा हैं। इन तीनोंके ऊपर पारख पद है। वही सत्य पद है। उसीसे जीवोंकी मुक्ति होती है। जो कोई उस पारख-पदको प्राप्त कर लेता है वही पारखी कहलाता है। वह पारखी सच्चा गुरु हो सकता है। चूँकि वही एकमात्र ऐसा है कि जीवोंके बन्धनको छुड़ा सकता है इसलिए उसे 'बन्दी छोड़' कहते हैं। वह एक अनन्त, बाहर-भीतर, पिण्ड-ब्रह्माण्ड सबके भेद और कसर-खोटको भिन्न-भिन्न करके परखा देता है। पारख पदको प्राप्त हुआ पुरुष फिर कभी पतित नहीं होता।

८. कैवल्य शरीरसे लेकर स्थूल देहतक सभी नाशमान् हैं, निर्मूल हैं, किसीमें अन्धकार है, किसीमे प्रकाश, किसीमें थोड़ा ज्ञान है, किसीमें बहुत, किसीमें थोड़ा सामर्थ्य है किसीमे बहुत, कोई थोड़े दिन जीता है, कोई दीर्घायु होता है। क्या हुआ ? कैसे ही पदको प्राप्त हो परन्तु जबतक इन पाँच देहोंके अहंकारसे न छूटेगा तबतक सुखको प्राप्त न हो सकेगा। ये पाँचों अहङ्कार काल पुरुषके हैं। इन्हीं द्वारा विधि-निषेध, दोनों कर्मके भेद बताये हैं। इसके भेदको हंस कबीरके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं जान सकता।

९. क्षमा, सन्तोष, विचार और सत्संग ये चारों मुक्तिके पौरिये हैं। इन चारोंको जो धारण करेंगे उन्हें सब कुछ प्राप्त होगा। इनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। इन चारोंके बिना किसीकी मुक्तिका मार्ग नहीं मिल सकता।

परिशिष्ट—२

कबीर-वाणी

[१ से १०० तक आचार्य क्षितिमोहन सेनके संग्रहसे उद्धृत और अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिके वे पद्य हैं जिन्होंने महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्तिको आकृष्ट किया, जो उन्हें इस योग्य जँचे कि भारतीय मनीषाके प्रति पाश्चात्य विद्वानोंकी उपेक्षा और अवज्ञाको दूर कर सकेंगे और इसलिए जिनका अंग्रेजी अनुवाद उन्होंने स्वयं किया। यूरोपीय भाषाओंमें इनके अनुवादोंसे कितने ही चोटीके समीक्षक भारतीय साधना और साहित्यके विषयमें अपना मत बदलनेको बाध्य हुए।

हिन्दीके पाठकोंको इन कविताओंके पढ़ते समय दो बातें ध्यानमें रखनी चाहिए; (१) ये कवितायें मुख्यतः पश्चिमी विद्वानोंको दृष्टिमें रखकर संगृहीत हुई थीं और (२) इनके संग्रहकर्ता आचार्य सेनने छपी पोथियोंकी अपेक्षा साधुओंके मुँहसे सुनी हुई वाणियोंको अधिक ठीक माना था। प्रत्येक पदके अन्तमें दी हुई दो संख्यायें आचार्य सेनके संग्रहकी जिल्द और पृष्ठका निर्देश करती हैं।

१०१ से २५६ तकके पद पिछले अध्यायोंमें प्रतिपादित सिद्धांतोंका और भी अधिक समर्थन करनेकी दृष्टिसे संगृहीत हुए हैं। जिस क्रमसे सिद्धान्तोंका प्रतिपादन है, उसी क्रमसे संग्रह भी।]

१

मोकों कहाँ ढूढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पासमें।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलासमें।
ना तो कौन क्रिया-कर्ममें, नहीं योग बैरागमें।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भरकी तालासमें।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसोंकी स्वाँसमें॥ (१-१३)

१ इस पदका भावार्थ यह है कि भगवान् देवल (मन्दिर), मस्जिद या तीर्थस्थानोंमें नहीं मिलते; बाहरी क्रिया-कर्मसे या योग-वैराग्यसे भी नहीं मिलते। वे मनुष्यके अन्तरमें ही वर्तमान हैं। वहीं उन्हें सहज ही पाया जा सकता है।

विशेष—प्रथम और दूसरी पंक्तिके बीचमें छपी हुई पुस्तकोंमें इतना अधिक है—

ना मैं छगरी ना मैं भेंड़ी ना मैं छुरी गँड़ासमें।
नहीं खालमें नहीं पूँछमें ना हड्डी ना माँसमें।

फिर अन्तिम पंक्तिके पहले यह पंक्ति है।

मैं तो रहौं सहरके बाहर मेरी पुरी मवासमें।

(दे० शब्दा०, पृ० १११-२)

अधिक पाई जानेवाली पंक्तियोंमें भी यही भाव है। बलि देनेके या कुर्बानीके जितने उपकरण हैं उनमें भी भगवान् नहीं हैं।

मवासका अर्थ 'सरन' बताया जाता है। 'मैं तो रहौं' आदि पंक्तिका मतलब यह है कि भीड़-भाड़में या दुनियावी काम-काजमें नहीं रहता। 'शहर' का तात्पर्य भीड़-भाड़, काम-काज आदिसे है। 'मेरी पुरी मवासमें' का मतलब यह है कि जो सब-कुछ छोड़कर मेरी शरण आ जाता है, मैं उसीको सुलभ होता हूँ। मैं अर्थात् भगवान्।

२

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साध जाति है बरियाँ।
साधनमाँ रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषि सो भँगियाँ।
हिन्दु-तुर्क दुइ दीन बने हैं, कछू नहीं पहचनियाँ। (१-१६)

२ साध = साधु। साधै = साधु ही। पुछनियाँ = पूछना, प्रश्न करना। सुपच ऋषि = श्वपच सुदर्शन। यज्ञसागर, उग्रगीता, कबीर मन्सूर आदि कबीरपंथी ग्रन्थोंमें बताया गया है कि कलियुगके आरम्भमें जब कबीरसाहब इस पृथ्वीपर प्रकट हुए थे तो काशीके सुदर्शन नामक महात्माने उनसे दीक्षा ली थी। वे जातिके भंगी थे। युधिष्ठिरने महाभारतकी लड़ाई जीत लेनेके बाद भ्रातृहत्याके पापसे उद्धार पानेके लिए एक बड़ा यज्ञ किया था। श्रीकृष्णचन्द्रने इस यज्ञमें एक घंटा बाँध दिया था। जब घंटा सात बार बजे तभी पाप छूटेगा, ऐसा संकेत कर दिया था। हजारों ब्राह्मण और साधु भोजन कर चुके, पर घंटा नहीं बजा, तब श्रीकृष्णके कहनेपर भीम काशीके सुदर्शन भंगीको लिवा लाने गये। भीमके अहंभावके कारण सुदर्शनने जाना अस्वीकार कर दिया। तब स्वयं युधिष्ठिर जाकर उन्हें ले आये और भोजन कराया। उनके भोजन करनेपर ही घंटा बजा। प्रयाग क्षेत्रमें श्रीकृष्णके कहनेसे सब लोग गये। वहाँ जलमें सबने अपनी छाया देखी। केवल सुदर्शनकी छाया मनुष्यकी थी, बाकी सबकी कुत्ते आदि निकृष्ट जीवोंकी। भँगियाँ = भंगी। दान = धर्म। पहचनियाँ = भेद, पहचान, विशेषता।

इस पदका भाव यह है कि निर्गुण साधुकी जाति पूछना बेकार है। सभी जातिके लोग साधु हो चुके हैं। आ० क्षितिमोहन सेनने 'साधै' का अर्थ 'साधन करते हैं' ऐसा किया है।

विशेष—छपी पोथियोंमें इस पदके अन्तमें ये तीन पद और हैं—

लाखन जाति जगतमाँ फैली कालको फंद पसरियाँ।

३

साधो भाई, जीवत ही करो आसा ।
जीवत समझे जीवत बूझे, जीवत मुक्तिनिवासा ।
जीवत करमकी फाँस न काटी, मुये मुक्तिकी आसा ।
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा ।
अबहुँ मिला तो तबहुँ मिलेगा, नहिं तो जमपुरबासा ।
सत्त गहे सतगुरुको चीन्हें, सत्त-नाम विस्वासा ।
कहैं कबीर साधन हितकारी, हम साधनके दासा ॥ (१–५७)

सब तत्तनमां सन्त बड़े हैं सब्द रूप जिन देहियाँ ।
कहैं कवीर सुनो भाई साधो सत्तरूप वहि जनियाँ ।

कालको···=कालका फन्दा पसारा हुआ है । तत्तनमां = तत्त्वोंमें । सब्दरूप··· = जिनकी देह शब्दरूप है । सत्त···जनियाँ = उन्हें सत्यपुरुषका रूप ही समझो ।

३ इस पदका भाव यह है कि जीते जी ही सदाचरण और भक्तिके द्वारा भगवान्से मिलनेकी आशा करो । नाना प्रकारके तीर्थ, व्रत और तप करनेके बाद जब मृत्यु होगी तब वैकुण्ठ मिलेगा, यह एक मिथ्या आशा है । तन··· आसा = जो लोग यह कहते हैं कि शरीर छूटनेके बाद जीवका भगवान्से मिलन होगा (या परम पद मिलेगा) वह सब झूठी आशा दिखाते हैं । जो इस समय मिला है वही उस समय (मृत्युके बाद) भी मिलेगा । सत्त···विसवासा = सत्यको ग्रहण करे, सत गुरुकी पहचान और सत्य नामपर विश्वास रखे, तभी मिलनेकी आशा कर सकता है ।

विशेष—छपी पुस्तकोंमें 'अबहुँ मिला सो' इस पंक्तिके बाद ये दो पंक्तियाँ अधिक हैं—

दूर दूर ढूँढ़ै मम लोभी मिटै न गर्भ-तरासा ।
साध संतकी करै न बंदगी कटै करमकी फांसा ।

गर्भतरासा = गर्भत्रास, बार-बार जन्म-मरणके चक्करमें पड़ते रहनेका डर ।

४

बागों ना जा रे ना जा, तेरी कायामें गुलजार।
सहस-कँवलपर बैठके तू देखे रूप अपार ॥ (१-५८)

---

४ इसका भाव भी पद १ से मिलता-जुलता है। बगीचेका सौन्दर्य देखनेके लिए किसी बाहरी उपवनमें जानेकी जरूरत नहीं है, शरीरमें ही फूल खिले हुए हैं। शरीरके भीतर जो सहस्रदलका कमल है (सहस्रार चक्र) उसीपर बैठकर अर्थात् पूर्ण समाधिके द्वारा अपार रूपको देख। छपी पोथियोंमें यह पद इस प्रकार है—

बागों ना जा रे ना जा, तेरे कायामें गुलजार।
करनी-क्यारी बोइ कर तू रहनी करु रखवार।
दुर्मति काग उड़ाइ के देखै अजब बहार ॥
मन माली परबोधिए करि संजमकी बार।
दया पौद सूखे नहीं छिमा सींच जल ढार ॥
गुल और चमनके बीचमें फूला अजब गुलाब।
मुक्ति कली सतमालकी पहिरु गूंथि-गलहार ॥
अष्ट कमलसे ऊपजे लीला अगम अपार।
कहैं कबीर चित चेतकै आवागमन निवार ॥

इस पदमें बागका रूपक पूरा-पूरा (सांग) है। इस बगीचेमें करनी क्यारी है, रहनी (=रहनेका भाव, आचरण) रखवाला है, दुर्मति (कुमति) बगीचेको दूषित करनेवाला काग है। मन माली है, संयम बेड़ा है, दया पौधा है, क्षमा सींचनेका जल है। गुल और चमनके बीचमें जो गुलाब है वह क्या है, यह बात साम्प्रदायिक व्याख्याओंमें देखनेको नहीं मिली। चमन (बाग) तो स्पष्ट ही शरीर है, गुल संभवतः सहस्रार है और इन दोनोंके बीच खिला हुआ अद्भुत गुलाब सम्भवतः समाधि या लय है। मुक्ति कली है, जिससे सत्य नामकी माला गूँथी जा सकती है। अष्टकमल = आठ कमल। कबीरपंथी पुस्तकोंमें कभी-कभी नौ कमलाकार चक्रोंकी बात आती है। अन्तिम या नवें कमलपर जब योगी पहुँचता है तो उसके संकल्प-विकल्पका लय हो जाता है, परन्तु बाकी आठ कमलोंमें वह अनेक लीलाएँ देख सकता है।

५

अवधू, माया तजी न जाई।
गिरह तजके बस्तर बाँधा, बस्तर तजके फेरी॥
काम तजेतें क्रोध न जाई, क्रोध तजेतें लोभा।
लोभ तजे अहँकार न जाई, मान-बड़ाई-सोभा॥
मन बैरागी माया त्यागी, शब्दमें सुरत समाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह गम बिरले पाई॥ (१–६३)

५ हे अवधूत, माया छोड़ना कठिन है। गृह छोड़ा तो वस्त्र (भेष) धारण किया और अब वस्त्र छोड़ा तो फेरी देने लगे—भीख माँगने लगे। इस पद्यके 'गिरह' शब्दका अर्थ क्षितिमोहन सेनने 'गाँठ' किया है। छपी पोथियोंमें दूसरी पंक्तिके बाद तीन पंक्तियाँ और हैं। इन पंक्तियोंसे गिरहका अर्थ गृह (गृहस्थी) ही संगत जान पड़ता है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

लड़िका तजिके चेला कीन्हा तहुँ मति माया घेरी।
जैसे बेल बागमें अरुझी मांहि रही अरुझाई।
छोरेसे वह छूटे नाहीं कोटिन करै उपाई॥

भाव यह है कि गृहस्थाश्रममें लड़का छोड़ दिया परन्तु साधु होकर फिर तुमने चेला बनाया और वही माया फिर तुम्हारी बुद्धिको घेरे रही। यह माया उस लताकी भाँति है जो पहले बागमें देहसे उलझी और फिर बीचमें राहभर उलझी ही रही। किसी तरह छूटी नहीं। काम छोड़ा तो क्रोध न छूटा, क्रोध भी छोड़ा तो लोभ गले आ पड़ा...इत्यादि। मन वैरागी...समाई = वस्तुतः सच्चा वैराग्य वह है जहाँ मन वैराग्यवश मायाको छोड़ देता है। (फिर आदमी चाहे गृहस्थाश्रममे रहे या साधु हो जाय, कोई हर्ज नहीं)—जब मन ही माया छोड़ देता है तो सुरति शब्दमें समा जाती है अर्थात् वह स्मृतिशक्ति जिसे आरंभमें भगवान्ने जीवको अपनेमें अनुरक्त होनेके लिए दी थी परन्तु जिसे वह भ्रमवश संसारमें लगाकर भव-जालमें फँस गया था, मनके वैरागी होनेपर संसारसे हटकर शब्दमें लग जाती है और फिर वह क्रमशः भगवान्की ओर उन्मुख होता है। (तुलनीय आदि मंगल—'प्रथम सुरति समरथ किया' इत्यादि)। आ० क्षितिमोहन सेनने इस पंक्तिका अर्थ इस प्रकार किया है—मनने वैराग्य-वश माया तो छोड़ी पर शास्त्र-वाक्यमें उलझा रहा। यह गम = यह रहस्य।

६

चंदा झलकै यहि घटमाहीं। अंधी आँखन सूझै नाहीं॥
यहि घट चंदा यहि घट सूर। यहि घट गाजै अनहद तूर॥
यहि घट बाजै तबल-निसान। बहिरा शब्द सुनै नहि कान॥
जब लग मेरी मेरी करै। तब लग काज एकौ नहिं सरै॥
जब मेरी ममता मर जाय। तब लग प्रभु काज सँवारै आय॥
ज्ञानके कारन करम कमाय। होय ज्ञान तब करम नसाय॥
फल कारन फूलै बनराय। फल लागेपर फूल सुखाय॥
मृगा पास कस्तूरी बास। आप न खोजै खोजै घास॥ (१-८३)

६ सीधा मतलब यह है कि इसी शरीरमें वे सभी ज्योतियाँ और सभी मंगल-वाद्य वर्तमान हैं जो बाह्य जगत्में दिखते हैं। इसीमें वह विश्वव्यापी अनाहत ध्वनि भी सुनाई देती है। परन्तु जिसके भीतरकी आँखें नहीं हैं वह इस ज्योतिको नहीं देख पाता। जबतक ममता बनी रहती है तबतक तो कोई काम नहीं निकलता, पर ममताके नष्ट होते ही भगवान् सहायता करते हैं और बिगड़ा काम बन जाता है। ज्ञान होनेपर कर्मका बन्धन नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार फलके आनेपर फूल सूख जाता है। पर जिस प्रकार फलके लिए ही वृक्ष फूलता है उसी प्रकार ज्ञानके लिए ही साधक कर्म किये जाता है। जिस प्रकार कस्तूरी-मृगके पास कस्तूरी रहती है लेकिन वह अपनेमें तो उसे खोजता नहीं, घासमें खोजता है; उसी प्रकार मनुष्यके भीतर ही परम सत्य वर्तमान है, पर अज्ञानके कारण वह विषयोंके पीछे-पीछे भागता फिरता है। चन्द्र, सूर्य, अनाहदनाद आदि पारिभाषिक भी हैं। इनके अर्थके लिए पृ० ४६ और ८१-८३ देखिए। कबीरदास आदि निर्गुणमार्गी सन्त कहते थे कि जो कुछ ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। घटका अर्थ पिण्ड या शरीर है। छपी पोथियोंमें इस पदमें कुछ संधाभाषाकी उक्तियाँ भी हैं। 'जब मेरी ममता' आदि पंक्तिके बाद ये पंक्तियाँ हैं—

जब लगि सिंघ रहै बनमांहिं। तब लगि वह बन फूलै नाहिं॥
उलट स्यार सिंहको खाय। तब वह बन फूलै हरियाय॥

७

साधो, ब्रह्म अलख लखाया।
जब आप आप दरसाया।
बीज-मद्ध ज्यों बृच्छा दरसै, बृच्छा मद्धे छाया॥
ज्यों नभ-मद्धे सुन्न देखिये, सुन्न अनन्त आकारा।
निःअच्छरते अच्छर तैसे, अच्छर छर बिस्तारा॥
ज्यों रबि-मद्धे किरन देखिये, किरन मद्ध परकासा।
परमातममें जीव ब्रह्म इमि, जीव-मद्ध तिमि स्वाँसा॥
स्वाँसा-मद्धे शब्द देखिये, अर्थ शब्दके माहीं।
ब्रह्मते जीव जीवते मन यों, न्यारा मिला सदा ही॥
आपहि बृच्छ बीज अंकूरा, आप फूल-फल छाया।
आपहि सूर किरन परकासा, आप ब्रह्म जिउ माया॥
अनन्ताकार सुन्न नभ आपै, स्वाँस शब्द अरथाया।
निःअच्छर अच्छर छर आपै, मन जीव ब्रह्म समाया॥
आतममें परमातम दरसै परमातममें झाँई।
झाँईमें परछाई दरसै, लखै कबीरा साँई॥ (१–८५)

प्रसंगसे स्पष्ट है कि यहाँ सिंह ममता और स्यार ज्ञान है। पृ० ८३–८४ से स्पष्ट है कि सिंह आत्माको कहते है, यहाँ लक्षणासे अहंकार और ममत्व अर्थ है। स्यार अन्तःकरणका प्रतीक है। अन्तःकरणमें बुद्धि भी है जो ज्ञानका आश्रय है। इस प्रकार यहाँ भाव यह है कि जबतक इस मनमें अहंकाररूपी सिंह है तबतक वह सूखा रहता है, जब ज्ञानका उदय होता है और अहंकार नष्ट हो जाता है तो मन सफल होता है, अपना अभीष्ट पाता है। फूल और हरियाली जिस प्रकार वनमें ही रहती है उसी प्रकार परम प्राप्तव्य भी मनुष्यके भीतर ही है।

७ सम्भवतः यह पद कबीरदासका रचा हुआ नहीं है। पदका भाव यह है कि ब्रह्म ही इस जगत्का एकमात्र कारण है और आत्मासे अभिन्न है।

८

इस घट अन्तर बाग-बगीचे, इसीमें सिरजनहारा।
इस घट अन्तर सात समुन्दर, इसीमें नौ लख तारा।
इस घट अन्तर पारस मोती, इसीमें परखनहारा।
इस घट अन्तर अनहद गरजै, इसीमें उठत फुहारा।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, इसीमें साईं हमारा ॥ (१-१०१)

बीजका ही परिणत रूप वृक्ष है और वृक्षको छोड़कर छाया नहीं रह सकती; उसी प्रकार ब्रह्मका ही परिणतरूप यह जगत् है और माया उससे अलग कोई सत्ता नहीं रखती। अलख अर्थात् इन्द्रियातीत, जिसे आँख आदिसे देखा न जा सके। सुन्न = शून्य, यहाँ आकाशसे मतलब है। जिस प्रकार समस्त आकाश महाकाशमें ही वर्तमान हैं उसी प्रकार जो कुछ भी अनन्त प्रकारकी वस्तुएँ दिख रही हैं वह ब्रह्मका ही अंग हैं। अच्छर = अक्षर = कूटस्थ जीवात्मा। वेदान्त मतमें अविद्यामें चेतनांका आभास पड़ता है, उस अविद्याच्छन्न चेतनको कूटस्थ कहते हैं। कूटस्थ और जीवमें भेद यह है कि कूटस्थ अविद्यासे अवछिन्न सिर्फ चेतनमात्रको कहते हैं, जब यह चेतनके आभास और बुद्धिसे युक्त होता है तो इसे जीव कहते हैं। सुख-दुःखकी अनुभूति जीवको ही होती है। गीतामें भगवान्ने कहा है कि मैं क्षर और अक्षरसे अतीत हूँ। इसपरसे पण्डित लोग अक्षर कूटस्थको मानते हैं और क्षर नाशमान् जगत्को। यहाँ निःअक्षरसे इसी क्षर और अक्षरसे अतीतका तात्पर्य जान पड़ता है। सूर्यमें जिस प्रकार किरण है और किरणमें प्रकाश है। क्योंकि किरण और प्रकाश अभिन्न हैं उसी प्रकार परमात्मामें जीव है और जीव तथा ब्रह्म अभिन्न हैं। जीवमें प्राण है, प्राणमें शब्द है और शब्दमें अर्थ (पदार्थ) है। इस प्रकार ब्रह्मसे लेकर अर्थ (पदार्थ, विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) सभी न्यारे भी हैं और मिले भी हैं। वृक्ष, अंकुर आदि सब वही है। आतममें··· साईं = आत्मामें हो परमात्मा है, परमात्मामें झाईं (= आभास) है क्योंकि परमात्मा या ईश्वर वस्तुतः मायाच्छन्न चेतनका ही नाम है, आभासमें प्रतिबिम्बरूप समस्त जगत् है। यह कबीर साँईं (= स्वामी = देखनेमें समर्थ) देख रहे हैं। इस पदकी अत्यधिक वैदान्तिकता और कबीरके साथ प्रयुक्त 'साँईं' शब्दसे इसकी प्रामाणिकतामें सन्देह होता है।

८ छठे पदके समान भाव है। जो कछु पिंडे सोइ ब्रह्मंडे ॥

९

ऐसा लो नहिं तैसा लो, मैं केहि बिधि कथौं गँभीरा लो।
भीतर कहूँ तो जगमय लाजै, बाहर कहूँ तो झूठा लो॥
बाहर-भीतर सकल निरन्तर, चित्त-अचित दोउ पीठा लो।
दृष्टि न मुष्टि परगट अगोचर, बातन कहा न जाई लो॥
(१-१०४)

१०

तोहिं मोरि लगन लगाये रे फकिरवा।
सोवत ही मैं अपने मन्दिरमें,
सब्दन मारि जगाये रे फकिरवा।
बूड़त ही भवके सागरमें
बहियाँ पकरि समुझाये रे फकिरवा।
एकै बचन बचन नहिं दूजा
तुम मोसें बंद छुड़ाये रे फकिरवा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो,
प्रानन प्रान लगाये रे फकिरवा। (१-१२१)

---

९ व्याख्याके लिए पृ० १५९ देखिये। छपी पुस्तकोंमें अन्तिम पंक्तिका पाठ है—
बाहर भीतर सकल निरन्तर गुरु परतापैं दीठा लो।
यहाँ 'चित्त अचित्त··'लो' पाठ है जिसका भाव यह है कि चेतन और अचेतन दोनों उसकी दो पीठें हैं। दोनोंको वह व्याप्त करके वर्तमान है। किसी-किसीने पीठका अर्थ पीढ़ा किया है अर्थात् भगवान् चेतन और अचेतन दोनोंके अधिष्ठान हैं। दृष्टि न मुष्टि = जो न देखनेमें आवे न मुट्ठीमें पकड़नेमें आवे। परगट अगोचर = प्रत्यक्ष भी और अप्रत्यक्ष भी।

१० ऐ फकीर, तूने ही मेरी लगन लगा दी। सोवत ही = सोती थी। सब्दन मारि = संगीतकी चोटसे (क्षि० मो० से०)। कई जगह टीकाकारोंने 'सब्द' का अर्थ कबीर साहबकी सार वाणी किया है। बूड़त ही = डूबती थी। तुम मोसें··

११

निस-दिन खेलत रही सखियन सँग,
मोहि बड़ा डर लागे।
मोरे साहबकी ऊँची अटरिया,
चढ़तमें जियरा काँपे॥
जो सुख चहै तो लज्जा त्यागे,
पियासे हिलमिल लागे॥
घूँघट खोल अंग भर भेंटे,
नैन आरती साजे॥
कहैं कबीर सुनो सखि मोरी,
प्रेम होय सो जाने।
निज प्रीतमकी आस नहीं है,
नाहक काजर पारे॥ (१–१३१)

फकीरवा = तुमने मुझे बन्धन मुक्त किया। जो पारख पदको प्राप्त कर लेता है वही पारखी गुरु होता है और उसीको 'बन्दी छोड़' कहते हैं। कबीरदास 'बंदी छोड़' रूपमें सम्प्रदायमें प्रसिद्ध हैं। फकीरसे तात्पर्य गुरुसे है। यदि यह पद कबीरदासका हो तो फकीरका लक्षणार्थ परमात्मा ही हो सकता है।

११ जियरा = जी, हृदय। स्पष्ट है। अन्तिम अंशका अर्थ है कि कबीर कहते हैं कि ऐ सखी, जिसमें प्रेम होता है वही प्रियको जानता है और उसे ही प्यार करता है। बाहरी साज-सिंगारसे क्या होता है। तू व्यर्थ काजल पार रही है (= श्रृंगारका आयोजन कर रही है।) प्रिय-मिलनकी आशा न कर (क्योंकि तेरे भीतर प्रेम नहीं है)। भाव यह है कि बाहरी पूजा-पाठसे भगवान् नहीं मिलते, भीतरका प्रेम चाहिए।

१२

हंसा करो पुरातन बात।
कौन देससे आया हंसा, उतरना कौन घाट।
कहाँ हंसा बिसराम किया है, कहाँ लगाये आस॥
अबहीं हंसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ।
संसय-सोक वहाँ नहिं व्यापै, नहीं कालकै त्रास॥
हिआँ मदन-बन फूल रहे हैं, आवे सोहं बास।
मन भौंरा जिहँ अरुझ रहे हैं, सुखकी ना अभिलास॥ (२-२४)

१३

अनगढ़िया देवा, कौन करै तेरी सेवा।
गढ़े देवको सब कोई पूजै, नित ही लावै सेवा।
पूरन ब्रह्म अखंडित स्वामी, ताको न जानै भेवा।
दस औतार निरंजन कहिए, सो अपना ना होई।
यह तो अपनी करनी भोगैं, कर्ता और हि कोई।
जोगी जती तपी संन्यासी, आप आपमें लड़ियाँ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, राग लखै सो तरियाँ॥ (२-३७)

---

१२ हंसा = विशुद्ध चैतन्य; जीवका वास्तविक सत्य (दे० अनु० १ और ६) पुरातन = पुरानी। 'संसय सोक' ''त्रास' में 'वहाँ' पद सत्य लोकका वाचक है। हिआँ = यहाँ = मर्त्यलोक। मदन बन = कामदेवका वन। सोऽहं = ब्रह्मके साथ जीवकी अभिन्नता जो 'हंसा' का भ्रम है। (दे० अनुच्छेद ५, ६)

१३ अनगढ़िया देवा = जो देवता मूर्तिरूपमें नहीं गढ़ा जा सकता और जिसका आरम्भ नहीं है, रूपातीत अनादि। गढ़े देव = मूर्ति, अवतार; मूर्ति हाथसे और अवतार मनसे गढ़े गये हैं। निरजन = सगुण ब्रह्म, ईश्वर (दे० पृ० १०१)। राग लखै सो तरियाँ—जिसने प्रेमको देखा है वह तर गया; राग = प्रेम। छपी पोथियोंमें रागके स्थानपर राम पाठ है।

१४

दरियावकी लहर दरियाव है जी
दरियाव और लहरमें भिन्न कोयम् ।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है
कहो जो दूसरा किस तरह होयम् ॥
उसीका फेरके नाम लहर धरा
लहरके कहे क्या नीर खोयम् ।
जक्त ही फेर जब जक्त परब्रह्ममें
ज्ञान कर देख माल गोयम् ॥ (२-५६)

१५

जहाँ खेलत बसन्त रितुराज
जहाँ अनहद बाजा बजै बाज ।
चहुँदिसि जोतिकी बहै धार
बिरला जन कोइ उतरै पार ।
कोटि कृष्ण जहँ जोड़ें हाथ
कोटि विष्णु जहँ नावैं माथ
कोटिन ब्रह्मा पढ़ैं पुरान
कोटि महेश धरैं जहँ ध्यान ।

---

१४ समुद्र और समुद्रकी तरंगमें कोई भेद नहीं है, केवल नाम और रूपका भेद है । इसी प्रकार जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है । जक्त = जगत् । अभेदजन्य प्रेमके लिए दे० पृ० १४४ । माल गोयम् = परब्रह्ममें एक जगत्के बाद दूसरा जगत् इस प्रकार चल रहा है जैसे जपमालाके मनके, चलते हैं । छपी पोथीमें 'कबीर गोयम्' पाठ है जिसका अर्थ है 'कबीर कहते हैं ।'

१५ सत्यलोकका वर्णन है । जो कुछ ब्रह्माण्डमें है वह पिंडमें है । हमने पहले ही देखा है कि साधक सहजसमाधिके द्वारा सत्यलोकका भी आनंद अपनेमें अनुभव कर सकता है । इस सत्यलोकमें नित्य वसन्त वर्तमान है, वह परम पुरुष

कोटि सरस्वती जहँ धरै राग
कोटि इन्द्र जहँ गगन लाग।
सुर-गंधर्व-मुनि गनै न जायँ
जहँ साहब प्रगटे आय आय।
चोबा चन्दन और अबीर
पुहुप-वास रस रह्यो गँभीर। (२–५७)

१६

जहँ चेत-अचेत खंभ दोउ मन रच्या है हिंडोर।
तहँ झूलैं जीव जहान, जहँ कतहुँ नहिं थिर ठौर॥
और चन्द-सूर दोऊ झूलै नाहीं पावै अन्त।
चौरासी लच्छहु जिव झूलैं झूलैं रवि-ससि धाय।
कोटिन कल्प जुग बीतिया आने न कबहुँ हाय।
धरनी अकासहु दोऊ झूलें झूलैं पवनहुँ नीर।
धरि देह हरि आपहुँ झूलैं जो लखहीं दास कबीर। (२–५९)

नित्य ही जीवरूप प्रियाके साथ फाग खेल रहे हैं। छपी पोथियोंमें प्रथम पंक्तिका पाठ इस प्रकार है—

जहँ सतगुरु खेलत रितु वसंत। परम जोत जहँ साधु सन्त॥
तीन लोकसे भिन्न राज। जहँ अनहद बाजा-बजै बाज॥

इससे अर्थ अधिक स्पष्ट होता है। यहाँ साधु-सन्त ज्योतिरूपमें हैं क्योंकि सत्यलोकमें हंस देह केवल प्रकाश रूपमें रहती है। जहाँ अनहद बाजा बजता रहता है, प्रकाशकी ऐसी धारा बहती रहती है कि कठिनाईसे कोई इस धाराको पार कर सकता है। कोटि-कोटि कृष्ण, विष्णु, इंद्र, सरस्वती आदि जहाँ हाथ जोड़े रहते हैं, वहाँ अन्य देवताओं, मुनियों और गंधर्वोंकी क्या गिनती हो सकती है! साहब = सत्यपुरुष, भगवान्। चोबा चंदन और पुष्प बास तथा फाग खेलनेकी सामग्री है। फाग खेलना लाक्षणिक प्रयोग है। इसका लक्ष्यार्थ जीव और भगवान्का अनन्त प्रेम और मिलनजन्य आनन्द है। छपी पोथियोंमें दो-तीन पंक्तियाँ और हैं, पर वे महत्त्वकी नहीं हैं।

१६ माया-जालका वर्णन है। जहाँ मन चेतन और अचेतन (जड़ और

१७

(१) ग्रह चंद्र तपन जोत बरत है
सुरत राग निरत तार बाजै ।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्नमें
कहैं कबीर पिउ गगन गाजै ॥

(२) क्षण और पलककी आरती कौनसी
रैन-दिन आरती विस्व गावै ।
घुरत निस्सान तहँ गैबकी झालरा
गैबकी घंटका नाद आवै ।

चेतन) के दो खंभोंपर हिंडोरा लगाकर झूल रहा है। छपी पोथियोंमें 'लोभ मोहके खंभ दोउ' पाठ है जो स्पष्ट है। किन्तु छपे पाठसे यही पाठ उत्तम लगता है। जीव-जहान = जीव और जगत्। स्थिर ठौर = स्थिर स्थान, स्थिरता। तीसरी पंक्तिके स्थानपर छपी पोथियोंमें इस प्रकार पाठ है—

चतुरां झूलैं चतुराइयाँ औ झूलैं राजा सेव ।
औ चंद सूर दोऊ झूलैं नाहीं पावैं भेव ।

इसमें सेव = सेवक, भेव = भेद, रहस्य ।

चौरासी···जिव = चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेवाले जीव। आने न कबहूँ हाय = कोटि-कोटि कल्पसे झूल रहे हैं पर कभी मुँहसे 'हाय' नहीं कहते। धरि देह··· = स्वयं विष्णु भी बार-बार अवतार लेकर इसी चक्करमें पड़े हुए हैं।

१७ इन पदोंमें सुरत (सुरति) और निरत (निरति) शब्द पारिभाषिक हैं। ज्ञानस्थितिबोध और सन्तोषबोध आदि सांप्रदायिक ग्रन्थोंमें इन शब्दोंकी जटिल व्याख्याएँ मिलती हैं। निरति जब सुरतिमें मिलती है और सुरति जब शब्दमें मिलती है तो हंस देहकी प्राप्ति होती है। यह भी कहा गया है कि—

शब्द सुरति और निरति ये कहिबेको हैं तीन ।
निरति लौटि सुरतिहिं मिली, सुरति शब्दमें लीन ॥

हमने अपनी नई पुस्तकमें इनके अर्थोंकी विस्तृत विवेचना की है। साधारणतः 'रति' प्रवृत्तिको कहते हैं। निरति बाहरी प्रवृत्तिकी निवृत्तिको और सुरति

(३) कहैं कबीर तहँ रैन-दिन आरती
जगतके तख्तपर जगत साँईं ॥
कर्म औ भर्म संसार सब करत है
पीवकी परख कोई प्रेमी जानै ॥
सुरत औ' निरत धार मनमें पकड़ कर
गंग और जमनके घाट आनै ॥
नीर निर्मल तहाँ रैन-दिन झरत है
जनम औ' मरन तब अन्त पाई ॥

अन्तर्मुखी वृत्तिको कहते हैं। निरति वस्तुतः अभावात्मक वस्तु है और सुरति भावात्मक। आचार्य क्षितिमोहन सेनने सुरतिका अर्थ प्रेम और निरतिका वैराग्य किया है। जब बाह्यमुखी वृत्ति अन्तर्मुखी वृत्तिमे लीन होती है तो जीवको जीव और ब्रह्मके अभेदका प्रतीति होती है। कबीरपंथी लोग इसको अन्तिम अवस्था नहीं मानते क्योंकि यह भी भ्रम है। जब निरति अभेद प्रतीतिरूपी अहंभावसे मुक्त होकर शब्दमें लीन होती है तभी जीव अपने सच्चे रूपमें स्थित होता है। इ.. जगत्को अन्तःकरण और बाह्यकरणोंके द्वारा ही अनुभव किया जाता है। इसीलिए यह सुरति और निरतिके ताने-बानेसे बना है। निरति निवृत्तिरूपा होनेके कारण स्थूल है और सुरति अन्तर्मुखी होनेके कारण सूक्ष्म। इसीलिए इस पदके आरम्भमें ही सुरतिको राग और निरतिको वीणाका तार कहा गया है।

(१) तपन = सूर्य। बरत है = जलते हैं। नौबतिया··· = शून्यमें नौबत बजती रहती है। पिंड··· = प्रिय ऐसे शून्यमें विराजमान हैं। छपी पोथियोंके पाठसे इन पदोंमें बड़ा अन्तर है (देखिए शब्दा० ९६ और आगे) जहाँ आवश्यक है वहीं पाठान्तरोंकी चर्चा इस टिप्पणीमें कर दी गई है, सर्वत्र नहीं।

(२) क्षण···गावै = क्षणभर या पलभरकी आरती वहाँ नहीं होती, सारा संसार दिन-रात आरती उतारता रहता है। घुरत··· = निशान बजता है। गैब = विचित्र, अद्भुत। झालरा = झालर, झिलमिल ज्योति।

(३) पीवकी परख=प्रियकी पहचान; प्रियसे सर्वत्र भगवान्का तात्पर्य है। सुरत···आनै=अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रवृत्तियोंको मनमें लीन करके इड़ा

(४) देख वोजूदमें अजब बिसराम है
होय मौजूद तो सही पावै।
सुरतकी डोर सुख-सिंधका झूलना
घोरकी सोर तहँ नाद गावै।
नीर-बिन कँवल तहँ देख अति फूलिया
कहैं कबीर मन भँवर छावै।

और पिंगला नाड़ियोंके मार्गमें उन्हें ले आवे अर्थात् समाधिके लिए उद्बुद्ध करे। गंगा = इड़ा। यमुना = पिंगला। वहाँ निर्मल नीर झरता है अर्थात् विशुद्ध ज्ञान-धारा बह रही है। छपी पोथियोंके पाठसे यह भाव अधिक स्पष्ट होता है और पदमें तुक भी मिलती है—

कर्म और भर्म संसार सब करतु है पीवकी परख कोई सन्त जानै।
सुरत और निरत मन पवनको पकरि करि गंग और जमुनके घाट आनै।
पाँचको नाथ करि साथ सोहं लिया अधर दरियावका सुक्ख मानै॥
कहैं कबीर सोई संत निर्भय धरा जन्म औ मर्नका भर्म भानै।

इसमें पाँचको नाथनेसे ज्ञानेन्द्रियोंको वशमें करनेका भाव है। उन्हें भी साथ ले लेनेका निर्देश है। अधर दरियाव = शून्यमें स्थित समुद्र (आनंदका सागर)। भानै = बता सकता है या तोड़ (भंग कर) सकता है।

(४) वोजूद (अरबी वुजूद = सत्ता) अस्तित्व। देख··· = उस परम सत्ता (परमात्मा) में अद्भुत विश्राम मिलता है। मौजूद = परमात्माकी निकटताकी अनुभूति। इस पंक्तिके बाद छपी पोथियोंमें यह पंक्ति है जो अर्थको स्पष्ट करती है—

फेर मन पवनको घेर उलटा चढ़ै
पाँच पच्चीसकों उलटि लावै।

भाव ऊपरके पदके समान ही है अर्थात् मन और पवनको जगत्की ओर जानेसे रोककर उलटा चलावे—समाधिकी ओर ले जाय और पाँच (ज्ञानेंद्रिय) पच्चीस (तत्त्वों) को अन्तर्मुख करे। सुरति अर्थात् अन्तर्मुखी वृत्ति (भगवत्प्रवृत्ति) की डोरीपर सुख-समुद्र (= परम आनंद) का झूला लगावे। नाद (शब्द) वहाँ

(५) चक्रके बीजमें कँवल अति फूलिया तासुका सुक्ख कोइ सन्त जानै।
शब्दकी घोर चहुँ ओर तहँ होत है असीम समुंदरकी सुक्ख मानै।
कहैं कबीर यों डूब सुख-सिंधमें जन्म और मरनका भर्म भानै।

(६) पाँचकी प्यास तहँ देख पूरी भई तीनकी ताप तहँ लगै नाहीं।
कहै कबीर यह अगमका खेल है गैबका चाँदना देख माहीं।
जनम-मरन जहाँ तारी परत है होत आनंद तहँ गगन गाजै।
उठत झनकार तहँ नाद अनहद घुरै तिरलोक-महलके प्रेम बाजै।

(७) चन्द्र-तपन कोटि दीप बरत हैं तूर बाजै तहाँ सन्त झूलै।
प्यार झनकार तहँ नूर बरसत रहै रस पीवै तहँ भक्त झूलै।

मेघकी भाँति गरजता रहता है और बिना पानीके ही उस समाधिमें कमल खिला दिखता है, मन-रूपी भँवर उसपर छा जाता है।

विशेष—'वज्द', 'वुजूद' और 'मौजूद' सूफी साधकोंके पारमार्थिक शब्द हैं। 'वज्द' उल्लासमयी मत्तावस्थाको कहते हैं। सूफी साधनामें यह साधकके आरुरुक्षुभावकी पाँचवीं अवस्थाका नाम है। इस अवस्थामें साधकके चित्तमें उल्लासजन्य मत्तताका भाव आता है। इसके बाद जो अवस्था शुरू होती है उसे 'वुजूद' या स्थितिरूपा सत्ता कहते हैं। इसमें साधकका चित्त निर्द्वन्द्व होकर अपनेमें आप ही स्थिति पा जाता है। इसके बादवाली अवस्थाका नाम 'मौजूद' है जिसमें साधक परमात्माका सान्निध्य अनुभव करता है और अपनेको परमसत्तामें स्थित पाता है।

(५) भाव ऊपरके समान ही है।

(६) पाँचकी प्यास = विषयोंका सुख (ज्ञानेंद्रियोंके पाँच विषय हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), तीनकी ताप = आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःख, दुःखत्रय। जनम…परत है = जन्म और मरणकी वहाँ ताली बजती रहती है। उठत…बाजै = अनाहत ध्वनिकी झनकार अनुभूत होती रहती है। तिरलोक…त्रिलोक धामका प्रेम वहाँ बज उठा है—(क्षि० मो० से०)। छपी पोथियोंमें 'त्रिकुटी-महल' पाठ है।

(७) स्पष्ट है। देखिये ऊपर नं० १ की व्याख्या।

(८) जनम-मरन बीच देख अन्तर नहीं
दच्छ और बाम यूं एक आहीं ।
कहें कबीर या सैन गूंगातई
वेद कत्तेबकी गम्म नहीं ॥
(९) अधर आसन किया अगम प्याला पिया
जोगकी मूल जग जुगुति पाई ।
पंथ बिन जाय चल सहर बेगमपुरे
दया जगदेवकी सहज आई ।
ध्यान धर देखिया नैन-बिन पेखिया
अगम अगाध सब कहत गाई ।
सहर बेगमपुरा गम्मको ना लहै ।
होय बेगम्म जो गम्म पावै ।
गुनाकी गम्म ना अजब विसराम है
सैन जो लखै सोइ सैन गावै ।

---

(८) दच्छ और बाम = जिस प्रकार दाहिना और बायाँ एक ही वस्तुके दो पहलू हैं उसी प्रकार जन्म और मरण भी एक ही सत्ताके दो पहलू हैं । सैन··· नाहीं = गूँगा जिस प्रकार इशारेसे कुछ बता सकता है, कहकर नहीं, उसी प्रकार यह रहस्य वचनसे नहीं समझाया जा सकता । वेद और कत्तेब (कुरान) शब्दमय हैं इसलिए उनकी गम्म (पहुँच) वहाँ तक नहीं है ।

(९) शून्यके आसनपर (समाधिकी अवस्थामें आत्मा शून्य या सहस्रारमें रहता है) बैठकर साधनके अगम (रहस्यातीत) रसका प्याला पिया और वह योगकी इस मूल युक्तिको पा गया है । वह बे-गमपुर शहर अर्थात् जिस शहरमें कोई गम नहीं है, केवल आनन्द ही आनन्द है, उसमें बिना किसी पन्थ (संप्रदाय-विहित उपासनामार्ग) के पहुँच जाता है । क्योंकि उसे जगदेव जगदीश्वरकी दया सहज ही मिल जाती है । यहाँ ध्यानके द्वारा वह बिना आँखोंकी सहायताके ही उस वस्तुको देखता है जिसे अगम और अगाध कहा गया है ।

(१०) मुक्ख बानी तिको स्वाद कैसे कहै
स्वाद पावै सोइ सुक्ख मानै।
कहैं कबीर या सैन गूंगातइ
होय गूंगा जोई सैन जाने।

(११) छक्याँ अवधूत मस्तान माता रहै
ज्ञान-वैराग्य सुधि लिया पूरा।
स्वाँस-उस्वाँसका प्रेम प्याला पिया
गगन गरजै तहाँ बजै तूरा॥

(१२) बिन कर ताँतियाँ नाद गाता रहै
जतन जरना लिया सदा खेलै।
कहैं कबीर प्रान प्रान-सिंधमें मिलावै
परम सुखधाम तहँ प्रान मेलै॥

(१३) आठहू पहर मतवाल लागी रहै
आठहू पहरकी छाक पीवै।
आठहू पहर मस्तान माता रहै
ब्रह्मके देहमें भक्त जीवै।

(१४) साँच ही कहत और साँच ही गहत है
काँचकूँ त्यागकर साँच लागा।

इस बे-गमपुर शहरतक पहुँच पाना कठिन है। वही पहुँच पाता है जो बे-गम हो जाता है, निर्द्वन्द्व हो जाता है।

(१०) मुक्ख = मूर्ख। तिको = उसका। गूँगेका सैनके लिए देखिए ऊपर (८)

(११) बिन··रहै = बिना हाथके और बिना ताँत (तन्त्री=वीणा) के ही वहाँ नाद गाया करता है (राग बजाया करता है)।

(१३) आठहू पहरकी··(व्याख्या और छपे पाठके लिए दे० पृ० १८०)

कहैं कबीर यूँ भक्त निर्भय हुआ
जन्म और मरनका भर्म भागा।

(१५) गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै
होत झनकार नित बजत तूरा।
गगनके भवनमें गैबका चाँदना
उदय और अस्तका नाँव नाहीं।
दिवस और रैन तहँ नेक नहिं पाइये
प्रेम, परकासके सिंधमाहीं ॥

(१६) सदा आनंद दुग-दन्द व्यापै नहीं।
पूरनानंद भरपूर देखा।
भर्म और भ्रांति तहँ नेक नहिं पाइये
कहैं कबीर रस एक पेखा ॥

(१७) खेल ब्रह्माण्डका पिंडमें देखिया
जगतकी भरमना दूर भागी।
बाहरा-भीतरा एक आकासवत
धरियामें अधर भरपूर लागी ॥

(१८) देख दीदार मस्तान मैं होय रह्या
सकल भरपूर है नूर तेरा।
ज्ञानका थाल और प्रेम दीपक अहै
अधर आसन किया अगम डेरा।

---

(१५) और (१६) छपी पोथियोंका पाठ पृ० १५७ पर देखिए।

(१७) ब्रह्माण्डमें जो लीला है वही पिंडमें भी। धरियामें अधर=सीमामें असीम।

(१८) देख...तेरा = तेरा दर्शन पाकर मैं मस्त बन गया हूँ। तेरी ही ज्योति (नूर) सर्वत्र व्याप्त है। ज्ञानका...= ज्ञानकी थालीमें प्रेमकी बत्ती जलाई है, शून्यके आसनपर अगम्यको डेरा बनाया है। दे० ऊपर (९)

कहैं कबीर तहँ भर्म भासे नहीं
जनम और मरनका मिटा फेरा ॥ (२-६१)

१८

मद्ध अकास आप जहँ बैठे, जोत सब्द उजियारा हो।
सेत सरूप राग जहँ फूलै, साईं करत बिहारा हो।
कोटिन चन्द-सूर छिप जैहैं, एक रोम उजियारा हो।
वही पार एक नगर बसुत है, बरसत अमृत-धारा हो।
कहैं कबीर सुनो धमदासा, लखो पुरुष दरबारा हो। (२-७७)

१९

परमातम गुरु निकट विराजें
जाग जाग मन मेरे।
धायके पीतम चरनन लागै
साईं खड़ा सिर तेरे।
जुगन जुगन तोहिं सोवत बीता
अजहु न जाग सबेरे। (२-२०)

२०

मन, तू पार उतर कहँ जैहो।
आगे पंथी पंथ न कोई, कूच-मुकाम न पैहो।

---

१८ आप = स्वयं भगवान्। जोत शब्द उजियारा = प्रकाशरूप शब्दका उजेला—अविरत चलनेवाले शब्द (संगीत, राग) का प्रकाश। सेतसरूप राग = उज्ज्वल संगीत।

१९ परमातम गुरु = परमात्मारूप गुरु।

२० गुन = नाव खींचनेकी रस्सी। सुन्नमें = शून्यमें सुधि या खोज। पदका भाव यह है कि जीवात्मा अपनेको ही ब्रह्म मान लेता है तो वह अभेदजन्य

नहिं तहँ नीर, नाव नहिं खेवट, ना गुन खैंचनहारा।
धरनी-गगन-कल्प कछु नाहीं, ना कछु वार न पारा।
नहिं तन, नहिं मन, नहीं अपनपौ सुन्नमें सुद्ध न पैहौ।
बलीवान होय पैठो घटमें, वाहीं ठौरैं होइहौ।
बार हि बार बिचार देख मन, अंत कहूँ मत जैहौ।
कहैं कबीर सब छाड़ि कलपना, ज्योंके त्यों ठहरैहौ (२-२२)

२१

घर घर दीपक बरै, लखै नहिं अन्ध है।
लखत लखत लखि परै, कटै जम फन्द है।
कहन-सुनन कछु नाहिं, नहीं कछु करन है॥
जीते जी मरि रहै, बहुरि नहिं मरन है॥
जोगी पड़े बियोग, कहैं घर दूर है।
पासहि बसत हजूर, तू चढ़त खजूर है॥
बाम्हन दिच्छा देता घर घर घालि है।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालि है॥
ऐसन साहब कबीर सलोना आप है।
नहीं जोग नहीं जाप पुन्न नहीं पाप है॥

भ्रान्तिका शिकार हो जाता है। अपनी कल्पनासे ही वह अपनेको शून्यस्वरूप समझने लगता है और उसमें अपने रूपको ही नहीं खोज पाता। (दे० अनुच्छेद ४) कबीरदास कहते हैं कि सब कल्पना छोड़ो तभी अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर होगे।

२१ घर घर दीपक···=प्रत्येक घरमें दीपक जलता है अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिके भीतर भगवान्की ज्योति है। लखत···देखनेका अभ्यास करनेसे वह दिखाई देता है। जीतेजी···=जो जीते ही जी मर गया—इच्छा द्वेषसे परे हो

२२

साधो, सो सतगुरु मोंहि भावै ।
सत्त प्रेमका भर भर प्याला, आप पिवै मोंहि प्यावै ।
परदा दूर करै आँखिनका, ब्रह्म दरस दिखलावै ।
जिस दरसनमें सब लोक दरसै, अनहद सब्द सुनावै ।
एकहि सब सुख-दुख दिखलावै, सब्दमें सुरत समावै ।
कहैं कबीर ताको भय नाहीं, निर्भय पद परसावै । (२-३८)

२३

तिंविर साँझका गहिरा आवै, छावै प्रेम मन-तनमें ।
पच्छिम दिसकी खिड़की खोलो, डूबहु प्रेम-गगनमें ।
चेत-कँवल-दल रस पीयो रे, लहर लेहु या तनमें ।
संख घंट सहनाई बाजै, शोभा-सिंध महलमें ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, अमर साहब लख घटमें । (२-४०)

गया ।—वह फिर नहीं मरनेका । जोगी··· = योगी भगवान्को न पाकर वियोगमें पड़े रहते हैं और घरको—अपने लक्ष्यको—दूर बताते है । पास ही भगवान् हैं—क्योंकि वे अंग-अंगमें व्याप्त हैं तो भी खजूरपर चढ़ते हैं अर्थात् समाधि लगाते हैं । दिच्छा = दीक्षा, शिष्यको मंत्र देना । घालि है = चौपट करेगा । मूर सजीवन=संजीवनी बूटी । पाहन=पत्थर=मूर्ति, शालिग्राम आदि । ऐसन··· =कबीरका साहब ऐसा सलोना (सुन्दर) है कि उसे पानेके लिए न जोगकी, न जापकी, न पुण्यकी, न पापकी ही जरूरत है, वह सहज ही मिलता है (दे० पृ० १५१) ।

२२ सत्त प्रेम = वास्तविक प्रेम । सब्दमें सुरत=देखिए १७ वें पदकी व्याख्या ।

२३ तिंविर = अंधकार । सायंकालका अंधकार पश्चिम दिगंतकी ओरसे गहरा होता आ रहा है, पश्चिमकी खिड़की खोल दो, प्रेमके आकाशमें अपनेको डुबा दो । सायंकाल प्रिय-समागमकी तैयारीका समय है । पिंडमें 'पश्चिम' का अर्थ है पीठकी ओर—सुषुम्ना मार्ग । भक्तरूपी प्रेयसीका तन और

२४

जिससे रहनि अपार जगतमें, सो प्रीतम मुझे पियारा हो।
जैसे पुरइन रहि जल-भीतर, जलहिमें करत पसारा हो।
वाके पानी पत्र न लागै, ढलकि चलै जस पारा हो।
जैसे सती चढ़े अगिनपर, प्रेम-वचन ना टारा हो।
आप जरै औरनिको जारै, राखै प्रेम-मरजादा हो।
भवसागर इक नदी अगम है, अहद अगाह धारा हो।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, बिरले उतरे पारा हो। (२-४८)

२५

हरिने अपना आप छिपाया।
हरिने नफीज कर दिखराया॥
हरिने मुझे कठिन बिच घेरी।
हरिने दुबिधा काटी मेरी॥

मन रोमांच और औत्सुक्यसे भर गया है—छावै प्रेम मन तनमें। चित्तरूपी कमल-दलका रस पान करो।—मनहीमें उस परम सुखका साक्षात्कार करो। शरीरमें प्रेमकी लहरें तरंगित हों। शोभाका समुद्र जो यह महल है—अन्तःकरण है—वहाँ मिलनका सूचक शंख-घण्टा और सहनाई आदि बाजे बज रहे हैं। कबीरदास कहते हैं कि ऐ साधु, तू अमर साहबको—अक्षय सुहाग देनेवाले स्वामीको अपने भीतर ही देख।

सायंकालका अँधेरा अनेक सन्तोंके काव्यमें बुढ़ापेका प्रतीक है। किन्तु इस पदमें यह प्रियसमागम-कालका प्रतीक है। पिंडमें इसका योगपरक अर्थ इस प्रकार होगा—सुषुम्ना-मार्ग खोल दो और इस प्रकार गगन (शून्य, सहस्रार) में समाधिजन्य प्रेमका अनुभव करो। इस समाधिकालमें शंख, घण्टा, काहल आदिकी ध्वनि पहले सुनाई देती है फिर वह उपरत हो जाती है और साधक परमज्योतिकी अपूर्व शोभा देखता है और परमात्माको घटमें ही प्राप्त करता है।

२४ रहनि अपार = अनन्त कालके लिए रहना; शाश्वत स्थिति। पुरइनि = कमलका पत्ता, जिसपरसे पानी पाराकी तरह ढरक जाता है। कमलपत्रकी उपमा उन लोगोंके लिए दी जाती है जो संसारमें रहकर भी संसारके मोहमें नहीं फँसते।

२५ हरिने…=भगवान्‌ने अपने आपको छिपा रखा है। नफीज=नफीस, सुन्दर।

हरिने सुख-दुख बतलाये।
हरिने सब दुंद मिटाये॥
ऐसे हरिपै तन-मन वारूँ,
प्राणहिं तजूँ हरि नहीं बिसारूँ॥ (२–४५)

२६

ओंकार सबै कोई सिरजै, रागस्वरूपी अंग।
निराकार निर्गुन अबिनासी, कर वाहीको संग॥
नाम निरंजन नैनन-मद्धे, नाना रूप धरंत।
निरंकार निर्गुन अबिनासी, अपार अथाह अंग॥
महासुक्ख मगन होई नाचै, उपजै अंग तरंग।
मन और तन थिर न रहतु है, महा सुक्खके संग॥
सब चेतन सब अनन्द सब हैं दुःख गहन्त।
कहाँ आदि कहँ अन्त आप सुक्ख बिच धरंत॥ (२–७५)

२७

सतगुरु सोइ दया करि दीन्हा।
ताते अन-चिन्हार मैं चीन्हा॥
बिन पग चलना बिन पर उड़ना, बिना चूँचका चुगना।
बिन नैननका देखन-पेखन, बिन सरवनका सुनना।
चंद न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई।
बिना अन्न अंमृत-रस-भोजन, बिन जल तृषा बुझाई।

---

२६ ओंकार जो सबकी सृष्टि करता है भगवान्का रागरूपी—शब्दरूपी अंग है। नाम··धरंत = यद्यपि उनका नाम निरंजन है तथापि वे नानारूप धारण करते रहते हैं। महासुक्ख··संग = महा आनन्दमें मग्न होकर वे नाच रहे हैं। उनके मिलनरूपी महासुखके साथ मन और तन स्थिर नहीं रहते। आप·· धरंत = वे स्वयं अपने आनन्दके भीतरसे ही धारण किये हुए हैं।

२७ अनचिन्हार = अपरिचित। चूँच=चोंच। सुरत लौ=अन्तर्मुखी समाधि।

जहाँ हरस तहँ पूरन सुख है, यह सुख कासौं कहना।
कहैं कबीर बल बल सतगुरुकी, धन्न सिष्यका लहना। (२-८१)

२८

निरगुन आगे सरगुन नाचै,
बाजै सोहँग तूरा।
चेलाके पावँ गुरूजी लागैं,
यही अचम्भा पूरा॥ (२-८५)

२९

प्रश्न

कबीर, कबसे भये बैरागी।
तुम्हारी सुरति कहाँको लागी॥

उत्तर

बहुचित्राका मेला नाहीं, नहीं गुरू नहीं चेला।
सकल पसारा जिन दिन नाहीं, जिहि दिन पुरुष अकेला॥
गोरख, हम तबके अहैं बैरागी।
हमरी सुरति ब्रह्मसों लागी।

कहै···लहना = बलिहारी है उस सत्यगुरुकी और धन्य है उस शिष्यका ऐसे गुरुको पाना।

२८ निर्गुणके आगे सगुण नाच रहे हैं और सोऽहंका तूर्य बज रहा है। सोऽहं = 'वह मैं ही हूँ' ऐसी अभेदकी प्रतीति। यहाँ वह निर्गुण ब्रह्म है और मैं जीव है। जीवनका अहंकार ही उसे ब्रह्मके साथ एक अनुभव करता है, ऐसा कबीरपन्थी मत है (दे० अनु० ४)। यह ऐसा हुआ मानों गुरु (परब्रह्म) चेला (जीव) के पैरों पड़ते हैं। क्योंकि सोऽहंमें सः (= वह = ब्रह्म) दूरका होनेसे अप्रधान होता है और अहं (= मैं = जीव) निकटका होनेसे प्रधान।

२९ बहुचित्रा = वैचित्र्य, नानात्व, एकका अनेक होना। ब्रह्मा··टीका = ब्रह्माने सब सृष्टि-रचनाका अधिकार नहीं पाया था और विष्णुने भी पालन

ब्रह्मा नहिं जब टोपी दीन्ही, बिस्नु नहीं जब टीका ।
सिव-सक्तीकै जनमै नाहीं, तबै जोग हम सीखा ॥
कासीमें हम प्रगट भये हैं, रामानंद चेताये ।
प्यास अहदकी साथ हम लाये, मिलन-करनको आये ॥
सहजै सहजै मेला होइगा, जागी भक्ति उतंगा।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख, चलो गीतके संगा ॥ (२-८७)

३०

या तरिवरमें एक पखेरू, भोग सरस वह डोलै रे ।
वाकी संध लखै नहिं कोई, कौन भावसों बोलै रे ।
दुर्म्म-डार तहँ अति घन छाया, पंछी बसेरा लेई रे ।
आवै साँझ उड़ि जाय सबेरा, मरम न काहू देई रे ।
सो पंछी मोंहि कोइ न बतावै, जो बोले घटमाँही रे ।
अबरन-बरन रूप नाहिं रेखा, बैठा प्रेमके छाँही रे ।
अगम अपार निरन्तर बासा, आवत-जात न दीसा रे ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह कछु अगम कहानी रे।
या पंछीके कौन ठौर है, बूझो पंडित ज्ञानी रे । (२-९५)

करनेका अधिकार नहीं पाया था । टोपी देना = राज्य पाना । टीका लेना=सिंहासनपर अभिषिक्त होना । प्यास अहदकी=असीमको पानेकी तृष्णा । उतंगा=ऊँची ।

गीत = शब्द''राग । यह पद गोरखनाथ और कबीरके संवादके रूपमें लिखा गया है और परवर्ती जान पड़ता है । इसका भाव है कि आत्मा ब्रह्मा, विष्णु और शिवके सृष्ट होनेके पूर्व भी विद्यमान था । इस भावके दोहे क. ग्र. में भी मिलते हैं (दे० पद० ११७) ।

३० इस पदके पखेरू और पंछी (पक्षी) शब्द जीवात्मा (हंस) के वाचक हैं। भोग''रे = सरस संभोगके रससे मस्त होकर वह झूम रहा है। संघ = संधान, खोज, परिचय । दुर्म्म = द्रुम, पेड़, यहाँ मनुष्यके शरीरसे मतलब है । मरम''रे = किसीको अपना मर्म (रहस्य) नहीं जानने देता ।

३१

निस-दिन सालै घाव, नींद आवै नहीं।
पिया-मिलनकी आस, नैहर भावै नहीं।
खुल नये गगन-किवाड़, मन्दिर उजियार भयो।
भयो है पुरुषसे भेट तन-मन वार दयो॥ (२-१००)

३२

नाचु रे मेरे मन मत्त होय।
प्रेमको राग बजाय रैन-दिन शब्द सुनै सब कोइ।
राहु-केतु नवग्रह नाचै जन्म जन्म आनंद होइ।
गिरी-समुन्दर धरती नाचै, लोक नाचै हँस-रोइ।
छापा-तिलक लगाइ बाँस चढ़, हो रहा जगसे न्यारा।
सहस कला कर मन मेरौ नाचै, रीझै सिरजनहारा॥ (२-१०३)

३३

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले।

---

३१ गगन किवाड़ = शून्यका दरवाजा, याने साधनाके पक्षमें समाधि।

३२ भाव यह है कि सृष्टिके आनन्दसे समस्त चराचर ब्रह्माण्ड नाच रहा है, ग्रह-तारिकाएँ, पहाड़-समुद्र सब उल्लासके साथ नाच रहे हैं। हँसकर या रोकर सारा लोक ही नाच रहा है। फिर, ऐ मेरे मन, क्यों न मेरे साथ तू भी मत्त होकर नाचे ? नाचना तो पड़ेगा ही, फिर प्रसन्न होकर आनन्दका नृत्य कर। छापा-तिलक लगानेवाले अपनेको दुनियासे विशेष समझते हैं। उनका अपनेको अलग समझना वैसा ही उपहासास्पद है जैसा धरती-पहाड़को नाचते देख कोई आदमी धरतीमें बाँस गाड़कर ऊपर जा बैठे और समझ ले कि वह इस विकट नृत्यसे छुटकारा पा गया। मेरा मन सहस्रकलापर नाच रहा है और इस नाचसे सिरजनहार रीझ रहा है, क्योंकि उसने लीलाहीके लिए तो सब-कुछ सिरजा है।

३३ इस पदके भीतरी अर्थके लिए पृ० २१४-२१५ देखिए। सुरत-कलारी

हलकी थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले ।
सुरत-कलारी भई मतवारी मदवा पी गई बिन तोले ॥
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोले ।
तेरा साहब है घरमाहीं, बाहर नैना क्यों खोले ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले ॥
(२-१०५)

३४

मोंहि तोंहि लागी कैसे छूटे ।
जैसे कमलपत्र जल बासा,
ऐसे तुम साहिब हम दासा ॥
जैसे चकोर तकत निस चंदा,
ऐसे तुम साहिब हम बंदा ॥
मोंहि-तोंहि आदि-अन्त बन आई,
अब कैसे लगन दुराई ॥
कहैं कबीर हमरा मन लागा,
जैसे सरिता सिंध समाई ॥ (२-११०)

३५

बालम आवो हमारे गेह रे ।
तुम बिन दुखिया देह रे ।
सब कोई कहे तुम्हारी नारी, मोकों लागत लाज रे ।
दिलसे नहीं दिल लगाया, तब लग कैसा सनेह रे ।
अन्न न भावै नींद न आवै, गृह-बन धरै न धीर रे ।
कामिनको है बालम प्यारा, ज्यों प्यासेको नीर रे ।

···तोले = सुरतिरूपी कलारी (मद्य बेचनेवाली) ने मत्त होकर बिना तौले ही बहुत पी लिया । तिल ओले = तिलकी ओटमें ।

है कोई ऐसा पर-उपकारी, पिवसों कहै सुनाय रे।
अब तो बेहाल कबीर भयो है, बिन देखे जिव जाय रे।। (२-११३)

३६

जाग पियारी अब का सोवै।
रैन गई दिन काहेको खोवै।।
जिन जागा तिन मानिक पाया।
तैं बौरी सब सोय गँवाया।
पिये तेरे चतुर तू मूरख नारी।
कबहुँ न पियकी सेज सँवारी।।
तैं बौरी बौरापन कीन्ही।
भर-जोबन पिय अपन न चीन्ही।।
जाग देख पिय सेज न तेरे।
तोहि छाँड़ि उठि गये सबेरे।।
कहैं कबीर साँई धुन जागै।
शब्द-बान उर-अन्तर लागै।। (२-१२६)

३७

(१) सूर-परकास, तहँ रैन कहँ पाइये
रैन-परकास नहिं सूर भासै।
ज्ञान-परकास अज्ञान कहँ पाइये
होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।
काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये
प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाहीं।

---

३७ (१) जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश होनेसे रात नहीं रहती और रात जहाँ होती है वहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार जहाँ ज्ञानका प्रकाश होता है वहाँ अज्ञान नहीं रहता और अज्ञान जहाँ रहता है वहाँ ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ काम बलवान् है वहाँ प्रेम नहीं और जहाँ प्रेम

कहैं कबीर यह सत्त विचार है
समझ विचार कर देख माँही।

(२) पकड़ समसेर संग्राममैं पैसिये
देह-परजन्त कर जुद्ध भाई।
काट सिर बैरियाँ दाब जहँका तहाँ
आय दरबारमें सीस नवाई॥

(३) सूर संग्रामको देख भागै नहीं,
देख भागै सोई सूर नाहीं।
काम और क्रोध मद लोभसे जूझना,
मचा घमसान तन-खेत माँहीं।
सील और साँच सन्तोष साही भये,
नाम समसेर तहाँ खूब बाजे।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा
कायराँ भीड़ तहँ तुर्त भाजे॥

(४) साधको खेल तो बिकट बेंड़ा मती
सती और सूरकी चाल आगे।
सूर घमसान है पलक दो चारका
सती घमसान पल एक लागै।
साध संग्राम है रैन-दिन जूझना
देह परजन्तका काम भाई॥ (१-३४)

बलवान् होता है वहाँ काम नहीं रहता। ज्ञान और अज्ञानका तथा प्रेम और कामका सम्बन्ध प्रकाश और अन्धकारके सम्बन्धके समान है।

(२) समसेर = तलवार। (दे० पृ० १६०)

(३) शूर युद्धसे भागता नहीं और जो भागता है वह शूर नहीं। तनरूपी खेत (मैदान) में काम-क्रोध आदि शत्रुओंसे घमासान मची हुई है। साही = साथी।

(४) दे० पृ० १९०। बिकट बेंड़ा = अत्यन्त कठिन।

३८

भ्रमका ताला लगा महल रे, प्रेमकी कुंजी लगाव।
कपट-किवड़िया खोलके रे, यहि विधि पियको जगाव ॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, फिर न लगै अस दाव ॥ (१-५०)

३९

साधो, यह तन ठाठ तँबूरेका।
ऐंचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरेका ॥
टूटे तार बिखर ग. खूँटी, हो गया धूरम-धूरेका।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अगम पंथ काई सूरेका ॥ (१-५९)

४०

अवधू, भूलेको घर लावै।
सो जन हमको भावै ॥
घरमें जोग भोग घरहीमें, घर तज बन नहिं जावैं।
घरमें जुक्त मुक्त घरहीमें, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्नमें रहै समाना, सहज समाधि लगावै।
उन्मुनि रहै ब्रह्मको चीन्है, परम तत्वको ध्यावै।

---

३९ यह शरीर तम्बूरेका तार है। ऐंचत··का = जिस प्रकार तम्बूरेकी खूँटियाँ मरोड़नेसे और तार खींचनेसे सुन्दर ध्वनि निकलती है उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन और मनके संयमसे भगवान्‌का राग इसमेंसे प्रकट होता है। रागमें श्लेष है (१) संगीत (२) प्रेम। टूटे··· = जब इन्द्रिय और मन-बुद्धि आदिका समवाय नष्ट हो जाता है, यह स्थूल और सूक्ष्म शरीर चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, तब जीव निज स्वरूपमें स्थिर होता है। यह अगम पन्थ किसी शूरका ही हो सकता है।

४० सच्चा योग गृहस्थाश्रममें ही सम्भव है। सहज सुन्न··· = सहज ही शून्यमें

सुरत-निरतसों मेला करके, अनहद नाद बजावै।
घरमें बसत बस्तु भी घर है, घर ही बस्तु मिलावै।
कहैं कबीरा सुनो हो साधू, ज्योंका त्यों ठहरावै ॥ (१-६५)

४१

सन्तो, सहज समाधि भली।
साँईते मिलन भयो जा दिनतें, सुरत न अन्त चली ॥
आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ ॥
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह-उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा ॥
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूँजूँ और न देवा ॥
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन बचनका त्यागी।
ऊठत-बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी।
कहैं कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख-दुखके इक परे परम सुख, तेहिमें रहा समाई ॥ (१-७६)

४२

तीरथमें तो सब पानी है, होवे नहीं कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ हैं भाई, बोलें नहीं बोलाय देखा।
पुरान-कोरान सबै बात है, या घटका परदा खोल देखा।
अनुभवकी बात कबीर कहैं यह, सब है झूठी पोल देखा॥(१-७९)

समा जाय (हठयोग आदिकी क्रियासे नहीं), सहज समाधि लगावे (दे० पृ० १५१)। उनमुनि = उन्मनी (दे० पृ० ५०)। सुरत-निरत (देखिए ऊपर पद १७ की व्याख्या)। ज्योंका त्यों = निजरूप, हंस देह (दे० अनु० ४)।

४१ (देखिए पृ० १५१)

४३

पानी बिच मीन पियासी ।
मोहिं सुन सुन आवै हाँसी ॥
घरमें वस्तु नजर नहिं आवत
बन बन फिरत उदासी ।
आतमज्ञान बिना जग झूँठा
क्या मथुरा क्या कासी । (१-८२)

४४

गगन मठ गैब निसान उड़े ।
चन्द्रहार चँदवा जहँ टाँगे, मुक्ता-मानिक मढ़े ।
महिमा तासु देख मन थिरकर, रवि-सासि जोत जरे ।
कहै कबीर पियै जोई जन, माता फिरत मरे । (१-९७)

४५

साधो, को है कहँसें आयो ।
तेहिके मन धौं कहाँ बसत है, को धौं नाच नचायो ॥
पावक सर्व अंग काठहिमें, को धौं डहक जगायो ।
हो गया खाक तेज पुनि वाको, कहु धौं कहाँ समायो ॥
अहै अपार पार कछु नाहीं, सतगुरु जिन्है लखायो ।
कहैं कबीर जेहि सूझ-बूझ जस, तेई तस आज सुनायो ॥ (१-९४)

---

४३ भाव यह है कि भगवान् तो घटघटवासी हैं, फिर भी मूर्ख लोग उन्हें बाहर खोजते फिरते हैं । आत्मज्ञानसे ही वह मिलते हैं, तीर्थव्रतसे नहीं ।

४४ गैब = अद्भुत ।

४५ पावक··· = काठमें सर्वत्र अग्नि है फिर वह प्रकट कैसे होती है और प्रकट होनेके बाद काठको भस्म करके कहाँ लीन हो जाती है ? भाव यह है कि भगवान् भी सर्वव्यापक हैं; साधनासे मिलते हैं और साधकके स्थूल शरीरको

४६

साधो, सहजै काया सोधो ।
जैसे बटका बीज ताहिमें पत्र-फूल-फल-छाया ।
काया-मद्धे बीज बिराजे, बीजा मद्धे काया ।
अग्नि-पवन-पानी-पिरथी-नभ, ता-बिन मिलै नाहीं ।
काजी पंडित करो निरनय को न आपा माहीं ।
जल-भर कुंभ जलै बिच धरिया, बाहर-भीतर सोई ।
उनको नाम कहनको नाहीं, दूजा धोखा होई ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सत्य-शब्द निज सारा ।
आपा-मद्धे आपै बोलै, आपै सिरजनहारा । (१-९८)

४७

तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा, बिन फूले फल लागे ।
साखा-पत्र कछू नहिं ताके, सकल कमल-दल गाजै ।
चढ़ तरवर दो पंछी बोले, एक गुरू एक चेला ।
चेला रहा सो रस चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला ।।

समाप्त करके फिर भी सर्वव्यापक बने रहते हैं । साधकके भीतर भगवान्‌की ही ज्योति जलती है ।

४६ काया (शरीर) की शुद्धि सहज ही होती है, कृच्छ्राचारसे नहीं । जिस प्रकार वटके बीजमें ही उसके वृक्षकी सत्ता रहती है और उस सत्ताके अभावमें वृक्ष भी नहीं होता और पवन-पानी आदि भी नहीं पा सकता उसी प्रकार आपा (= आत्मा) में ही सब-कुछ है । जीवात्मा वस्तुतः परमात्मासे भिन्न नहीं है । जलसे भरा हुआ घड़ा जैसे समुद्रमें डुबाया जाय वैसे भगवान्‌की असीम सत्ताके भीतर ही इस शरीरसे आच्छन्न भगवदंश जीव है । उनको... = उनका नाम लेना उचित नहीं । क्योंकि नाम लेनेसे भ्रम हो सकता है कि वे मुझसे भिन्न हैं ।

४७ तरवर = संसार; मूल बिना खड़ा है अर्थात् मायाजन्य है । गुरु =

पंछीके खोज अगम परगट, कहैं कबीर बड़ी भारी।
सब ही मूरत बीज अमूरत, मूरतकी बलिहारी ॥ (१-१०२)

४८

चलत मनसा अचल कीन्ही, मन हुआ रंगी।
तत्वमें निहतत्व दरसा, संगमें संगी ॥
बंधते निर्बन्ध कीन्हा, तोड़ सब तंगी।
कहैं कबीर अगम गम कीया, प्रेम रंग रंगी ॥ (१-१०७)

४९

जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।
बिन देखै परतीत न आवै, कहै न को पतियाना।
समझ होय तो शब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना।
कोई ध्यावै निराकारको, कोई ध्यावै आकारा।
या विधि इस दोनोंतें न्यारा, जानै जाननहारा।
वह राग तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना।
कहैं कबीर सो पढ़ै न परलय, सुरत-निरत जिन जाना ॥ (१-१०५)

५०

मुरली बजत अखंड सदासे, तहाँ प्रेम झनकारा है।
प्रेम-हद तजी जब भाई, सत्त लोककी हद पुनि आई।
उठत सुगंध महा अधिकाई, जाको वार व पारा है।
कोटि भान रागको रूपा, बीन सत-धुन बजै अनूपा ॥ (१-१२६)

भगवान्। चेला = जीव। रस चुन खाया = भोग भोगता रहा। गुरु· · ·खेला = भगवान् लीला करते रहे। मूरत· · ·बलिहारी = समस्त मूर्तियों यानी रूपोंमें वह अमूरत (अमूर्त, रूपहीन) होकर वर्तमान है, बलिहारी है, उसकी इस मूर्ति (स्वरूप) की।

५१

सखियो, हमहुँ भई बलमासी ।
आयो जोबन बिरह सतायो, अब मैं ज्ञान गली अठिलाती ।
ज्ञान-गलीमें खबर मिल गये, हमें मिली पियाकी पाती ।
वा पातीमें अगम सँदेसा, अब हम मरनेको न डराती ।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, बर पाये अबिनासी । (१-१२९)

५२

साईं बिन दरद करेजे होय ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया, कासे कहूँ दुख होय ।
आधी रतियाँ पिछले पहरवा, साईं बिना तरस रही सोय ।
कहत कबीर सुनो भाई प्यारे, साईं मिले सुख होय ।। (१-१३०)

५३

कौन मुरली-शब्द सुन आनन्द भयो
जोत बरे बिन बाती ।
बिना मूलके कमल प्रगट भयौ ।
फुलवा फुलत भाँति भाँती ।
जैसे चकोर चन्द्रमा चितवै
जैसे चातृक स्वाँती ।
तैसे सन्त सुरतके होके
हो गये जनम सँघाती ।। (१-१२२)

---

५१ भई बलमासी = बालमको पानेकी उत्कट अभिलाषावाली हो गई ।

५४

सुनता नहीं धुनकी खबर, अनहदका बाजा बाजता।
रस मंद मंदिर बाजता, बाहर सुने तो क्या हुआ।
इक प्रेम-रस चाखा नहीं, अमली हुआ तो क्या हुआ॥
काजी किताबें खाजता, करता नसीहत औरको।
महरम नहीं उस हालसे, काजी हुआ तो क्या हुआ।
जोगी दिगंबर सेवड़ा, कपड़ा रंगे रंग लालसे।
वाकिफ नहीं उस रंगसे, कपड़ा रँगेसे क्या हुआ॥
मन्दिर-झरोखा-रावटी, गुल चमनमें रहते सदा।
कहते कबीरा हैं सही हर-दममें साहिब रम रहा॥ (१-११२)

५५

भक्तिका मारग झीना रे।
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे।
साधनके रस-धारमें, रहे निस-दिन भीना रे।
रागमें स्रुत ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे।
साँई सेवनमें देत सिर, कुछ बिलम न कीना रे।
कहैं कबीर मत भक्तिका, परगट कर दीना रे। (१-७३)

५६

भाई, कोई सतगुरु सन्त कहावै।
नैनन अलख लखावै॥
प्राण पूज्य किरियाते न्यारा, सहज समाध सिखावै।
द्वार न रूँधे पवन न रोके, नहिं भवखण्ड तजावै।

---

५४ अमली = नशा सेवन करनेका अभ्यस्त। महरम = परिचित। सेवड़ा = श्वेतपट, श्वेताम्बर जैन साधु।

यह मन जाय यहाँ लग जब ही परमातम दरसावै ।
करम करै निःकरम रहै जो, ऐसी जुगत लखावै ।
सदा विलास त्रास नहिं तनमें, भोगमें जोग जगावै,
धरती-पानी आकाश-पवनमें अधर मँडैया छावै ।
सुन्न सिखरके सार सिलापर, आसन अचल जमावै ।
भीतर रहा सो बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै । (१-६८)

५७

साधो, शब्द-साधना कीजै ।
जे ही शब्दते प्रगट भये सब, सोई शब्द गहि लीजै ॥
शब्द गुरु शब्द सुन सिख भये, शब्द सो बिरला बूझै ।
सोई शिष्य सोई गुरु महातम, जेहिं अन्तर-गति सूझै ।
शब्दै वेद-पुरान कहत हैं, शब्दै सब ठहरावै ।
शब्दै सुर-मुनि-सन्त कहत हैं, शब्द-भेद नहिं पावै ॥
शब्दै सुन सुन भेष धरत हैं, शब्दै कहै अनुरागी ।
षट-दर्शन सब शब्द कहत हैं, शब्द कहे वैरागी ॥
शब्दै काया जग उतपानी, शब्दै केरि पसारा ।
कहैं कबीर जहँ शब्द होत है, भवन भेद है न्यारा ॥ (१-६६)

५८

पीले प्याला हो मतवाला
प्याला नाम अमीरसका रे ।
कहैं कबीर सुनो-साधो
नख सिख पूर रहा विषका रे । (१-६३)

---

५८ मनुष्यका शरीर नखसे शिखातक विषयरूपी विषसे भरा है । उसमें रक्षा पानेका साधन नामरूपी अमृत-रसका पान करना ही है ।

५९

खमस न चीन्हैं बावरी, का करत बड़ाई।
बातन लगन न होयँगे, छोड़ौ चतुराई।
साखी शब्द संदेश पढ़ि, मत भूलो भाई।
सार-प्रेम कछु और है, खोजा सो पाई॥ (१-५२)

६०

सुखसिंधकी सैरका स्वाद तब पाइ है,
चाहका चौतरा भूल जावै।
बीजके माँहि ज्यों बीज-विस्तार यों
चाहके माँहि सब रोग आवै॥ (१-५६)

६१

सुखसागरमें आयके मत जागे प्यासा।
अजहुँ समझ नर बावरे, जम करत निरासा॥
निर्मल नीर भरे तेरे आगे, पी ले स्वाँसो स्वाँसा।
मृगतृस्ना-जल छाँड़ बावरे, करो सुधारस-आसा॥
ध्रु प्रह्लाद-शुकदेव पिया, और पिया रैदासा।
प्रेमहि संत सदा मतवाला, एक प्रेमकी आसा।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, मिट गई भयकी बासा। (१-४८)

६२

सतीको कौन सिखावता है,
सँग स्वामीके तन जारना जी।
प्रेमको कौन सिखावता है,
त्यागमाँहि भोगका पावना जी। (१-३५)

---

५९ खसम = पति, परमात्मा।

६० चाहके माँहि = इच्छाके भीतर।

६१ सुधारस = भगवान्से प्रेम। मृगतृष्णा = विषय-सुख।

६३

अरे मन धीरज काहे न धरै ।
पसु-पंछी जीव कीट-पतंगा सबकी सुद्ध करै ।
गर्भ-वासमें खबर लेतु है बाहर क्यों बिसरै ।
मन तू हसनसे साहेबके भटकत काहे फिरै ।
प्रीतम छाँड़ और को धारै, कारज इक न सरै ॥ (१–३९)

६४

साँईसे लगन कठिन है भाई ।
जैसे पापीहा प्यासा बूँदका, पिया पिया रट लाई ।
प्यासे प्राण तड़फै दिन-राती, और नीर ना भाई ।
जैसे मिरगा शब्द-सनेही, शब्द सुननको जाई ।
शब्द सुनै और प्रानदान दे, तनिको नाहिं डराई ।
जैसे सती चढ़ी सत-ऊपर, पियाकी राह मन भाई ।
पावक देख डरे वह नाहीं, हँसत बैठे सदा माई ।
छोड़ो तन अपनेकी आसा, निर्भय ह्वै गुन गाई ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, नाहिं तो जनम नसाई । (१–११७)

---

६३ हसनसे साहेबके = सुन्दर प्रभुके रहते हुए ।

६४ साँई, प्रिय, बालम आदि शब्दोंसे कबीरदासका मतलब परमात्मासे है । ये पद समासोक्ति पद्धतिपर लिखे गये हैं । एक-दो विशेषणोंसे ही इन पदोंके वाच्यार्थके साथ ही साथ अप्रस्तुत अर्थ उपस्थित हो जाता है । श्लेष इनमें नहीं है । इसीलिए प्रत्येक पदके दो-दो अर्थ खोजना ठीक नहीं होता । ये रूपक भी नहीं हैं; इसलिए प्रत्येक पदमें किसका आरोप किया है, यह

६५

जब मैं भूला रे भाई,
मेरे सतगुरू जुगत लखाई।
किरिया-करम-अचार छाँड़ा, छाँड़ा तीरथका न्हाना।
सगरी दुनिया भइ सयानी, मैं ही इक बौराना।
ना मैं जानूँ सेवा-बंदगी, ना मैं घंटा बजाई।
ना मैं मूरत धरी सिंघासन, ना मैं पुहुप चढ़ाई।
ना हरि रीझै जप तप कीन्हें, ना कायाके जारे।
ना हरि रीझै धोती छाँड़े, ना पाँचोंके मारे।
दया राखि धरमको पालै, जगसों रहे उदासी।
अपना-सा जिव सबको जानै, ताहि मिलै अविनासी।
सहै कुशब्द बादको त्यागै, छाँड़ै गर्व-गुमाना।
सत्त नाम ताहीको मिलिहै कहै कबीर सुजाना॥ (१-२२)

६६

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिरमें बैठे
ब्रह्म-छाड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले
दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई गैले बकरा।

प्रश्न भी ठीक नहीं है। ये सीधे प्रेम-व्यापक पद हैं जिनमें कुछ विशेषणोंका प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे अप्रस्तुत भगवत्प्रेम प्रधान होकर स्वयं उपस्थित हो जाता है। ७३, ८५, ८८, ९५, ९८, आदि पद ऐसे ही हैं।

६६ कनवा फड़ाय = कनफटे योगी कान चीरकर कुण्डल धारण करते हैं। धुनिया रमौले = धूनी रमाई। लबरा = झूठा। बढ़ौले = बढ़ाया। गैले = गया।

जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले
काम जराय जोगी होय गैले हिजरा ॥
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले,
गीता बाँचके होय गैले लबरा।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो,
जम दरवजवा बाँधल जैबे पकड़ा ॥ (१–२०)

६७

ना जानै साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो देवे,
क्या तेरा साहब बहरा है।
कीड़ीके पग नेवर बाजे
सो भी साहब सुनता है।
माला फेरी तिलक लगाया,
लंबी जटा बढ़ाता है।
अन्तर तेरे कुफर-कटारी,
यों नहिं साहब मिलता है। (१–९)

६८

हमसों रहा न जाय मुरलियाकै धुनि सुनिके।
बिना बसन्त फूल इक फूलै भँवर सदा बोलाय।

---

६८ मुरलियाकै धुन = ब्रह्माण्डमें व्याप्त अनाहत नाद, जिसे साधक लोग भगवान्‌की पुकार कहा करते हैं। इस पदकी व्याख्या समाधिके पक्षमें हो सकती है। बिना वसन्तका फूलनेवाला फूल शून्यका सहस्रार चक्र है। भँवरका लक्ष्यार्थ मन है। मेघ बरसाने = समाधिकी पूर्णताकी हालतमें 'धर्म मेघ' की धारासार वृष्टि होती है। उस समय योगी समस्त क्लेशों और कर्मोंसे निवृत्त हो जाता है (पातंजल सूत्र ४।२९)। यहाँ उसीसे मतलब है। तारी लगना = समाधि लगाना।

गगन गरजै बिजुली चमकै, उठती हिये हिलोर।
बिगसत कँवल मेघ बरसाने चितवत प्रभुकी ओर।
तारी लागी तहाँ मन पहुँचा, गैब धुजा फहराय।
कहैं कबीर आज प्रान हमारा, जीवत ही मर जाय॥ (३-१०२)

६९

जो खोदाय मसजीद बसतु है और मुलुक केहि केरा।
तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा।
पूरब दिसा हरीको वासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिलमें खोज दिलहिमें खोजो इहैं करीमा-रामा।
जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर पोंगड़ा अलह-रामका सो गुरु पीर हमारा। (३-२)

७०

सील-सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनिमें पूरा।
ताके दरस-परम भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा॥
निसि-वासर चरचा चित-चंदन, आन कथा न सोहावै।
करनी धरनी संगीत गावै, प्रेम रंग उड़ावै॥
राग-सरूप अखंडित अबिचल, निर्भय बेपरवाई।
कहैं कबीर ताहि पग परसो, घट घट सब सुखदाई॥ (३-९)

७१

साध-संगत पीतम उहाँ चल जाइये।
भाव-भक्ति-उपदेस तहाँते पाइये॥
संगत ही जरि जाव न चरचा नामकी।
दूलह बिना बरात कहो किस कामकी॥

---

६९ पोंगड़ा (पौगंड) = बालक।

दुबिधाको कर दूर पीतमको ध्याइये ।
आन देवकी सेव न चित्त लगाइये ।।
आन देवकी सेव भली नहिं जीवको ।
कहै कबीर विचार न पावै पीवको ।। (३-१३)

७२

तोर हीरा हिराइल बा किचड़ेमें ।
कोई ढूँढ़ै पूरब कोई ढूँढ़ै पच्छिम
कोई ढूँढ़ै पानी-पथरेमें ।
दास कबीर ये हीराको परखैं
बाँध लिहलै जीयराके अँचरेमें । (३-२६)

७३

आयौ दिन गौनेकै हो, मन होत हुलास ।
डोलिया उठावे बीजा बनवाँ हो, जहँ कोई न हमार ।।
पइयाँ तोरी लागौं कहरवा हो, डोली धर छिन बार ।
मिल लेवैं सखिया सहेलर हो, मिलौं कुल परिवार ।।
दास कबीर गावैं निरगुन हो, साधो करि ले बिचार ।
नरम-गरम सौदा करि ले हो, आगे हाट ना बाजार ।। (३-२६)

७४

अरे दिल,
प्रेमनगरका अन्त न पाया, ज्यों आया त्यों जावैगा ।
सुन मेरे साजन सुन मेरे मीता, या जीवनमें क्या क्या बीता ।।
सिर पाहनको बोझा लीता, आगे कौन छुड़ावैगा ।

---

७२ हिराइल बा = खो गया है । बाँध लिहिल = बाध लिया ।
७४ परली पार = उस पार । टूटी नावका लक्ष्यार्थ गलत साधना मार्ग है ।

परली पार मेरा मीता खड़िया, उस मिलनेका ध्यान न धरिया।
टूटी नाव उपर जो बैठा, गाफिल गोता खावैगा ॥
दास कबीर कहैं समुझाई, अन्तकाल तेरा कौन सहाई।
चला अकेला संग न कोई, किया आपना पावैगा ॥ (३-३०)

७५

बेद कहे सरगुनके आगे निरगुनका बिसराम।
सरगुन-निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम।
सुख दुख वहाँ कछू नहिं व्यापै, दरसन आठो जाम।
नूर ओढ़न नूरै डासन, नूरैका सिरहान।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नूर तमाम। (३-५५)

७६

(१) तू सूरत नैन निहार वह अंडमें सारा है।
तू हिरदे सोच बिचार यह देश हमारा है।
सतगुरु दरस होय जब भाई,
वह दें तुमको प्रेम चिताई,
सुरत-निरतके भेद बताई,
तब देखे अण्डकै पारा है ॥
सकल जगतमें सतकी नगरी,
चित्त भुलावै बांकी डगरी,

---

७५ वेद केवल सगुणके आगे निर्गुण ब्रह्मको बताकर कहता है कि वहीं विश्राम मिलता है। पर यह भी ठीक नहीं। वह निर्गुण सगुणसे परे है। निर्गुणके भी आगे जीव सत्यपुरुषको पाता है, वही उसका अपना धाम है। (ऊपर दे० अनु० ४)। नूरै = प्रकाश ही। नूर तमाम = परिपूर्ण ज्योति।

सो पहुँचे चाले बिन पग री,
ऐसा खेल अपारा है ॥
(२) लीला सुक्ख अनन्त वहाँकी
जहाँ रास विलास अपारा है,
गहन-तजन छूटे यह पाई
फिर नहिं पाना सताना है ॥३॥
पद निरबान है अनन्त अपारा
सुरति मूरति लोक पसारा,
सत्तपुरुष नूतन तन धारा
साहिब सकल रूप सारा है ॥४॥
बाग-बगीचे खिली फुलवारी
अंमृत-लहरैं हो रहीं जारी
हंसा केल करत तहँ भारी
जहँ अनहद घूरै अपारा है ॥५॥
तामध अधर सिंहासन गाजै
पुरुष महा तहँ अधिक विराजै
कोटिन सूर रोम इक लाजै
ऐसा पुरुष दीदारा है ॥६॥
पंथ विना सतराग उचारैं
जो बेधत हिये मँझारा है।
जन्म जन्मका अंमृत धारा
जहँ अधर-अंमृत फुहारा है ॥७॥

---

(१) अंड = ब्रह्माण्ड । सुरति-निरति (दे० पद १७ की टिप्पणी) (२) गहन-तजन = ग्रहण और त्याग ।

सतसे सत्त सुन्न कहलाई,
सत्त भँडार याहीके माँहीं,
निःतत रचना ताहि रचाई
जो सबहिनतें न्यारा है ॥८॥

अहद लोक वहाँ है भाई,
पुरुष अनामी अकह कहाई।
जो पहुँचे जानेगे वाही
कहन सुननते न्यारा है ॥९॥

रूप-सरूप कछू वहँ नाहीं,
ठौर-ठाँव कछु दीसै नाहीं।
अजर-तूल कछु दृष्टि न आई
कैसे कहूँ सुमारा है ॥१०॥

जापर किरपा करिहै साईं
अनहद मारग गावै ताही।
उद्भव परलय पावत नाहीं
जब पावै दीदारा हो ॥११॥

कहैं कबीर मुख कहा न जाई
ना कागदपर अंक चढ़ाई।
मानों गूँगे सम गुड़ खाई
कैसे बचन उचारा हो ॥१२॥ (३-४८)

७७

चल हंसा वा देस जहँ पिया बसै चितचोर।
सुरत सोहागिन है पनिहारिन, भरे ठाढ़ बिन डोर॥

---

७७ सुरत‥डोर = सुरतिरूपी सुहागिन जहाँ बिना डोरीके ही पानी भरती

वहि देसवाँ बादर ना उमड़ै रिमझिम बरसै मेह।
चौबारेमें बैठ रहो ना, जा भीजहु निदह॥
वहि देसवामें नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर।
एक सुरजकै कवन बतावै, कोटिन सुरज उँजेर॥ (३-६०)

७८

कहैं कबीर सुनो हो साधो, अंमृत-बचन हमार।
जो भल चाहो आपनो, परखो करो बिचार॥
जे करतातैं ऊपजै, तासों परि गयो बीच।
अपनी बुद्धि बिवेक-बिन, सहज बिसाही मीच॥
यहिमेंते सब मत चलै, यही चल्यौ उपदेस।
निश्चय गहि निर्भय रहो, सुन परम तत्त संदेस॥

है। डोरी यहाँ ध्यानके लिए व्यवहृत है। (तु० धागा टुटिगा गगन बिनसिगा) भाव यह है कि वहाँ सहज ही भगवान्‌के प्रति प्रीति बनी रहती है। मोह = आनंदवर्षा, समाधिके पक्षमें धर्ममेघ (दे० ६८ पदकी टिप्पणी)। चौबारे... निर्देह = वहाँ ओसारेमें बैठ रहनेकी जरूरत नहीं है, वहाँ बिना देहके ही उस आनन्दवृष्टिमें भीगना उचित है। क्योंकि देह वहाँ होती ही नहीं।

७८ परखो = परीक्षा करो। पारख पदके लिये दे० अनु० ७ जे...मीच = जिस कर्त्तासे उत्पन्न हुए उससे अज्ञानके कारण तुम भिन्न हो गये हो। अपनी ही या विवेकशून्य बुद्धिके कारण तुमने अनायास ही मृत्यु बिसाही है (बिसाहना = खरीदना)। यहिमेंते...सन्देस = इसी बुद्धिमेंसे सब मत और सब उपदेश निकले हैं (जो सब अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण भ्रान्त हैं)। तुम निश्चय करो और (सत्यको ग्रहण करके) निर्भय रहो और परम सत्यका सन्देश सुनो। धमार = गानविशेष, हुड़दंग। दूरहि करता...आस = कर्त्ताको दूर रख कर उससे विरुद्ध दूरकी बातकी आशा लगाते हो। बिसूर = पछताकर, दुःख करके।

केहि गावो केहि ध्यावहू, छोड़ो सकल धमार।
यह हिरदे सबको बसे, क्यों सेवो सुन्न-उजाड़ ॥
दूरहि करता थापिकै, करी दूरकी आस।
जो करता दूरै हुतै, तो को जग सिरजै पास ॥
जो जानो यहँ है नहीं, तो तुम धावो दूर।
दूरसे दूर भ्रमि भ्रमि, निष्फल मरो बिसूर ॥
दुरलभ दरसन दूरके, नियर सदा सुख-बास।
कहैं कबीर मोंहि व्यापिया, मत दुख पावै दास ॥
आप अपनपौ चीन्हहू, नख-सिख सहित कबीर।
आनंद-मंगल गावहू, होहि अपनपौ थीर ॥ (३–६३)

७९

नाहीं धर्मी नाहीं अधर्मी, ना मैं जती न कामी हो।
ना मैं कहता ना मैं सुनता, ना मैं सेवक-स्वामी हो।
ना मैं बंधा ना मैं मुक्ता, ना मैं बिरत न रंगी हो।
ना काहूसे न्यारा हूआ, ना काहूके संगी हो।
ना हम नरक-लोकको जाते, ना हम सुर्ग सिधारे हो।
सब ही कर्म हमारा कीया, हम कर्मनतें न्यारे हो।
या मतको कोई बिरलै बूझै, सो अटर हो बैठे हो।
मत कबीर काहूको थापै, मत काहूको मेटे हो ॥ (३-६६)

८०

सत्त नाम है सबतैं न्यारा।
निर्गुन-सर्गुन शब्द-पसारा ॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल-फूला।
साखा ज्ञान नाम है मूला ॥

---

७९ अटर = अटल।

मूल गहेतें सब सुख पावै ।
डाल-पातमें मूल गँवावै ॥
साईं मिलानी सुख दिलानी ।
निर्गुन-सर्गुन भेट मिटानी ॥ (३-६९)

८१

प्रथम एक जो आपै आप । निरकर निर्गुन निर्जाप ॥
नहिं तव आदि-अन्त-मध-तारा । नहिं तव अंध-धुंध उजियारा ॥
नहिं तव भूमि-पवन-आकासा । नहिं तव पावक-नीर-निवासा ॥
नहिं तव सरसुति-जमुना-गंगा । नहिं तव सागर-समुद-तरंगा ॥
नहिं तव पाप-पुन्न नहिं वेद-पुराना । नहिं तव भये कतेब-कुराना ॥
कहैं कबीर विचारिकै, तब कुछ किरपा नाहिं ।
परम पुरुष तहँ आपही, अगम-अगोचर माहिं ॥
करता कछु खावै नहिं पीवै । करता कबहूँ मरै न जीवै ॥
करताके कुछ रूप न रेखा । करताके कछु बरन न भेखा ॥
जाके जात-गोत कछु नाहीं । महिमा बरनि न जाय मो पाहीं ।
रूप-अरूप नहीं तेरा नाँव । बर्न-अबर्न नहीं तेहि ठाँव ॥ (३-७४)

८२

कहैं कबीर विचारिकै, जाकै बर्न न गाँव ।
निराकार और निर्गुना, है पूरन सब ठाँव ॥
करता आनंद खेल लाई, ओंकारते सृष्टि उपाई ॥
आनन्द धरती आनन्द आकास । आनन्द चंद-सूर परकास ॥
आनन्द आदि-अंत-मध-तारा । आनन्द अन्धकूप उजियारा ॥

---

८२ करता··· = कर्ताने आनन्दसे ही सब-कुछ उत्पन्न किया है और सब-कुछ आनन्द ही है । खेल=लीला ।

आनंद सागर-समुद्र-तरंगा। आनंद सरसुति जमुना-गंगा॥
करता एक और सब खेल। मरन-जनम बिरह मेल॥
खेल जल-थल-सकल जहाना। खेल जानौं जमी असमाना॥
खेलका यह सकल पसारा। खेल माँहिं रहै संसारा॥
कहैं कबीर सब खेलनमाहीं। खेलनहारकों चीन्हैं नाहीं॥ (३-७६)

८३

झी झी जंतर बाजै।
कर चरन बिहूना नाचै।
कर बिनु बाजै सुनै श्रवन बिनु
श्रवन श्रोता लोई।
पाट न सुबास सगा बिनु अवसर
बूझौ मुनि-जन सोई॥ (३-८४)

८४

मोर फकिरवा मांगि जाय,
मैं तो देखहू न पौल्यौं।
मंगनसे क्या मांगिये,
बिन मांगे जो देय।
कहैं कबीर मैं हौं वाही को,
होनी होय सो होय॥ (३-८९)

---

८३ कर चरन बिहूना = बिना हाथ पैरके। पाट न सुवास = न कोई पाट है न सुवास है। पाट = राज-सिंहासन। सुवास = प्रजाके बसानेका काम। सभा बिनु अवसर = कोई सभा नहीं है (जो नाच देखे)। किन्तु अवसर (सर्वावसर = आम दरबार) है। पाँचवीं पंक्तिका पाठ "पाट बिनु वास, सभा बिनु अवसर" ठीक जान पड़ता है। अवसर = दरबार। भाव यह कि राज-पाट तो उसके नहीं है पर उसने सबको वास दिया है और सभा अर्थात् दरबारी बैठक-घर तो उसके पास नहीं है पर उसका खुला दरबार लगा हुआ है।

८४ मेरा फकीर मुझसे कुछ माँग गया और मैं उसे देख भी नहीं पाया।

८५

नैहरसे जियरा फाट रे।
नैहर नगरी जिनके बिगड़ी, उसका क्या घर-बाट रे।
तनिक जियरवा मोर न लागै, तन मन बहुत उचाट रे।
या नगरीमें लख दरवाजा, बीच समुंदर घाट रे।
कैसेकै पार उतरिहैं सजनी, अगम पंथका पाट रे।
अजब तरहका बना तंबूरा, तार लगै मन मात रे।
खूँटी टूटी तार बिलगाना, कोउ न पूछत बात रे।
हँस हँस पूछै मातु-पितासों, भोरें सासुर जाब रे।
जो चाहैं सो वो ही करिहैं, पत वाहीके हाथ रे।
न्हाय-धोय दुल्हिन होय बैठी, जोहै पियकी बाट रे।
तनिक घुघटवा दिखाव सखीरी, आज सोहागकी रात रे
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, पिया-मिलनकी आस रे।
भोर होत बंदे याद करोगे, नींद न आवे खाट रे। (३-९९)

८६

जीव महलमें सिव पहुनवाँ, कहाँ करत उनमांद रे।
पहुछा देवा करिलै सेवा, रैन चली आवत रे।
जुगन जुगन करै पतीछन, साहबका दिल लाग रे।
सूझत नाहिं परम सुख-सागर, बिना प्रेम बैराग रे।

हाय मैं स्वयं भिखारी हूँ, मंगनसे क्या माँगना ! फिर उस मंगनसे माँगनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता जो बिना माँगे ही अपना सर्वस्व दे दे। फकीर कहते हैं कि मैं तो उसीका हूँ, अब जो होना हो सो होवे।

८५ तम्बूरासे शरीरका लक्ष्य है (दे० पद ३९ की टिप्पणी)। खूँटी-तार इन्द्रिय और अन्तःकरणकी ओर इशारा करते हैं। नैहरसे इस दुनियाका और सासुरसे परलोकका अर्थ लक्षित है।

सरवन सुर बुझि साहेबसे, पूरन प्रगट भाग रे।
कहै कबीर सुनो भाग हमारा, पाया अचल सोहाग रे॥

(३-९६)

८७

गगनघटा घहरानी साधो, गगनघटा घहरानी।
पूरब दिससे उठी है बदरिया, रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेंड़ सम्हारो, बह्यौ जात यह पानी।
सुरत-निरतका बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।
धान काट मार घर आवै, सोई कुसल किसानी।
दोनों थार बराबर परसैं, जेवैं मुनि और ज्ञानी॥ (१-७१)

८८

आज दिनके मैं जाउँ बलिहारी।
पीतम साहेब आहे मेरे पहुना, घर-आंगन लगे सुहौना॥
सब प्यास लगे मंगल गायन, भये मगन लखि छबि मनभावन॥
चरन पखारूँ बदन निहारूँ, तन-मन-धन सब साईंपै वारू॥
जा दिन पाये पिया धन सोई, होत अनंद परम सुख होई॥
सुरत लगी सत नामकी आसा, कहै कबीर दासनके दासा॥(३-११८)

---

८६ पहुनवाँ = अतिथि। सिव = परमात्मा। सरवन···से = जो शब्द कानोंसे सुना था उसे साहबसे समझ लो।

८७ गगनघटा (समाधि पक्षमें) समाधिकालकी धर्म-मेघकी वृष्टि। पूरब दिससे = पूर्वजन्मके पुण्यसे। मेंड़ सँभालनेसे संयम-नियमकी ओर इशारा है। धान काटना परम पुरुषार्थको पाना। दोनों थार = सुरति-निरतिकी थाकियाँ।

८९

कोई सुनता है ज्ञानी राग गगनमें, आवाज होती पानी।
सब घट पूरन पूर रह्या है, सब सुरनके खानी।
जो तन पाया खंड देखाया, तृस्ना नहीं बुझानी।
अंमृत छोड़ खंडरस चाखा, तृस्ना ताप तपानी॥
ओं अंग सो अंग बाजा बाजे, सुरत-निरत समानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यही आदकी बानी॥ (१–१००)

९०

मैं कासों कहों आपन पियकी बात री।
कहैं कबीर बिछुड़ नहिं मिलिहौ
ज्यों तरवर छोड़ बनधाम री॥ (१–१०८)

९१

संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री।
आसा तृस्नामें बहि गयो सजनी, कामके ताप सहो री॥
मान-मनीकी मटुकी सिरपर, नाहक बोझ मरो री॥
मटुकी पटक मिलो पीतमसे, साहेब कबीर कहो री॥ (३–१२)

---

८९ पानी=तीव्र, गभीर। छपी पोथियोंमें 'झीनी' पाठ है। जो तन··· तपानी=जिसने शरीर पाकर भी अपने-आपको खण्डसत्य ही दिखाया उसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं हुई। क्योंकि उसने सम्पूर्ण सत्यके अमृतरसको छोड़कर खण्डरसका ही आस्वादन किया। ओं अंग सो अंग='वे ही यह है और यही वे हैं' (क्षि० मो० से०)। छपी पोथियोंमें 'ओहं सोहं' पाठ है और पूरा पद योगमूलक है। कबीर-सम्प्रदायमें तीन ध्वनियोंकी चर्चा है—ओहं, सोहं और झंकार। इन तीनोंकी विरति होनेपर शुद्ध शब्द सुनाई देता है और उसमें सुरति और निरतिका लय हो जाता है।

९१ मान-मनी = मानना-मनाना।

९२

चरखा चलै सुरत बिरहिनका।
काया नगरी बनी अति सुंदर, महल बना चेतनका।
सुरत भाँवरी होत गगनमें, पीढ़ा ज्ञान-रतनका।
मिहीन सूत बिरहिन कातैं, माँझा प्रेम भगतिका।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, माला गूँथो दिन रैनका
पिया मोर ऐहैं पगा रखिहैं, आँसू भेंट देहौं नैनका। (३-११०)

९३

कोटिन भानु-चन्द्र-तारा-गन छत्रकी छाँह रहाई।
मनमें मन नैननमें नैना, मन नैना इक हो जाई।
सुरत सोहागिन मिलन पियाको, तनकै नयन बुझाई।
कहैं कबीर मिलै प्रेम-पूरा, पितामें सुरत मिलाई॥ (३-१११)

९४

अवधू बेगम देस हमारा।
राजा-रंक-फकीर-बादसा, सबसे कहौं पुकारा।
जो तुम चाहो परम पदको, बसिहो देस हमारा॥
जो तुम आये झीने होके, तजो मनकी भारा।

---

९२ सुरतिरूपी विरहिनीका चरखा चल रहा है। सुरत भाँवरी = प्रेमकी भाँवर जो ब्याहके समय वर-कन्या देते हैं। माँझा = वर-कन्याके वे पीले वस्त्र जो हल्दी चढ़नेपर पहने जाते हैं। माला गूँथों·· = दिन और रातकी माला (वर-माला) गूँथूँ (उन्हीं महीन सूतोंसे)। पगा रखि हैं = चरण रखेंगे, पधारेंगे। आँसू·· = आँखोंका आँसू उपहार दूँगा।

९४ बेगम देस = बिना गमका देश; समासोक्तिसे बेगम (रानी) का देश जिसके लिए बादशाह और राजा व्याकुल रहते हैं। मनकी भारा = मनकी

धरन-अकास-गगन कछु नाहीं, नहीं चन्द्र नहिं तारा।
सत्त-धर्मकी हैं महताबें, साहेबके दरबारा।
कहैं कबीर सुनो हो प्यारे, सत्त-धर्म है सारा॥ (१-९२)

९५

साँईके संग सासुर आई।
संग ना रही स्वाद ना जान्यो, क्यो जोबन सुपनेकी नाईं।
सखी-सहेली मंगल गावें, सुखदुख माथे हरदी चढ़ाई।
भयौ विवाह चली बिन दूलह, बाट जात समधी समझाई।
कहैं कबीर हम गौने जैबे, तरब कन्त लै तूर बजाई। (१-१०९)

९६

समुझ देख मन मीत पियरवा,
आसिक होकर सोना क्या रे।
पाया हो तो दे ले प्यारे,
पाय पाय फिर खोना क्या रे।
जब अँखियनमें नींद घनेरी,
तकिया और बिछौना क्या रे।
कहैं कबीर प्रेमका मारग,
सिर देना तो रोना क्या रे। (१-७५)

९७

साहेब हममें साहेब तुममें, जैसे प्राना बीजमें।
मत कर बन्दा गुमान दिलमें, खोज देख ले तनमें।
कोटि सूर जहँ करते झिलमिल, नील सिंध सोहै गगनमें।

कल्पनाका बोझ। जो तुम···=तुम यदि सूक्ष्म रूपमें आये हो तो मानसिक कल्पनाओंके भारको छोड़ दो। महताबें=ज्योतियाँ।

सब ताप मिट जाँय देहीकै, निर्मल होय बैठी जगमें ।
अनहद् घंटा बजै मृदंगा, तन सुख लेहि पियारमें ।
बिन पानी लागी जहँ बरषा, मोती देख नदीनमें ।
एक प्रेम ब्रह्माण्ड छाय रह्यो है, समझे विरले पूरा ।
अंध भेदी कहा समझैंगे, ज्ञानके घरतैं दूरा ।
बड़े भाग अलमस्त रंगमें, कबिरा बोलै घटमें ।
हंस-उबारन दुःख-निवारन, आवा-गमन मिटै छनमें । (२०९)

९८

रितु फागुन नियरानी, कोई पियासे मिलावे ।
पियाको रूप कहाँ लग बरनूँ, रूपहिं माँहि समानी ।
जो रंगरंगे सकल छवि छाके, तन-मन सभी भुलानी ।
यों मत जाने यहि रे फाग है, यह कुछ अकह-कहानी ।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, यह गत बिरले जानी ॥ (२-९८)

९९

नारद, प्यार सो अन्तर नाहीं ।
प्यार जागै तौही जागूँ प्यार सोवै तब सोऊँ ॥
जो कोई मेरे प्यार दुखावै जड़ा-मूलसों खोऊँ ॥
जहाँ मेरा प्यार जस गावै तहाँ करौं मैं बासा ।
प्यार चले आगे उठ धाऊँ मोहि प्यारकी आसा ॥
बेहद तीरथ प्यारके चरननि कोट भक्त समाय ।
कहैं कबीर प्रेमकी महिमा प्यार देत बुझाय ॥ (२-१११)

---

९९ जो कोइ··=जो कोई मेरे प्यारेको कष्ट देता है उसे जड़-मूलसे वंचित कर देता हूँ। बेहद··चरननि =प्रियके चरणोंमें अनेक तीर्थ बसते हैं। कोट·· समाय = वहाँ (चरण-तलमें) करोड़ों भक्त समा जाते हैं।

१००

कोई प्रेमकी पेंग झुलावै ।
भुजके खंभ और प्रेमके रससे,
तन-मन आजु झुलाव रे ।
नैनन बादरकी झर लाओ,
श्याम घटा उर छाव रे ।
आवत आवत श्रुतकी राहपर,
फिकर पियाको सुनाव रे ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
पियाको ध्यान चित लाव रे ।

(१-१२२)

१०१

मैं बुनि करि सिरांनां हो राम, नालि करम नहीं ऊबरे ।
दखिन कूंट जब सुनहा भूँका, तब हम सुगन बिचारा ।
लरके परके सब जागत हैं, हम घरि चोर पसारा हो राम ॥
तांनां लींन्हां बांनां लींन्हां, लीन्हें गोडके पऊवा ।
इत-उत चितवत कठवत लीन्हां, माँड चलवनां डऊवा हो राम ॥

---

१०० भुजके खम्भ···रे = दोनों भुजाओंके खम्भेपर प्रेमके रससे तन और मनको झुलाओ । आवत···रे = कानके पास आ-आकर प्रियको व्याकुलताकी बात सुनाओ ।

१०१ हे राम, मैं बुनकर थक गया हूँ, पर यह नालका काम खतम नहीं होता । (नाली = नाल, जुलाहोंकी नली, छूँछा) । दक्षिणी खूँट (किनारे) पर जब सुनहा (= कुत्ता) भोंका तब मैंने सगुन विचारा । (मुझे मालूम हुआ कि यद्यपि) लड़के-पड़के (बाल-बच्चे) सभी जगे हुए हैं तथापि मेरे घरमें चोर पैठ गया है (मृत्युका प्रवेश हो गया है) । ताना = कपड़ा बुननेके

एक पग दोइ पग त्रेपग, संधें संधि मिलाई।
करि परपंच मोट बँधि आयो, किलिकिलि सबै मिटाई हो राम॥
तांनां तनि करि बांनां बुनि करि, छाक परी मोहि ध्यान।
कहै कबीर मैं बुनिकै सिरांनां, जानत हैं भगवांनां हो राम॥

१०२

को बीनै प्रेम लागौ री माई को बीनै।
राम-रसाइण-माते री माई को बीनै।
पाई पाई तूँ पतिहाई, पाईकी तुरियाँ बेंचि खाई
री माई को बीनै॥
ऐसें पाई पर बिथुराई, त्यूँ रस आनि बनायौ
री माई को बीनै॥

लिये लंबाईमें तना हुआ सूत। बाना = चौड़ाईमें बुना जानेवाला सूत। गोड = टेढ़ी बँधी हुई दो कमठी या लकड़ियाँ जो तानेको दोनों तरफसे थामे रहती हैं। पउवा = 'गोड' का आधारकाष्ठ; कठवत = कठौती, काठका बर्तन। इसे जुलाहे माँडी साननेके लिये व्यवहार करते हैं। डउवा = डौआ, काठकी करछुल। एक पग··· = एक पग दो पग तीन पग बुनता हुआ, मैंने संधिमें संधि मिलाई, जोड़ बैठाया परन्तु सब प्रपंच करनेपर मोट बँध आया (कपड़ा बन नहीं सका) तब मैंने सब टंटा मिटा दिया। (अब) ताना तान लेनेके बाद और बाना बुन लेनेके बाद मुझे मस्ती (छाक, छकनेका भाव) का ध्यान आया है। हे राम, अब तो मैं बुनकर हार गया, भगवान् ही जानते हैं।

विशेष—जुलाहेसे मतलब चपल वृत्तिवाले मनुष्यसे है। कपड़ा बुनना—सांसारिक प्रपंचमें पड़ना। चोर—मृत्यु। छाक—सांसारिक प्रपंचोंसे हाथ खींचकर भगवद्भजनमें निमग्न होना। दे० पद १०४।

१०२ कौन बुने यह कपड़ा! माईरी, मुझे प्रेमका चस्का लग गया है, मैं राम-रसायन पीकर मतवाली बन गई हूँ। (पाई = सूतको सुलझाकर कूँचेसे साफ करनेकी क्रिया। पतिहाई = पतिया गई, विश्वास कर लिया। तुरियाँ=तुरी, कूँचा)

नाचै ताना नाचै बाना, नाचै कूँच पुरानां
 री माई को बीनै ॥
करगहि बैठि कबीरा नाचै चूहै काट्या तानां
री माई को बीनै ॥

१०३

अंमृत बरिसै हीरा निपजै,
घंट पड़ै टकसाल ।
कबीर जुलाहा भया पारषू
अनभै उतरया पार ॥१॥
कबीर हरि-रस यों पिया,
बाकी रही न थाकि

पाई···खाई = मैंने कूँचेसे सूता साफ करनेकी क्रिया पा ली है, यह बात तूने विश्वास कर ली, लेकिन मैं तो पाईकी तुरिया भी बेचकर खा गई ! उस क्रियाका साधन भी हजम कर गई । माई री कौन बुने ! ऐसैं···इस प्रकार (इस प्रेमका) कुछ ऐसा रस बन आया कि मैंने पाईपर यह सारा रस फैला दिया है, कौन बुने यह कपड़ा ! (इस रससे मत्त होनेके कारण मुझे दिख रहा है कि) ताना नाच रहा है, बाना नाच रहा है, कूँचा और भरना (तानाको भरनेवाला सूत) भी नाच रहे हैं और करिगह (बुननेके स्थान) में बैठा हुआ कबीर भी नाच रहा है । माईरी, इस तानेको चूहा काट गया है (यह कपड़ा बुननेके काम लायक रहा ही नहीं), कौन बुने भला इसे !

१०३ भगवान्‌का साक्षात्कार होनेपर जीव अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है । उस समय अमृतकी धारासार वर्षा होती है । उस वर्षामें हीरा (सबसे बहुमूल्य उज्ज्वल और अटूट होनेके कारण हीरा परम पदका सूचक है) उपजता है, उसकी प्रामाणिकता सूचित करनेके लिए टकसालका घंटा बजता रहता है (गुरुकी सार वाणीकी ध्वनि सुनाई देती है) । कबीर जुलाहा इसी प्रकार पारखी हुआ है (दे० परिशिष्ट १, अनु० ७) और अनुभवसे ही पार उतर गया है ॥१॥ थाकि = स्थिति; कबीरने हरिरस इस

पाका कलस कुंम्हारका,
बहुरि न चढ़ई चाकि ॥२॥

१०४

जोलहा बीनहु हो हरिनामा, जाके सुर-नर-मुनि धरे ध्याना ।
ताना तिनको अहुँठा लीन्हो, चरखी चारिहुँ बेदा ॥
सर-खूटी एक रामनरायन, पूरन, प्रगटे कामा ॥
भवसागर एक कठवत कीन्हों, तामहँ माँड़ो साना ॥
माँड़ाके तन माड़ि रहा है माँड़ी बिरले जाना ॥
चाँद-सुरज दुई गोड़ा कीन्हौं, माँझ-दीप कियो माँझा ।
त्रिभुवननाथ जा माँजन लागे, स्याम मुररिया दीन्हा ॥

प्रकार पिया है कि अब कोई जीने-मरनेकी स्थिति उसके लिए नहीं रह गई है । वह कुम्हारके उस पक्के कलशके समान हो गया है जो फिरसे चाकपर नहीं चढ़ता । (वह आवागमनके चक्करसे मुक्त हो गया है !)

१०४ यह बीजकका प्रसिद्ध पद (शब्द ६४) है । टीकाकारों ने इसके विस्तृत **अर्थ दिए हैं ।**

अहुँठा = वस्त्र मापनेका गज; यहाँ साढ़े तीन हाथ मापका शरीर । चरखी, वह यंत्र है जिसपर सूत लपेटा जाता है । सर-खूँटी = सरकण्डेकी लकड़ियाँ जो तानेको अलग-अलग किये रहती हैं । राम = चैतन्य; नारायण = चैतन्यका अधिष्ठान जड़ । माँड़ी = कपड़ेमें कलप देनेका मसाला विशेष । चाँद-सूर्य = इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ । माँझ-दीप = मध्यवर्ती द्वीप, सुषुम्ना । त्रिभुवननाथ = मन । मुररिया= (१) माँजते समय सूत टूट जानेपर जब उसे बाँधते है तो 'मुरेरा' देना कहते हैं, (२) मुरलीको स्मरण दिलाता है । पाई=सूत साफ करनेकी क्रिया । भरना = कमठियोंके बीचसे सूता निकालकर ताना भरा जाता है । बै बाँधे = तानाके आधे-आधे सूत नीचे-ऊपर ले जानेके लिए राछकी कमचियोंके छेदोंसे एक-एक तागा निकालकर बाँधते हैं, उसे बै बाँधना कहते हैं । माझा = सूतको माँजकर साफ करना । तिहुँलोक = तीन फेरी करके सूतको गाँस देते हैं उसे

पाई करि जब भरना लीन्हौं, बै बाँधे को रामा।
बै भरा तिहुँ लोकहिं बाँधै, कोइ न रहत उबाना॥
तीनि लोक एक करिगह कीन्हौं, दिगमग कीन्हौं ताना।
आदि पुरुष बैठावन बैठे, कबिरा जोति समाना॥

तिलोक कहते हैं (विश्व०)। उबान = कपड़ेमें जो सूत बाहर रह जाता है उसे उबान कहते हैं। करिगह = कपड़ा बुननेका स्थान। दिगमग=जहाँ-तहाँ डाल देना (विश्व०); दूसरे टीकाकार 'डगमग' अर्थात् चंचल अर्थ करते हैं। बैठावन = कपड़ेको समेटकर जुलाहा सूतोंको बैठावन बैठाता है अर्थात् जमाता है। पदका भाव यह है कि ऐ चपल वृत्तिवाले मनुष्य (जुलाहा), हरि-नामका कपड़ा बुनो जिसका देवता, मनुष्य और मुनि ध्यान करते हैं। इस शरीरके भीतर अगुष्ठमात्र जीवको मापनेका गज बनाओ, उन चारों वेदोंको चरखी बनाओ जिनमें सद्-विचारके सूत लिपटे हुए हैं, चेतन (राम) और अचेतन (नारायण) को सर और खूँटी बनाओ, भवसागरको कठौता बनाओ और उस कठौतेमें इस त्रिगुणात्मक शरीरको ही माँड़ी समझो। कोई विरला ही इसे जानता है, क्योंकि यद्यपि यह कपड़ेकी माँड़ीकी भाँति फलस्वरूप है तो भी कपड़ेकी माँड़ीके समान ही माँजनेपर निर्मल बना देनेका साधन भी है। जुलाहे कपड़ेमें माँड़ी देकर माँजते हैं जिससे कपड़ेकी मैल कट जाती है। यहाँ मन ही माँजनेवाला है। इस कपड़ेके तानेको इड़ा और पिंगला नाड़ियोंके गोड़ेसे फैलाओ और मनके द्वारा उनकी मध्यवर्ती नाड़ी सुषुम्नाका शोधन करो (माँजो)। माँजते समय यदि सूत टूट जाय तो श्याम नामकी गाँठ बाँध दो जो श्यामकी मुरलीके समान तुम्हारा ध्यान अपनी ओर खींचे रहेगा। कूँचेसे सूता साफ करके जब इस हरिनामके वस्त्रका भरना भरो तो 'राम' नामके दो अक्षरोंका बै बाँध लो। जिस प्रकार जुलाहे बै भरनेके बाद तिलोका बाँधते हैं उसी प्रकार तुम भी त्रैलोक्यको इन नाममें बाँध लो, तब तो कहीं कोई वस्तु उबान न रह जायगा। तीनों लोकको ही करिगह बनाओ, फिर तानाको उठाकर अलग रखो और आदि पुरुषका बैठावन बैठाओ अर्थात् इस हरिनामके वस्त्रके प्रत्येक सूतको इस प्रकार जमाकर बैठाओ कि आदिपुरुषमय हो जाय और तुम्हें अपना सच्चा रूप सूझ जाय। कबीरदास कहते हैं कि इसी प्रकारका कपड़ा बुनकर वे ज्योतिमें समा गए हैं।

१०५

जहिया किरतम ना हता, धरती हती न नीर।
उतपति परलय ना हता, तबकी कहैं कबीर॥

१०६

हौं तो सबहीकी कहौं, मोकों कोउ न जान।
तबौ भला अब भी भला, जुग जुग होउँ न आन॥१॥
कलि खोटा, जग आँधरा, सब्द न मानै कोय।
जाहि कहौं हित आपुना, सो उठि बैरी होय॥२॥
मसि-कागज छूयो नहिं, कलम गही नहिं हात।
चारिउ जुगको महातम मुखहि जनाई बात॥३॥
बोली हमरी पूर्बकी, हमें लखै नहिं कोय।
हमको तो साईं लखै, धुर पूरबका होय॥४॥

१०७

आसन-पवन किये दृढ़ रहु रे। मनका मैल छाँड़ि दे बौरे।
क्या सींगी-मुद्रा चमकायें, क्या बिभूति सब अंग लगायें।
सो हिंदू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहै ईमान।
सो ब्राह्मन जो कथै ब्रह्मगियान, काजी सो जानै रहेमान।
कहैं कबीर कछु आन न कीजै, राम-नाम जपि लाहा लीजै॥

---

१०५ जहिया = जिस दिन। किरतम = करनेवाला, कर्त्ता। किसी-किसी टीकाकारने कृत्रिम अर्थ किया है और किसीने कार्य। परन्तु करनेवाला ही ठीक जान पड़ता है (तु० ऊपर २९ वाँ पद)। हती = थी।

१०६ पूर्वकी = (१) पूर्व दिशाकी (२) प्राचीन युगकी।

१०७ लाहा = लाभ। सींगी मुद्रा आदिके लिए दे० पृ० २८।

१०८

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मुनि चढ़ा गगन-रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।
गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुवा, भव-भाठीं करि भारा।
सुषमन-नारी सहजि समानीं, पीवै पीवनहारा।
दोई पुड़ जोड़ि चिगाई, भाठी चुआ महारस भारी।
काम-क्रोध-दुई किया पलीता, छूटि गई संसारी।
सुनि मंडलमें मँदला बाजै, तहँ मेरा मन नाचै।
गुरुप्रसादि अंमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै।
पूरा मिल्या तबै सुख उपज्यो तपकी तपनि बुझानी।
कहै कबीर भव बंधन छूटै, जोति हि जोति समानी।

---

१०८ उन्मुनि = समाधि। गगनरस = शून्यचक्रमें प्राप्य आनंद, भावाभाव-विनिर्मुक्ता अवस्था (दे० पृ० ७६)। गुड़ करि'' संसारी = (मदिरा रूपक है) ज्ञानके गुड़ और ध्यानके महुआसे संसाररूपी भट्टीमें महारस (आनन्द) की मदिरा चुआई। दोनों लोकमे दो पुटोंको जोड़कर यह रस चुआया गया है। भट्टीको जलानेके लिए काम और क्रोधके दो पलीते बनाए हैं। सुषुम्ना नाड़ीरूपी नारी सहजमें समाकर इस रसको पिला रही है और पीनेवाला छक कर पी रहा है। इस महारसके पानसे संसारके बंधन—संकोच, झिझक, लज्जा—छूट गए हैं। सुंनि''शून्य चक्रमें मादल बज रहा है और वहाँ मेरा मन नाच रहा है। गुरुप्रसादि''काछै = गुरुके प्रसादसे सहज ही सुषुम्नाके पास मैंने अमृत-रस पा लिया। काययोगके द्वारा जो रस मिलता है वह क्षणिक होता है किन्तु जबतक सहज समाधिकी अवस्था प्राप्त नहीं होती, जबतक ज्ञान और ध्यानका बना हुआ महारस नहीं पी लिया जाता तबतक पूर्ण मिलन नहीं होता। पूरेके मिलनेसे ही वास्तविक आनंद मिलता है। तप अर्थात् कृच्छ्र-साधनाका ताप दूर होता, भव-बन्धन छूट जाता है और ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है।

इस पदमें बताया गया है कि मदिरा (पंचमकारका एक प्रधान उपादान) से मत्त बनना कोई बड़ी बात नहीं है। ज्ञान और ध्यानके द्वारा सहज ही

१०९

अवधू, भजन भेद है न्यारा।
क्या गाये क्या लिखि बतलाये, क्या भर्मे संसारा।
क्या संध्या-तर्पनके कीन्हें, जो नहिं तत्त बिचारा।
मूँड़ मुड़ाये सिर जटा रखाये, क्या तन लाये छारा।
क्या पूजा पाहनकी कीन्हें, क्या फल किये अहारा।
बिन परिचे साहिब हो बैठे, विषय करै ब्यापारा।
ग्यान-ध्यानका मर्म न जानै, बाद करै अहँकारा।
अगम अथाह महा अति गहिरा, बीज न खेत निवारा।
महा सो ध्यान मगन है बैठे, काट करमकी छारा।
जिनके सदा अहार अंतरमें केवल तत्त बिचारा।
कहैं कबीर सुनो हो गोरख तारौं सहित परिवारा।

११०

रस गगन गुफामें अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ समुझि परै जब ध्यान धरै।

भगवान्‌का जो परिचय मिलता है वही वास्तविक सुखका कारण होता है। कृच्छ्र-तपोंसे केवल ताप ही बढ़ता है। अन्तरके ज्ञानसे ही भगवत्प्राप्तिका परिपूर्ण आनन्द मिलता है और परम ज्योतिमें आत्मज्योति मिल जाती है।

१०९ बिन-परिचे···ब्यौपारा = बिना परिचयके ही तुम साहेब (मालिक) हो बैठे और विषयोंका व्यापार करने लगे! बाद करै = व्यर्थ ही अहंकार करते हो। अगम···छारा = इन दंभी भेषोंने "भजनभेदरूपी बीजको, जो अगम, अथाह और महा गहिरा है, अपने हृदयरूपी खेतमें नहीं बोया; जिन सच्चे भक्तोंने उसे महा अर्थात् मथा वह कर्मकी मैलको काटकर ध्यानमें मगन हो बैठे।" (शब्दा० पृ० ४९) जिनके···विचारा = आहार सदा केवल अन्तरका तत्त्वविचार ही है।

११० गगन-गुफा = पिण्डका सर्वोच्च स्थान, सत्यलोक (दे० पृ० ५९ आ०)

बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चंदा उँजियारी दरसै, जहँ-तहँ हंसा नजर परै।
दसवें द्वारे तारी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल विकट नहिं आवै, काम-क्रोध-मद लोभ जरै।
जुगन जुगनकी तृषा बुझानी, कर्म-भर्म-अघ-ब्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै।

१११

चुवत अमीरस भरत ताल जहँ, शब्द उठै असमानी हो।
सरिता उमड़ सिंधुको सोखै, नहिं कछु जात बखानी हो॥
चाँद-सुरज-तारागण नहिं वहँ, नहिं वहँ बिहानी हो।
बाजे बजें सितार-बाँसुरी, ररंकार मृदु बानी हो॥
कोट झिलमिली जहँ वह झलकै, बिन जल बरसत पानी हो।

अजर = जराहीन, नित्य नवीन। दसवें···धरै = दसवें द्वारपर समाधि लगी, तब वह अलख पुरुष दिखा जिसका (योगी लोग) ध्यान करते हैं (दे० पृ० ६३) बिना ताल···परै = बिना सरोवरके कमल, कमलके बिना फूल, चन्द्रके बिना ज्योत्स्ना आदिसे कबीरका तात्पर्य यह है कि प्रफुल्लता या आह्लादकता प्रभृति धर्म लोकमें बिना ठोस गुणमय आधारके नहीं दिखते, किन्तु जिस आनन्द-लोककी बात वे बता रहे हैं वहाँ प्रफुल्लता आदि धर्म तो हैं पर उनके ठोस आधार पुष्पकी आकृति आदि नहीं हैं और न उनके ठोस गुणमय हेतु सरोवर आदि हैं वहाँ। प्रफुल्लता आह्लादकता आदि अनवच्छिन्न (एब्सट्रैक्ट) धर्मकी विभूतिमात्र होती है।

१११ अमीरस = अमृत रस। अस्मानी शब्द = अनाहत नाद। सरिता··· सोखै = नदी उमड़कर समुद्रको सुखा लेती है अर्थात् भक्ति भवसागरको सुखा देती है, संसारिक ताप दूर कर देती है। ररंकार = ध्वनिविशेष। कबीरसम्प्रदायमें तीन ध्वनियोंके सुनाई देनीकी चर्चा आती है—सोहं सोहं (ॐ) और ररंकार।

शिव-अज-बिस्नु-सुरेश-सारदा, निज निज मति अनुमानी हो ॥
दस अवतार एक तत राजैं, असतुति सहज सयानी हो।
कहैं कबीर भेदकी बातें, बिरला कोइ पहिचानी हो ॥
कर पहचानि फेर नहिं भावै, जम जुलमीकी खानी हो ॥२२॥

११२

अवधू, कुदरतिकी गति न्यारी।
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी ॥
ये ते लवंगहिं फल नहिं लागे, चंदन फूल न फूलै।
मच्छ शिकारी रमै जंगलमें, सिंह समुद्रहिं झूलै ॥
रेड़ा रूख भया मलयागिर, चहूँ दिसि फूटी बासा।
तीन लोक ब्रह्मांड खंडमें देखै अंध तमासा ॥
पंगुल मेरु सुमेर उलंघै त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकासै अनहद बानी बोलै ॥
बाँधि अकास पताल पठावै सेस सरगपर राजै।
कहै कबीर राम हैं राजा जो कछु करैं सो छाजै ॥

कोट...= पानी—करोड़ों बिजलीकी झिलमिलाहट वहाँ झलकती रहती है और दिन-रात (आनंद-वारिकी) वर्षा होती रहती है। एक तत राजैं= एक समान विराजते हैं।

११२ सीधा अर्थ यह जान पड़ता है कि रामकी माया, चाहे तो रंकको राजा कर दे; राजाको रंक; लौंगमें फल लगा दे, चंदनमें फूल; रेंड़को मलयागिरि बना दे और उससे सुगंधी निकलने लगे; अंधा तीन लोक ब्रह्माण्ड खंडमें तमासा देखने लगे, पंगु (लँगड़ा) मेरु सुमेरु लाँघने लगे और मुक्त (निर्बाध) होकर संसारमें डोलता फिरे, गूँगा ज्ञान-विज्ञान प्रकाशित करता फिरे और अनहद बानी बोलने लगे, आकाशको बाँधकर पातालमें पठा दे और शेष नागको स्वर्गमें भेज दे। कबीर कहते हैं कि राम ही राजा हैं। जो कुछ कहें वही उन्हें शोभता है। सांप्रदायिक व्याख्याओंके लिए दे० शब्द २३, पर त्रिज्या और विश्व०।

११३

अगिनी जु लागी नीरमें, कंदू जलिया झारि ।
उतर-दखिनके पंडिता, रहे बिचारि बिचारि ॥१॥
गुरु दाझा चेला जला, बिरहा लागी आगि ।
तिणका बपुरा ऊबरथा, गलि पूरेकै लागि ॥२॥
अहेड़ी दौं लाइया, मिरग पुकारे रोइ ।
जा बनमें क्रीड़ा करी, दाझत है बन सोइ ॥३॥
पाणीं माहै परजली भई अप्रबल आगि ।
बहती सलिता रह गई, मच्छ रहे जल त्यागि ॥४॥
समँदर लागी आगि, नदियाँ जलि कोयला भईं ।
देखि कबीरा जागि, मच्छी रूखा चढ़ि गईं ॥५॥

---

११३ (१) पानीमें आग लगी और कंदू=भड़भूजा, आग लगानेवाला, जल गया। आग भगवद्विरह, पानी भव-सागर और कंदू मनकी कल्पना है। टीकाओंमें 'कंदू' का अर्थ कीचड़ दिया हुआ है (कर्दम-कंदव-कंदू)। उस अर्थको माननेपर भाव यह होगा कि पानी कीचड़तक जल गया, उसका कोई अवशेष नहीं बचा ! उदर-दखिनके पंडिता=उत्तरके ज्ञानमार्गी योगी, दक्षिणके वैष्णव-मार्गी आचार्य नहीं समझ सके। (२) गुरु (भगवान्) ने आग लगाई। चेला= जीवका अहंकार-भाव अर्थात् अपनेको पृथक् माननेका अभिमान। आग= विरहाग्नि। तिनका = इस शब्दके दो भाव हैं, एक तृण और दूसरा उनका। (तदीय जन) अर्थात् भक्त। तिनका अर्थ हुआ निरभिमान भक्त। गलि पूरेकै लागि = पूरेके गले लगकर, पूर्णसे मिलकर (भक्त बच गया) (३) अहेड़ी= अहेरी (गुरु)। दौं = दावाग्नि (विरहाग्नि)। दाझत है = जलता है। मिरग = मृग (मन) (४) पाणी···परजली = पानीमें प्रज्वलित हुई। अप्रबल = बलवान्। सलिता = नदी। (५) समुद्र (भवसागर); नदियाँ = प्रवृत्तियाँ। मच्छ = जीव। रूखाँ = ऊर्ध्व ब्रह्माण्डमें।

११४

कासों कहों को सुने को पतियाय, फुलवाके छुवेके भँवर मरि जाय।
गगन-मँडल महँ फूल एक फूला, तरि भा डार उपर भा मूला।
जोतिये न बोइये सिंचिये न सोय, बिनु डार बिनु पात फूल एक होय।
फूल भल फूलल मालिनि भल गांथल, फुलवा बिनसि गैल भँवरा निरासल॥
कहँहिं कबीर सुनहु संतो भई, पंडित-जन फूल रहत लुभाई।

११५

चंद-सूर दोई खंभवा, बंक नालिकी डोरि।
झूल पंच पियरियाँ तहँ झूलै पिय मोर॥ १॥
द्वादस गमके अंतरा, तहँ अंमृतकौ ग्रास।
जिनि यहु अंमृत चाषिया, सो ठाकुर हम दास॥ २॥
सहज सुंनिकौ नैहरौ, गगन-मँडल सिरि मौर।
दोऊ कुल हम आगरी, जौ हम झूलं हिंडौल॥ ३॥
अरध-ऊरधकी गंगा जमुनां, मूल कंवलकौ घाट।
षट चक्रकी गागरी, त्रिबेणी-संगम बाट॥ ४॥

---

११४ फुलवा = कमल। भौंरा = जीवात्मा। भँवर-गुफामें ३२ दलके श्वेत कमलकी बात बताई जाती है। इसीको 'निजपद' कहते हैं। यहाँ पहुँचनेपर जीवका अहंभाव नष्ट हो जाता है। परन्तु यहाँ भी उसे सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त होता। जब इस गुफासे ऊपर उठता है तब उसे निरंकार देशमें सत्य पुरुषका साक्षात्कार होता है। फिर वह समस्त आशा-आकांक्षाओं और राग-विरागके ऊपर चला जाता है। फूलके छूनेसे मरनेवाला जीवका अहंभाव और फूलके नष्ट होनेसे निराश होना उसी परमपदको सूचित करता है। कमलोंकी माला गूँथनेवाली कुण्डलिनी है।

११५ (१) चन्द-सूर = इड़ा और पिंगला। बंक नालि = कुण्डलिनी। पाँच पियरिया = पाँच ज्ञानेन्द्रिय। पिय = मन।

नाद-बिंदकी नाव री, रामनाम कनिहार ।
कहै कबीर गुण गाइले, गुर गंमि उतरौ पार ॥ ५ ॥

११६

उलटि जात-कुल दोऊ बिसारी । सुन्न सहज महि बुनत हमारी ।
हमरा झगरा रहा न कोऊ । पंडित-मुल्ला छाँड़ै दोऊ ।
बुनि बुनि आप आप पहिरावौं । जहँ नहीं आप तहाँ ह्वै गावौं ।
पंडित-मुल्ला जो लिखि दीया । छाँड़ि चले हम कछू न लीया ।
रिदै खलासु निरखि ले मीरा । आजु खोजि खोजि मिलै कबीरा ॥

---

(२) द्वादस गम = बारह अन्तराल । ५ कर्मेन्द्रिय, ५ ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि (तुल०—इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तु सः) । अमृत चाषिया = अमृत चखा, निजरूपको समझ सका ।

(३) सहज शून्य मेरा नैहर है, गगन-मंडलकी मौर मेरे सिरपर है अर्थात् गगन-मण्डल मेरा सासुरा है । हम दोनों कुलकी गुन आगरी हैं । तभी हम दोनों हिंडोरा झूल रही हैं । मेरे लिए सहज और समाधि दोनों समान रूपसे आवश्यक हैं ।

(४) गंगा = इड़ा, यमुना = पिंगला, त्रिवेणी = ब्रह्मरन्ध्र (दे० पृ० ४५) ।

(५) नाद बिंद = नाद और बिंदु । कनिहार = कर्णधार, पतवार पकड़नेवाला । गुर गमि = गुरुके बताए मार्गसे ।

११६ उलटि...हमारी = मैंने जाति और कुल दोनोंको बिसार दिया है । शून्य और सहजमें ही मैं अपना कपड़ा बुनता हूँ । बुनि बुनि आप...स्वयं ही बुनता हूँ और स्वयं अपने आपको पहनता हूँ ।...जहँ गावौं = जहाँ अपने आपको नहीं पाता वहीं जाकर गान गाता हूँ । (गानके द्वारा अपने आपको पानेका प्रयत्न करता हूँ ।) रिदै...ऐ मीर, देख ले मेरा हृदय खलास है । इसमें पंडितों और मुल्लाओंकी कोई बात नहीं रह गई है ।

११७

धरती-गगन-पवन नहिं होता, नहिं तोया नहिं तारा।
तब हरि हरिके जन होते, कहै कबीर बिचारा॥
जा दिन कृत्तम नां हुता, होता हट न पट।
हुता कबीरा राम-जन, जिन देखे अवघट घट॥

११८

बूझहु पंडित, करहु बिचारी, पुरुष अहै की नारी।
बाम्हनके घर बाम्हनि होती, योगीके घर चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि भई तुरुकिनी, कलिमें रही अकेली।
बर नहिं बरै ब्याह नहिं करई, पुत्र-जन्म-होनिहारी।
कारे-मूंडे एक नहिं छाँड़ै, अब ही आदिकुँवारी॥
रहै न मैके जाइ न ससुरे सांईके सँग सोवै।
कह कबीर वह जुग जुग जीवै जाति-पाँति-कुल खोवै॥

११९

अवधू, ऐसा ग्यान बिचारं।
भेरे चढ़े सु अधधर डूबै, निराधार भये पारं॥

---

११७ एक सौ पाँचवें पद्यके समान भाव है।

११८ मायाका वर्णन है। कारे = काले केशवाले, गृहस्थ। युवा। मूंड़े = मुंडित केशवाले, संन्यासी। रहै न मैके... = न मैके रहती है न सासुरे जाती है, फिर भी पतिके साथ सोती है। माया अनादि है इसलिए उसके मैकेका प्रश्न ही नहीं उठता, उसका पतिगृह समस्त जगत् है अतएव सासुरे जानेका सवाल नहीं उठता। वह मायापति अपर ब्रह्मके साथ नित्य बनी रहती है।

११९ भेरे = भेलेपर, छोटी नावपर। पेड़पत्तोंको काटकर उतराकर बहने लायक भेला बनाया जाता है। यहाँ जड़ शरीरसे मतलब है। जो लोग इस जड़ शरीर-

अधर चले सो नगरि पहूँने बाट चले ते लूटे।
एक जेवड़ी सब लपटाँनें के बाँधेके छूटे॥
मन्दिर पैसि चहूँ दिसि भींगे, बाहरि रहे ते सूषा।
सरि मारे ते सदा सुखारे, अनमारे ते दूषा॥
बिन नैननके सब जग देखै, लोचन अछते अंधा।
कहै कबीर कछु समझि परी है, यह जग देख्या धंधा॥

१२०

राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरषनाथि जांणी।
नाति सरूप न छाया जाकै, बिरध करै बिन पांणी॥
बेलड़िया द्वै अणीं पहूँती, गगन पहूँती सैली।
सहज बेलि जब फूलण लागी, डाली कूपल मेल्ही॥
मन-कुंजर जाइ बाड़ी बिलग्या, सतगुर बाही बेली।
पंच सखी मिलि पवन पयंप्या, बाड़ी पांणी मेल्ही॥
काटत बेली कूपले मेल्ही, सींचताड़ीं कुमिलांणीं।
कहै कबीर ते बिरला जोगी, सहज निरन्तर जांणीं॥

रूपी भेलेको ही सब-कुछ समझकर इसीपर भरोसा करके भव-सागरमें चल पड़े वे अधधर (आधी धारमें) डूब गए। निराधार = शरीरको सब-कुछ न समझकर इसके भीतरवाले चैतन्यको आधार करनेवाले। अधर चले = जो लोग अधर मार्गसे या शून्य मार्गसे चले वे अर्थात् नगरमें अपने गन्तव्य स्थानतक पहुँच गए। वाट = रास्ता, बाह्याचार, मदिर = घर। चहूँ दिसि भीगे = जो लोग विषय-वासनाके मंदिरमें घुसे वे भीग गए, पर जो बाहर रहे वे सूखे रहे। सरि = चितापर, भगवद्विरहकी आगसे मतलब है। दूषा = दुःखी रहे। बिन नैनन = बाहरी आँखोंके अभावमें और ज्ञान-चक्षुसे। लोचन अछते = बाहरी आँखोंके रहते हुए।

१२० भक्तिरूपी राम गुनकी बेल (लता) को अवधूत गोरखनाथने जाना था। न उसकी जाति (नाति) है, न रूप है, न छाया है। बिना पानीके वृद्धि पाती है। बेलके दो सिरे हैं जिनमें एक अवनीमें और दूसरी गगनमें फैली हुई

१२१

सावज न होय भाई सावज न होइ,
वाकौ मांसु भखैं सब कोइ।
सावज एक सकल संसारा अविगत वाकी बाता।
पेट फारि जो देखिय रे भाई, आहि करेज न आँता।

है। यह सहज बेल जब फूलने लगी अपनी डालियों और कोपलोंको फैलाकर—तब मनरूपी हाथीने इसके थालेको बरबाद कर दिया, फिर तो सतगुरुने इस बेलिको सहारा दिया। पाँच सखियोंने मिलकर (पाँच ज्ञानेंद्रियोंने) इस रामगुनकी बेलको हवा की और बाड़ीमें पानी डालकर सींचा (विषयरससे सींचा)। परन्तु आश्चर्य यह है कि इस बेलको जब काटा जाता है तब तो इसमें नये-नये कोंपल आते हैं और जब सींचा जाता है तो कुम्हला जाती है (क्योंकि काटनेका मतलब है रामगुणरूपी बेलको नीचेसे काटकर ऊपरकी ओर ले जाना और सींचनेसे मतलब है विषयरससे सिक्त करना)। कोई विरला ही योगी इस निरन्तर सहज लताको जानता है।

इस पदसे मिलता-जुलता एक गोरखबानी (पृ० १०६–१०८) में छपा है। इस पदमें 'तत बेली' अर्थात् तत्त्वरूप लताकी चर्चा है। कबीरवाले पदमें जिस स्थानपर "बेलड़ियाँ···" आदि पंक्तियाँ हैं वहाँ गोरखबानीवाले पदका पाठ इस प्रकार है—

बेलड़ियाँ दौं लागी अवधू, गगन पहूंती झाला।
जिम जिम बेलीं दाझवा लागी, तब मेल्है कूंपन डाला॥

अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं।

काटत बेली कूपले मेल्हीं सींचतड़ा कुमलाये।
मछिन्द्रप्रसादें जती गोरख बोल्या नित नवेलड़ी थाये॥

१२१ सावज = शिकार (अर्थात् माया द्वारा कल्पित यह मिथ्या जगत्), मांसु भखैं = मांस खाते हैं, भोग करते हैं। सावज···बाता = यह सारा संसार एक शिकार है जिसकी बात समझमें नहीं आती। आहि···आँता = न कलेजा है, न आँत है क्योंकि वह संपूर्ण मिथ्या है। हाड़—पँवारै = विवेकी लोग उसका हाड़

ऐसी वाकौ मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई।
हाड़-गोड़ ले घूर पँवारै, आगि-धूआँ नहिं खाई।
सीर-सींग किछु वो नहिं वाके, पूँछ कहाँ तैं पावै।
सभ पंडित मिलि धंधे परिया, कबीर बनौरी गावै॥

१२२

संतो यह अचरज भो भाई, कहौं तो को पतिआई॥
एकै पुरुख एक है नारी, ताकर करहु बिचारा।
एकै अंड सकल चौरासी, भर्म भूल संसारा॥
एकै नारी जाल पसारा, जगमें भया अँदेसा।
खोजत काहू अंत न पाया, ब्रह्मा-बिस्नु महेसा॥
नाग-फाँस लीन्हें घट भीतर, मूसि सकल जग खाई।
ज्ञान खड्ग बिन सब जग जूझै, पकरि काहु नहि पाई॥
आपहि मूल फूल-फुलवारी, आपहि चुनि चुनि खाई।
कह कबीर तेई जन उबरे, जेहिं गुरु लिये जगाई॥

१२३

संतो, धागा टूटा गगन विनसि गया,
सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहि निस-दिन ब्यापै,
कोइ न कहै समझाई॥

और गोड़ (पैर) सब घूरेपर फेंक देते हैं, अर्थात् उसे पूर्ण रूपसे त्याग देते हैं। सीर=सिर। सभ...गावै=सभी पंडित इसे देखकर गोरख-धंधेमें पड़ गये और कबीरदास कहते हैं कि वे लोग 'बनौरी' (अपने मनसे बनाई हुई, बनावट बातें) गा रहे हैं।

१२२ मायाका वर्णन है। मूसि=ठगकर।

१२३ धागा=सूत, ध्यानका सूत्र। हे सन्तो, अनेक हठयोगी क्रियाओंके बा

नहीं ब्रह्मंड प्यंड पुनि नांही,
पंच तत्त भी नाहीं।
इला-प्यंगला-सुषमन नांहीं,
ए गुण कहाँ समांहीं॥

नहीं ग्रिह-द्वार कछू नहीं तहियाँ,
रचनहार पुनि नाहीं।
जोवनहार अतीत सदा सँगि,
ये गुण तहाँ समाहीं॥

टूटै बँधै बँधै पुनि टूटै,
जब तब होइ बिनासा।
तबको ठाकुर अबको सेवग,
को काकै बिसवासा॥

कहै कबीर यहु गगन न बिनसै,
जा धागा उनमांना।
सीखें-सुनें-पढ़ें का होई,
जा नहिं पदहि समांना॥

जो ध्यानरूपी सूत्र तैयार हुआ वह जब टूटा तो गगनवास या शून्य-समाधि भी नष्ट हो गई और जो अनाहत ध्वनि सुनाई देती रही वह भी न जाने कहाँ चली गई। मुझे यह संदेह बराबर बना हुआ है, पर कोई समझाके नहीं कहता (दे० खसमपर विचार)। वस्तुतः जो परमपद है वहाँ पिण्ड, ब्रह्माण्ड, पंचतत्त्व, इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियाँ यह सब-कुछ है ही नहीं (अतएव इन्हींके आश्रयसे जिस स्थानतक गया है वह इन्हींके समान नाशवान् है)। जोवनहार·· = देखने-वाला आत्मा तो इनके अतीत है और सदा उसके साथ है, ये सब गुण उसीमें समा जाते हैं। तबको··बिसवासा = उस समयका मालिक अब सेवक हो जाता है अर्थात् मनुष्यका वह अहंभाव जो इन क्रियाओंके समय मालिक बना रहता है, परमपुरुषके साक्षात्कार होनेके बाद निरहंकार होकर दास हो जाता है। अहंभाव इस निरहंकारपर विश्वास नहीं करता और यह उसपर नहीं। कहै··

१२४

कर पल्लवके बल खेल नारि।
पंडित जो होय सो ले बिचारि॥
कपरा नहिं पहिरै रहे उघारि।
निरजीवै सो धन अति पियारि॥
उलटी-पलटी बाजै सो तार।
काहुहि मारै काहुहि उबार॥
कह कबीर दासनके दास।
काहुहि सुख दे काहुहि उदास॥

१२५

ए गुनवन्ती बेलरी, तव गुन बरनि न जाय।
जहँ काटे तहँ हरियरी, सींचे ते कुम्हिलाय॥

=कबीर कहते हैं कि इस सेवक-भावका जो धागा है (निरीह भक्तका जो ध्यानसूत्र है। वह मेरी समझमें ऐसा है जिससे कभी भी समाधि नहीं टूटती (क्योंकि वह सहज हो जाती है)। जो उस परमपदमें एकमेक होकर समा नहीं गये उन्हें सीखने-सुनने और पढ़नेसे क्या होता है!

१२४ नारि=वाणी। कपरा··=कपड़ा नहीं पहनती, नंगी ही रहती है। संसारको भरमानेवाले तथाकथित पंडितोंकी वाणी केवल हाथसे लिखी हुई है (समझी हुई नहीं है)। अतएव कर-पल्लवके बलसे ही खेलती है। उसके अर्थ गूढ़ नहीं होते इसलिए वह मानों ऐसी है जो कपड़ा नहीं पहनती, उघाड़ी फिरती है। इस धन (धन्या=घरकी दुलारी) को निर्जीव वस्तुएँ ही प्यारी हैं। इसकी वीणा उलटी-सुलटी बजती रहती है, किसीको मारती है; किसीको उबारती है। परन्तु जो भगवान्के भक्त हैं उनपर इसकी प्रभुता नहीं चलती। वह उनकी दासी हो जाती है। इस प्रकार वह किसीको सुख देती है, किसीको दुःख।

१२५ गुनवन्ती बेलरी=भक्ति (तुल० पद १२०)। करुवाई बेलि=माया। सिद्ध नाम=भगवान्के नामकी सिद्धि।

ए करुवाई बेलरी, हैं करुवा फल तोय।
सिद्ध नाम जब पाइये, बेलि बिछोहा होय ॥

१२६

राम तेरी माया दुंद मचावै।
गति-मति वाकी समझि परै नहिं, सुर-नर मुनिहिं नचावै।
का सेमरके साखा बढ़ये, फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लागि रहे हैं, चाखत सुवा उड़ानी ॥
कहा खजूर बड़ाई तरी, कल कोई नहीं पावै।
ग्रीखम रित अब आइ तुलानी, छाया काम न आवै ॥
अपना चतुर औरको सिखवै, कामिनि-कनक सयानी।
कहैं कबीर सुनो हो सन्तो, राम-चरण रति मानी ॥

१२७

ई माया रघुनाथकी बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, काहु न राखे नेरा हो।
मौनी-बीर-दिगंबर मारे, ध्यान धरंते जोगी हो।
जंगलमें के जंगम मारे, माया किन्हहुँ न भोगी हो।

---

१२६ दुंद = द्वंद्व, बखेड़ा। बानी = बानेका, ढँगका वर्ण-बान। चातक = अभिलाषी पक्षी। भला सेमरकी शाखा बढ़ानेसे और अनुपम ढंगका सुंदर फूल खिलानेसे क्या फायदा, जिसमें अनेक फलाभिलाषी पक्षी लगे रहते हैं, पर फल चखते ही सूआ (तोता) उड़नेको बाध्य होता है। खजूरकी बड़ाई (लम्बाई) से क्या लाभ, जब ग्रीष्म ऋतुमें उसकी छाया किसी काम नहीं आती। ऐसी निरर्थक बातें तुम्हारी मायाने खड़ी कर रखी हैं। वह अपनी चातुरी औरोंको सिखा देती है और वे भी इसी प्रकार निष्फल सौंदर्यसे दूसरोंको धोखा देते हैं। कामिनी (स्त्री) और सोनेमें यही सयानापन है। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो, (यह सब देखकर) हमने रामचरणमें ही प्रीति मानी है।

बेद पढ़ंते बेदुआ मारे, पुजा करंते सामी हो ।
अरथ विचारत पंडित मारे, बाँधेउ सकल लगामी हो ।
सिंगी रिषि बन भीतर मारे, सिर ब्रह्माका फोरी हो ।
नाथ मछंदर चले पीठि दै, सिहलहूमें बोरी हो ।
साकटके घर करता-धरता हरि-भगतनकी चेरी हो ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जौं वावै तौं फेरी हो ॥

१२८

अब हम जाना हो हरि बाजीको खेल ।
डंक बजाय देखाय तमाशा, बहुरि सो लेत सकेल ।
हरि बाजी सुर-नर-मुनि जहँड़े, माया चेटक लाया ।
घरमें डारि सबन भरमाया, हिरदय ज्ञान न आया ।
बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुनकी मति ऐसी ।
कह कबीर जिन जैसी समझी, ताकी गति भइ तैसी ।

१२९

बांगड़ देस लूवनका घर है, तहँ जिनि जाइ दाझनका डर है ।
सब जग देखौं कोइ न धीरा, परत धूरि सिर कहत अबीरा ॥
न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहाँ सतगुरु साधू-वाणी ॥
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचै चढ़ि चढ़ि हंसा मूवा॥

---

१२७ बीर = शैव-विशेष । दिगंबर = जैनियोंका संप्रदायविशेष और नागा संन्यासी । जंगम = जंगम साधु । सामी = स्वामी, संन्यासी । बाँधेउ ··हो = सबको लगामसे बाँध रखा है । शृङ्गी ऋषि = वनमें तप करते थे फिर भी स्त्रीपर आसक्त हुए थे । ब्रह्माका सिर फोड़ दिया = मति भ्रष्ट कर दी । मछंदरनाथ सिंहलकी स्त्रियोंके प्रेममें आसक्त हो गये थे, गोरखनाथने उनका उस जालसे, उद्धार किया था । साकट = शाक्त, वाममार्गी ।

१२८ हरि ··खेल = भगवान्‌की बाजीगरीका खेल; मायाकी लीला ।

देश मालवा गहर गँभीर, डग डग रोटी पग पग नीर ॥
कहै कबीर धरती मन मांनां, गूंगेका गुड़ गूँगै जांणा ॥

१३०

रहना नहिं देस बिराना है ।
यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े धुल जाना है ।
यह संसार काँटकी बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है ।
यह संसार झाड़ औ झाँखर, आग लगे बरि जाना है ।
कहत कबीर सुना भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ।

१३१

(बुढ़िया) हँसि बोले मैं नितहीं बारि, मोसों कहु तरुनी कवनि नारि ।
दाँत गयल मोर पान खात, केस गयल मोर गंग न्हात ।
नयन गयल मोर कजरा देत, बयस गयल पर-पूरुष लेत ।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजानेका करों सिंगार ।
(कहहिं) कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहि बैठी खाय ।

१३२

सुवटा डरपत रहु भाई, तोहि डराई देत बिलाई ॥
तीनि बार रूँधै इक दिनमैं, कबहुँक खता खवाई ॥

---

१२९ बांगड़ देस = बाँगर देश, नदीहीन प्रदेश । लूवन = लूकी लपटें । दाझन = जलना । यह संसारकी विषयवासना ही बाँगर देश है । मालवा = माल-भूमि, उपजाऊ जमीन ।

१३० देस बिराना = (१) वीरान देश, मरुभूमि, (२) दूसरेका देश, (३) अज्ञात देश ।

१३१ बुढ़िया=माया । बारि=बाला, युवती । गयल=गया । जान पुरुषवा= चतुर पुरुष जो अपनेको ज्ञानी समझते हैं । अनजानेका = अज्ञात ब्रह्मके लिए ।

१३२ सुवटा=सुग्गा । बिलाई = बिल्ली । यहाँ जीव और मायासे मतलब है ।

या मंजारी मुगध न माँनै, सब दुनियाँ डहकाई ।
राणाँ-राव रंककौं व्यापै, करि करि प्रीति सवाई ॥
कहत कबीर सुनहु रे सुवटा, उबरै हरि सरनाई ।
लाषौं माँहिं तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखाई ॥

१३३

"तुम्ह घरि जाहु हमारी बहना, विष लागैं तिहारे नैंना ॥
अंजन छांड़ि निरंजन राते, ना किसहींका दैनां ।
बलि जाऊं ताकी जिनि तुम्ह पठई, एक भाई एक बहनां ॥"
"राती खाँडी देखि हमारा सिंगारो ।
सरग-लोकथैं हम चलि आई, करन कबीर भरतारी ॥"
"सरगलोकमें क्या दुख पड़िया, तुम्ह आई कलिमाँही ।
जाति जुलाहा नांम कबीरा, अजहुँ पतीजौ नाहीं ॥
तहाँ जाहु जहाँ पाट-पटंबर, अगर चंदन घसि लीनां ।
आइ हमारै कहा करौगी, हम तौ जाति कमीनां ॥
जिनि हम साजे साज्य निवाजे, बाँधे काचै धागे ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, पाणी आगि न लागै ॥
साहिब मेरा लेखा माँगै, लेखा क्यूं करि दीजै ।
जे तुम्ह जतन करौ बहुतेरा, तो पाहण नीर न भीजै ॥
जाकी मैं मछी सो मेरा मछा सो मेरा रखवालू ।
टुक एक तुम्हारै हाथ लगाऊँ तौ राजाराम रिसालू ॥

तीनि···सवाई = कभी तो खता खा जायगा, धोखा खा जायगा, इस आशासे दिनमें तीन बार राह रोककर खड़ी होती है । मंजारी = बिल्ली । मुगध = मूर्ख । डहकाई = दुःख दे रही है । लाषौं···दिखाई = लाखोंकी भीड़में भी अचानक धर दबोचती है, किसीको दिखाई नहीं देता ।

१३३ कबीर और मायाका संवाद है । "ऐ मेरी बहन माया, तुम अपने घर जाओ, तुम्हारी आँखोंमें विष लगा है । हम तो अंजनरूप संसारको छोड़कर

जाति जुलाहा नाम कबीरा बनि बनि फिरौं उदासी ।
आसि-पासि तुम्ह फिरि फिरि सौ एक माउ एक मासी ।।"

१३४

माया महा ठगनी हम जानी ।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै, मधुरी बानी ।।
केसवके कमला होइ बैठी, सिवके भवन भवानी ।
पंडाके मूरत होइ बैठी, तीरथहूमें पानी ।
जोगीके जोगिन होइ बैठी, राजाके घर रानी ।
काहूके हीरा होइ बैठी, काहूके कौड़ी कानी ।
भक्तनके भक्तिन होई बैठी, ब्रह्माके ब्रह्मानी ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी ।

१३५

अब मोहि ले चलु ननदके बीर अपने देसा ।
इन पंचन मिलि लूटी हूँ, संग-संग, आहि बिदेसा ।
गंगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनतीर खरिहाना ।
सातों बिरवी मेरे नीपजै, पांचूं मोर किसाना ।
कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहतां कही न जाई ।।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रहै समाई ।।

निरंजनमें माते हैं, हमें किसीसे क्या लेना-देना ! बलिहारी है उनकी जिन्होंने तुम्हें भेजा है । हम एक भाई और एक बहन हैं ।" इस पर माया कहती है—"ऐ कबीर, इस लाल तलवार (मदमत्त नयनों) को देखो, यह मेरा शृङ्गार देखो । मैं स्वर्गलोकसे कबीरको पति बनानेके लिए आई हूँ ।"

इसके बाद कबीरका उत्तर है । पतीजौ = प्रतीति । जाकी··· = मैं जिसकी मछली हूँ वही मेरा मछुआ है और वही मेरा रखवाला भी है (तुम मुझे नहीं पकड़ सकतीं) । रिसाहू = खीजेंगे, अप्रसन्न होंगे ।

१३५ ननदके बीर = ननदके भाई, पति । पंचन = पाँच इंद्रिय । संग··

१३६

लावौ बाबा आगि जलावो घरा रे।
ता कारनि मन धंधै परा रे।
इक डाइनि मेरे मनमें बसे रे।
नित उठि मेरे जियको डँसे रे।
ता डाइनिके लरिका पाँच रे।
निसि-दिन मोहि नचावैं नाच रे।
कहै कबीर हूँ ताकौ दास,
डाइनिके सँग रहै उदास।

१३७

बहुरि नहिं आवना या देस।
जो जो गये बहुरि नहिं आये, पठवत नाहिं सँदेस।
सुर-नर-मुनि और पीर औलिया, देवी-देव-गनेस।
धरि धरि जनम सबै भरमे हैं, ब्रह्मा-बिस्नु-महेस।
जोगी जंगम और संन्यासी, दीगम्बर दरबेस।
चुंडित-मुंडित-पंडित लोई, सुर्ग रसातल सेस।
ग्यानी गुनी चतुर औ कविना, राजा रंक-नरेस।
कोई रहीम कोइ राम बखानै, कोई कहै आदेस।
नाना भेष बनाय सबै मिलि, ढूँढ़ि फिरे चहुँ देस।
कहैं कबीर अंत ना पैहौ, बिन सतगुरु उपदेस।

विदेसा = ये विदेशमें साथ-साथ हैं। गंगतीर' ' 'किसान = इड़ाके तटपर मेरी खेती होती है और पिंगलाके किनारे खलिहान है। सातों बीज मेरे खेतमें पैदा होते हैं। सातों बीज सात धातुएँ—चर्म, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य हैं। पाँच मेरे किसान हैं। ये पाँचों ज्ञानेंद्रिय हैं।

१३६ आगि = भगवद्विरहकी अग्नि। घरा = मोह-मायाकी दुनिया। डाइनि = ममता। लरिका पाँच = पाँच इन्द्रियोंके विषय।

१३८

कहूँ रे जे कहिबेकी होइ।
नां को जानै नां को मांनैं, ताथैं अचिरज मोहि ॥
अपने अपने रंगके राजा, मांनत नाहीं कोइ ॥
अति अभिमान लोभके घाले, चले अपनपौ खोइ ॥
मैं मेरी करि यहु तन खोयौ, समझत नहीं गँवार ॥
भौजलि अधफर थाकि रहे हैं, बूड़े बहुत अपार ॥
मोहि आग्या दई दयाल दयाकरि, काहूकू समझाइ ॥
कहै कबीर मैं कहि कहि हार्‌यो, अब मोहि दोस न लाइ ॥

१३९

भारी कहौं तो बहु डरौं, हलका कहौं तो झूंठा।
मैं का जांणों रामकूँ, नैनूं कबहुँ न दीठा ॥१॥
ऐसा अद्‌भुत जिनि कथै, अद्‌भुत राखि लुकाइ।
बेद कुरानाँ गमि नहीं, कह्यां न को पतिआइ ॥२॥
करताकी गति अगम है, तूं चल अपणैं उनमान।
धीरैं धीरैं पांव दे, पहुँचैंगे परवान ॥३॥

१४०

ऐसा भेद बिगूचन भारी ॥
बेद-कतेब दीन अरु दुनियां, कौन पुरुषि कौन नारी ॥
एक बूँद एकै मल-मूतर, एक चाम एक गूदा ॥
एक जोतिथैं सब उत्पन्ना, को बाम्हन को सूदा।

---

१३७ आदेस = गोरखपंथी लोग 'आदेश' 'आदेश' कहते हैं।

१३८ ताथैं = उससे। भौजलि' ' 'अपार = भव-जलमें कुछ आधे सूधे लोग तैरते-तैरते थक गये हैं और न जाने कितने डूब गये।

१३९ जाणों = जानूँ। दीठ = दिखाई दिया। गमि = पहुँच। कह्यां = कहने पर। आपणैं उनमान = अपने अनुमानसे। परवान = परिणाममें, अन्तमें।

रज-गुन ब्रह्मा तम-गुन संकर, सत-गुन हरि है सोई ।।
कहै कबीर एक नाम जपहु रे, हिंदू तुरक न कोई ।।
माटीका प्यंड सहजि उपपंनां, नाद रु ब्यंद समांनां ।
बिनसि गयां थैं का नांव धरिहौ, पढ़ि गुनि भ्रंम जांनां ।।

१४१

साधो एक रूप सबमांहीं ।
अपने मनहिं बिचारि कै देखो और दूसरो नाहीं ।।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै विप्र सूद्रके मांहीं ।
कहीं नारि कहीं नर होइ बोलै गैब पुरुष वह नाहीं ।।
सब्द पुकारि सत्त में भाखौं अन्तर राखौं नाहीं ।
कहै कबीर ज्ञान जेहि निरमल बिरलै ताहि लखाहीं ।।

१४२

मैं कासें बूझौं अपने पियाकी बात री ।
जान सुजान प्रान-प्रिय पिय बिन, सबै बटाऊ जात री ।
आसा नदी अगाध कुमति बहै, रोकि काहू पै न जात री ।
काम-क्रोध दोउ भये करारे, पड़े विषय-रस मात री ।
ये पाँचों अपमानके संगी, सुमिरनको अलसात री ।
कहै कबीर बिछुरी नहिं मिलिहौ, ज्यौं तरवर बिन पात री ।

१४३

या करीम बलि हिकमति तेरी,
खाक एक सूरति बहुतेरी ।।

---

१४० विगूचन = उलझन। कतेब = किताब, कुरान। सूदा = शूद्र। ब्यंद = बिंदु। बिनसि··· = जो नष्ट हो गया उसका क्या नाम दूँ ?

१४१ गैब पुरुष = कोई दूसरा अद्भुत पुरुष।

१४२ बटाऊ = राही।

अर्ध गगन मैं नीर जमाया,
बहुत भाँति करि नूरनि पाया ॥
अवलिय-आदम-पीर-मुलाना
तेरी सिफति करि भये दिवाना ॥
कहै कबीर यहु हेतु बिचारा
या रब या रब यार हमारा ॥

१४४

(जाके) बारह-मास वसंत होय, (ताके) परमारथ बूझै विरला कोय ।
बरिसै अगिनि अखंड धार, हरिहर भौ-बन (अ)ठारह भार ।
पनिया आदर धरी न लोय, पवन गहै कस मलिन धोय ।
बिनु तरिवर फूलै आकास, सिव-बिरंचि तहँ लेहिं बास ।
सनकादिक भूलै भँवर बोय, लख-चौरासी जोइनि जोय ।
जो तोहि सतगुरु सत्त लखाव, ताते न छूटे चरन भाव ।
अमर लोक फल लावै चाव, कहँहिं कबीर बूझ सो पाव ।

१४५

डँड़िया फदाय धन चलु रे, मिलि लेहु सहेली ।
दिना चारिको संग है, फिर अंत अकेली ।

---

१४३ करीम = दयालु । खाक एक···बहुतेरी = एक ही मिट्टीसे अनेक रूप उत्पन्न किये हैं । अर्ध···नीर = मेघका पानी । नूर = प्रकाश । अवलिय = औलिया, सन्त, महात्मा । सिफति करि = गुणगान करके । रब = पालनकर्ता ।

१४४ परम पदका वर्णन है । जाके···जोय = वहाँ बारह महीने नित्य वसन्त रहता है । यद्यपि अग्नि (तेज)की अखण्ड धारा बरसती रहती है तो भी बन अट्ठारह भार (संपूर्ण) हरयाली धारण किये रहता है । पानीके प्रति लोग आदर नहीं रखते तो भला पवनसे मैल धोई जा सकती है । पानी = भक्ति । पवन = हठयोग । वहाँ बिना वृक्षके ही आकाश पुष्पोंसे भरा रहता है, शिव और ब्रह्मा उन फूलोंकी महकका रस लेते हैं, सनकादिक मुनि अमर होकर भूले हुए हैं और चौरासी लाख योनियोंको देखते रहते हैं ।

दिन दस नैहर खेलि ले, सासुर निज भरना।
बहियाँ पकरि पिय ले चले, तब उजर न करना।
इक अँधियारी कोठरी, दूजे दिया न बाती।
लेहिं उतारि ताही घराँ, जहँ संगि न साथी।
इक अँधियारी कुइयाँ, दूजे लेजुर टूटी।
नैन हमारे अस ढुरैं, मानो गागर फूटी
दास कबीरा यों कहै, जग नाहिन रहना
संगी हमरे चलि गये, हमहूँको चलना।

१४६

अमरपुर ले चलु हो सजना।
अमरपुरीकी सँकरी गलियाँ, अड़बड़ है चढ़ना।
ठोकर लगी गुरु-ज्ञान शब्दकी, उधर गये झपना।
वोहि रे अमरपुर लागि बजरिया, सौदा है करना।
वोहि रे अमरपुर संत बसतु हैं, दरसन है लहना।
संत समाज सभा जहँ बैठी, वहीं पुरुष अपना।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, भवसागर है तरना।

१४७

बाबा अगम-अगोचर कैसा, तातें कहि समझाओं ऐसा।
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।
सैना-बैना कहि झमझाओं, गूँगेका गुड़ भाई।
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसौ नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पंडित करौ बिचारा।

---

१४५ डँड़िया = डण्डेमें लगी हुई एक तरहकी पालकीनुमा सवारी। धन = धन्या, दुलहिन। लेजुर = रज्जु, रस्सी।

१४७ दृष्टि...आवै = न आँखोंसे दिखाई देता है, न मुट्ठीमें पकड़ा जाता है, अदृश्य और अग्राह्य।

१४८

रेख-रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह।
गगन-मँडलके मध्यें, रहता पुरुष विदेह ॥१॥
साँई मेरा एक तू और न दूजा कोइ।
जो साहब दूजा कहै, दूजा कुलको होइ ॥२॥
सर्गुणकी सेवा करौ, निर्गुणका करु ज्ञान।
निगुण सगुणके परे, तहैं हमारा ध्यान ॥३॥

१४९

साईं मोर बसत अगम पुरवा जहँ गमन हमारा।
आठ कुँआ नव बावड़ी सोरह हैं पनिहार।
महल घइलवा थरकि गयल रे धन ठाढ़ी मन मार।
छोट मोट डँड़िया चंदनकै हो, छोट चार कहार।
जाय उतरिहैं वाहीं देसवाँ हो, जहाँ कोई ना हमार।
ऊँची महलिया साहेबकै हो, लगी बिखमी बजार।
पाप-पुन्न दोऊ बनिया हो, हीरा लाल अपार।
कह कबीर सुन साइयाँ मोर याँहिय देस।
जो गये सो बहुरे ना को कहत संदेस॥

---

१४९ आठ कुआँ नौ बावड़ी = आठ दिशाएँ और नवखंड अर्थात् समूचा जगत्। कूप और बावड़ी इसलिए कहा जाता है कि इससे जीव अपना जीवन-रस संग्रह करता है। जीवनका एक अर्थ जल भी है (तु० जीवानां भरणाधारो जगदेतज्जलाशयः)। सोरह पनिहार = पाँच ज्ञानेंद्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन। घइलवा = घड़ा अर्थात् यह शरीररूपी घट! धन = दुलहिन, जीव। घड़ा ढरक गया अर्थात् जीवनी-शक्ति समाप्त हो गई। चार कहारा = शव वहन करनेवाले आदमी।

१५०

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी ।
जिहि मिटियाके घरमँह बैठे, तामँह सिस्ट समानी ।
छपन कोटि जादव जहँ भींजे, मुनिजन सहस अठासी ।
पैग पैग पैगंबर गाड़े, सो सब सरि भौ माँटी ।
तेहि मिटियाके भाँड़े पाँड़े, बूझि पियहु तुम पानी ॥
मच्छ-कच्छ घरियार बियाने, रुधिर-नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आवै, पसु-मानुस सब सरिया ॥
हाड़ झरी झरि गूद गरी गरि, दूध कहाँतें आया ।
सो लै पाँड़े जेंवन बैठे, मटियहिं छूति लगाया ॥
बेद कितेब छाँड़ि देउ पाँड़े, ई सब मनके भरमा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो पाँड़े, ई तुम्हरे हैं करमा ॥

१५१

साधो, पाँड़े निपुन कसाई ।
बकरी मारि भेड़िको धाये, दिलमें दरद न आई ।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, बिधिसों देवि पुजाई ।
आतम मारि पलकमें बिनसे, रुधिरकी नदी बहाई ।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभामाहिं अधिकाई ।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवै मोहिं भाई ।
पाप-कटनको कथा सुनावैं, करम करावें नीचा ।
बूड़त दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खींचा ।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, कलिमें बाम्हन खोटे ॥

१५२

जो पैं बीजरूप भगवाना,
तो पंडितका कथिसि गियाना ॥
नहिं तन नहिं मन नहिं अहँकारा
नहिं सत-रज-तम तीनि प्रकारा ॥
विष-अंमृत-फल फले अनेक,
बेद रु बोधक हैं तरु एक ॥
कहै कबीर इहै मन माना,
केहिधू छूट कवन उरझाना ॥

१५३

पंडित वाद बदन्ते झूठा ।
रामा कह्यां दुनियां गति पावै,
खाँड कह्यां मुख मीठा ॥
पावक कह्यां पाव जे दाझै,
जल कहि त्रिषा बुझाई ।
भोजन कह्यां भूख जे भाजै,
तो सब कोइ तिरि जाई ।

---

१५२ यदि भगवान् बीजरूप हैं तब तो सब उन्हींका परिणाम है फिर तन, मन, अहंकार तथा सत्त्व-रज-तम आदि गुणोंकी पृथक् सत्ता कहाँ रही ? वेद और वेदके बोधक ये दोनों ही वृक्ष हुए, जिसके विष और अमृत नाना फल लगे हुए हैं। कबीर कहते हैं कि यह सारा प्रपंच मनका कल्पित है, इसमें भला किससे छूटा जाय और किससे उलझा जाय । यह पद कुछ पाठान्तरके साथ बीजकमें आता है। कुछ टीकाकार लोग इसे परिणामवादके खण्डनमें लिखा हुआ बताते हैं ।

१५३ पंडित झूठा वाद वदता है। राम कहनेमात्रसे यदि दुनिया गति पाती तो खाँड़ (चीनी) कहनेसे मुँह मीठा हो जाता । आग कहनेसे दाह होता

नरकै साथि सूवा हरि बोले,
हरि परताप न जानै।
जो कबहूँ उड़ि जाइ जँगलमें,
बहुरि न सुरतैं आनै॥
साँची प्रीति विषै मायासू,
हरि भगतनि-सूँ दासी।
कहै कबीर प्रेम नहिं उपज्यौ,
बांध्यौ जमपुरि जासी॥

१५४

पाँड़े न करसी बाद-बिबादं।
या देही बिन सबद न स्वादं।
अंड ब्रह्मंड खंड भी माटी,
माटी नवनिधि काया।
माटी खोजत सतगुरु भेट्या,
तिन कछु अलख लखाया।
जीवत माटी मूवा भी माटी
देखौ ग्यान बिचारी।
अति काली माटीमें वासा
लैटै पाँव पसारी॥

और पानी कहनेसे प्यास बुझती, इत्यादि। नरकै ''जानै = आदमीके साथ जब-तक तोता रहता है तबतक हरिनाम लेता है। पर जब कभी जंगलमें उड़ जाता है तो याद भी नहीं करता।

१५४ पंडित, वाद = विवाद न कर। यह सब-कुछ मिट्टी ही है। थंभा = खंभा। व्यंद = बिंदु। भानै = तोड़ता है। घड़ै = गढ़ता है।

माटीका चित्र पवनका थंभा
ब्यंद संजोगि उहाया।
भाँनैं घड़ै संवारै सोई,
यहु गोब्यंदकी माया।
माटीका मंदिर ग्यानका दीपक
पवन बाति उजियारा॥
तिहि उजियारै सब जग सूझै,
कबीर ग्यान बिचारा॥

१५५

तुम बूझहु पंडित कवन नारि। कोइ नाहिं बिआइल रह कुमारि॥
येहि सब देवन मिलि हरिहिं दीन्ह। तेहि चारहुँ युग हरि संग लीन्ह॥
यह प्रथमहिं पद्मिनि रूप पाय। है साँपिनि सब जग खेदि खाय॥
ई बर युवतीके बार नाह। अति रे तेज तिया रै निताह॥
कह कबीर सब जग पियारि। यह अपने बलकवै रहै मारि॥

---

१५५ बिआइल = प्रसव किया। नारि = माया। किसीने मायाको जन्म नहीं दिया। अर्थात् वह अनादि है। रह कुमारि = वह किसीकी विधिपूर्वक पत्नी नहीं हुई। यह··खाय = इसने पहले पद्मिनीका रूप पाया। पद्मिनी, सुलक्षणा स्त्री। बाद में सर्पिणीकी भाँति सारे संसारको खा गई। ई··नाह = इस नवयुवतीके नाह (पति) इसके सामने अभी बच्चे ही हैं क्योंकि शिव, विष्णु आदि जिन देवताओंको 'मायापति' समझा जाता है वे वस्तुतः माया द्वारा कल्पित उपाधियोंके कारण ही पृथक्-पृथक् नामवाले देवता बने हुए हैं। माया अनादि है, देवगण सादि। इसीलिए यह स्त्री नित्य ही उनके सामने तेज बनी रहती है। निताह = नित्य ही। कह··मारि = कबीर कहते हैं कि यह माया समस्त जगत्को प्रिय लगती है, किन्तु अपने बालकोंको ही मारकर जी रही है। क्योंकि जन्म-मृत्युके भवचक्रमें पड़े हुए जीव वस्तुतः मायाके कारण ही नश्वर शरीर आदिको आत्मा मानकर नाना प्रकारका क्लेश पाते हैं और बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़ते हैं। इस प्रकार यह माया अपने ही बालकोंको मार रही है।

१५६

चलन चलन सबको कहत है,
नाँ जानौं बैकुंठ कहाँ है।
जोजन एक प्रमिति नहि जान,
बातनि ही बैकुंठ बखानैं ॥
जब लग है बैकुंठकी आसा,
तब लग नहिं हरिचरननिवासा ॥
कहें-सुनें कैसें पतिअइये,
जब लग तहाँ आप नहिं जइये ॥
कहैं कबीर यहु कहिये काहि,
साधो संगति बैकुंठहिं आहि ॥

१५७

कर पकरैं अंगुरी गिनैं, मन धावै चहुँ ओर।
जाहि फिरायाँ वो मिलै, सो भया काठकी ठौर ॥१॥
केसाँ कहा बिगाड़िया, जो मूंड़ै सौ बार।
मनकौं काहे न मूंड़िए, जामैं विषै-विकार ॥२॥
बैस्नौ भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
छापा-तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ॥३॥

१५८

क्या है तेरे न्हाई-धोई, आतमराय न चीन्हा सोई।
क्या घट ऊपरि मंजन कीयैं, भीतरि मैल अपारा।
राम-नाम बिन नरक न छूटै, जो धोवै सौ बारा।

का नट भेखै भगवा बस्तर, भसम लगावै लोई ।
ज्यूँ दादुर सुरसरि-जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई ।।
परिहरि काम राम कहि बौरे, सुनि सिख बंधू मोरी ।।
हरिकौ नाँव अभैपददाता, कहै कबीरा कोरी ।।

१५९

मन बनियाँ बनिज न छोड़ै ।
जनम जनमका मारा बनियाँ, अजहूँ पूर न तौले ।
पासँग कै अधिकारी लैले, भूला भूला डोलै ।
घरमें दुबिधा कुमति बनी है, पल पलमें चित तोरै ।
कुनबा वाके सकल हरामी, अंमृतमें विष घोलै ।
तुमहीं जलमें तुमहीं थलमें, तुमही घट घट बोलै ।
कहै कबीर वा सिषको डरिये, हिरदे गाँठि न खोलै ।।

१६०

लोका मतिके भोरा रे ।
जो कासी तन तजै कबीरा,
तौ रामहिं कहा निहोरा रे ।
तब हम वैसे अब हम ऐसे,
इहै जनमका लाहा रे ।
राम-भगति-परि जाकौ हित चित
ताकौ अचिरज काहा रे ।
गुरु-परसाद साधकी संगति,
जन जीतें जाइ जुलाहा रे ।

कहै कबीर सुनहु रे सन्तो,
भ्रंमि परै जिनि कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर
हिरदै राम सति होई रे।

१६१

पूजा-सेवा-नेम-व्रत, गुड़ियनका-सा खेल।
जब लग पिउ परसै नहीं, तब लग संसय मेल॥

१६२

जाति न पूछो साधकी, पूछि लीजिये ज्ञान।
मोल करो तरवारका, पड़ा रहन दो म्यान।
हस्ती चढ़िए ज्ञानकौ, सहज दुलीचा डारि।
स्वान-रूप संसार है, भूँकन दे झक मारि॥

१६३

मेरा-तेरा मनुआँ कैसे इक होई रे।
मैं कहता हौं आँखिन देखी, तू कहता कागदकी देखी।
मैं कहता सुरझावनहारी, तू राख्यौ उरझाई रे।
मैं कहता तू जागत रहियो, तू रहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे।
जुगन जुगन समुझावत हारा, कही न मानत कोई रे।
तू तो रंडी फिरै बिहंडी, सब धन डारे खोई रे।
सतगुरु धारा निर्मल बाहै, वामैं काया धोई रे।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, तब ही वैसा होई रे॥

१६४

दुलहिन अँगिया काहे न धोवाई।
बालपनेकी मैली अँगिया विषय-दाग परि जाई।
बिन धोये पिय रीझत नाहीं, सेजसें देत गिराई।
सुमिरन ध्यानकै साबुन करि ले सत्तनाम दरियाई।
दुबिधाके भेद खोल बहुरिया मनकै मैल धोवाई।
चेत करो तीनों पन बीते, अब तो गवन नगिचाई।
पालनहार द्वार हैं ठाढ़े अब काहे पछिताई।
कहत कबीर सुनो री बहुरिया चित अंजन दे आई॥

१६५

मोरी चुनरीमें परि गयो दाग पिया।
पाँच तत्तकी बनी चुनरिया, सोरहसै बँद लागे जिया।
यह चुनरी मोरे मैकेतें आई, ससुरेमें मनुवाँ खोय दिया।
मलि मलि धोई दाग न छूटे, ज्ञानको साबुन लाय पिया।
कहैं कबीर दाग कब छुटिहै, जब साहब अपनाय लिया।

१६६

तेरा जन एक आध है कोई।
काम क्रोध अरु लोभ विवर्जित, हरिपद, चीन्हैं सोई॥
राजस-तामस-सातिग तीन्यूँ, ये सब तेरी माया।
चौथे पदकौं जे जन चीन्हैं, तिनहि परम पद पाया॥

---

१६४ अंगिया = यहाँ शरीरसे मतलब है। दुलहिन जीवात्मा है।
१६६ सातिग = सात्त्विक।

असतुति-निंदा-आसा छाँड़ै, तजै मान अभिमाना।
लोहा-कंचन समि करि देखै, ते मूरति भगवाना॥
च्यंतै तो माधौ च्यंतामणि हरिपद रमैं उदासा।
त्रिमनां अरु अभिमान रहित है कहै कबीर सो दासा॥

१६७

अबुझा लोग कहाँलौं बूझै बूझनहार विचारो॥
केते रामचंद्र तपसीसे जिन जग यह भरमाया।
केते कान्ह भये मुरलीधर तिन भी अन्त न पाया॥
मच्छ-कच्छ-बाराहसरूपी वामन नाम धराया।
केते बौध भये निकलंकी तिन भी अन्त न पाया।
केतिक सिध-साधक-संन्यासी जिन बन बास बसाया।
केते मुनिजन गोरख कहिये तिन भी अन्त न पाया॥
जाकी गति ब्रह्मै नहिं पाये सिव-सनकादिक हारे।
ताके गुन नर कैसे पैहौ खड़ा कबीर पुकारे॥

१६८

साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपसमें दोउ लड़े मरतु हैं मरम कोइ नहिं जाना।
बहुत मिले मोहिं नेमी धर्मी प्रात करैं असनाना।
आतम-छोड़ि पषानै पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मनमें बहुत गुमाना।
पीपर-पाथर पूजन लागे तीरथ-बर्त भुलाना।

---

१६८ डिंभ धरि बैठे=दंभ धारण करके बैठे हैं। मेहर=दया।

माला पहिरे टोपी पहिरे छाप-तिलक अनुमाना ।
साखी सब्दै गावत भूले आतम खबर न जाना ।
घर घर मंत्र जो देन फिरत हैं मायाके अभिमाना ।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना ।
बहुतक देखे पीर-औलिया पढ़ै किताब-कुराना ।
करैं मुरीद कबर बतलावें उनहूँ खुदा न जाना ।
हिन्दुकी दया मेहर तुरकनकी दोनों घरसे भागी ।
वह करै जिबह वाँ झटका मारे आग दोऊ घर लागी ।
या बिधि हँसत चलत हैं हमको आप कहावैं स्याना ।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना ॥

१६१

मीयाँ तुम्हसौं बोल्याँ बणि नहीं आवै ।
हम मसकीन खुदाई बन्दे तुम्हरा जस मनि भावै ॥
अलह अवलि दीनका साहिब, जोर नहीं फुरमाया ।
मुरिसद-पीर तुम्हारै है को, कहौ कहाँथैं आया ॥
रोजा करैं निवाज गुजारैं कलमै भिसत न होई ।
सत्तरि काबे इक दिल भीतरि जे करि जानै कोई ।
खसम पिछाँनि तरस करि जियमैं, माल मतीं करि फीकी ।
आया जाँनि साँईकूं जाँनैं, तब है भिस्त सरीकी ।
माटी एक भेष धरि नाँनाँ सबमें ब्रह्म समानाँ ।
कहै कबीर भिस्त छिटकाई दोजग ही मनमानाँ ॥

---

१६१ मीयाँ = मियाँ, तुमसे बोलते नहीं बनता । मसकीन = गरीब, दान । खुदाई बन्दे = भगवानके सेवक । तुम्हारा···भावै = तुम्हें चाहे जैसा मनमें भावे । मुरसिद = गुरु । निवाज = नमाज । भिसत = बहिश्त, स्वर्ग । दोजग दोजख = नरक । खसम···फीकी = प्रियको पहचानो, जरा तरस करो, मालमताको फीका

१७०

वै क्यूँ कासी तजैं मुरारी। तेरी सेवा-चोर भये बनवारी ॥
जोगी-जती-तपी संन्यासी। मठ देवल बसि परसैं कासी।
तीन बार जे नित प्रति न्हावैं। काया भीतरि खबरि न पावैं ॥
देवल देवल फेरी देहीं। नाव निरंजन कबहुँ न लेहीं ॥
चरन-बिरद-कासी कौं न देहूं। कहै कबीर भल नरकहिं जैहूँ ॥

१७१

बहुविध चित्र बनायकै, हरि रच्यौ क्रीड़ा-रास।
जेहि न इच्छा झूलिबेकी, ऐसी बुधि केहि पास ॥
झुलत झुलत बहु कलप बीते, मन न छोड़े आस।
रचि हिंडोला अहो-निसि हो चारि जुग चौमास ॥
कबहुँ ऊँचसे नीच कबहूँ, सरग-भूमि ले जाय।
अति भ्रमत हिंडोलवा हो, नेकु नहिं ठहराय ॥
डरत हौं यह झूलबेको, राखु जादवराय।
कहैं कबीर गोपाल बिनती, सरन हरि तुअ पास ॥

समझो। आया···सरीकी = स्वामीको पास आया हुआ जानो। जो ऐसा जानते हैं वे ही स्वामीको जानते हैं, तब वे बहिश्तमें शरीक होते हैं।

१७० हे भगवान्, वे लोग काशीको क्यों छोड़ें ? वे तो सेवा-चोर हो गए हैं, तेरी सेवासे जी चुराने लगे हैं। ये जोगी जती तपस्वी संन्यासी मठों और देवालयोंमें बैठे हुए काशीको स्पर्श कर रहे हैं। जो लोग तीन बार स्नान करते हैं और कायाके भीतर (कितनी मैल है) इसकी खबर भी नहीं जानते, देवालयसे देवालयतक फेरी देते रहते हैं और निरंजनका नाम कभी नहीं लेते— (वे लोग यदि मुक्तिके लिए काशीपर भरोसा करें) मैं तुम्हारे चरणोंमें आश्रय पानेका यश काशीको नहीं दूँगा (अर्थात् यदि तरूँगा तो तुम्हारे चरणोंके प्रतापसे, व्यर्थ ही काशीमें मरकर यह यश काशीको नहीं मिलने दूँगा) भले ही नरक ही क्यों न जाऊँ।

१७२

चली मैं खोजमें पियकी । मिटी नहिं सोच यह जियकी ॥
रहे नित पास ही मेरे । न पाऊँ यारको हेरे ॥
बिकल चहुँ ओरको धाऊँ । तबहुँ नहिं कंतको पाऊँ ॥
धरों केहि भाँतिसों धीरा । गयौ गिर हाथसे हीरा ॥
कटी जब नैनकी झाईं । लख्यौं तब गगनमें साईं ॥
कबीर शब्द कहि त्रासा । नयनमें यारको बासा ॥

१७३

तलफै बिन बालम मोर जिया ।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया,
तलफ तलफके भोर किया ॥
तन मन मोर रहँट-अस डोलै,
सून सेजपर जनम छिया ।
नैन थकित भये पंथ न सूझै,
साँईं बेदरदी सुध न लिया ॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो,
हरो पीर दुख जोर किया ॥

१७४

अबिनासी दुलहा कब मिलिहौ, भक्तनके रछपाल ।
जल उपजी जल ही सों नेहा, रटत पियास पियास ।

---

१७२ कटी··झाँई = जब आँखोंमें पड़ी हुई छाया हट गई अर्थात् अज्ञानका आवरण हट गया ।

१७४ जल उपजी··पियास पियास = यह विरहिणी उस मछलीके समान

मैं ठाढ़ी बिरहन मग जोऊँ, प्रियतम तुमरी आस ।
छोड़े गेह नेह लगि तुमसों, भई चरन लवलीन ।
ताला-बेलि होति घर भीतर, जैसे जल बिन मीन ।
दिवस न भूख रैन नहिं निद्रा, घर अंगना न सुहाय ।
सेजरिया बैरिन भइ हमको, जागत रैन बिहाय ।
हम तो तुमरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार ।
दीन-दयाल दया करि आओ, समरथ सिरजनहार ।
कै हम प्रान तजति हैं प्यारे, कै अपनी कर लेव ।
दास कबीर बिरहा अति बाढ़ेव, हमको दरसन देव ॥

१७५

नैना अंतरि आव तूँ, ज्यूं हौं नैन झँपेउँ ।
ना हौं देखौं औरकूँ, नां तुझ देखन देउँ ॥१॥
कबीर रेख सिन्दूरकी, काजल दिया न जाइ ।
नैनूं रमइया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ॥२॥
मन परतीति न प्रेम-रस, नां इस तनमें ढंग ।
क्या जाणों उस पीवसूँ, कैसैं रहसी रंग ॥३॥

१७६

नैनोंकी करि कोठरी, पुतरी पलँग बिछाय ।
पलकोंकी चिक डारिकै, पियाको लिया रिझाय ॥१॥
प्रीतमको पतिया लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस ।
तनमें मनमें नैनमें, ताकौं कहा सँदेस ॥२॥

है जो जलमें ही उपजी और जलसे ही उसका प्रेम है और फिर भी प्यास-प्यास चिल्ला रही है। भगवान्में ही उत्पन्न और भगवान् से ही सहज प्रेम होते हुए भी जीव भगवान्को नहीं पा रहा है। ताला-बेलि = तिलमिलाहट, छटपटाहट ।

१७७

अँखियाँ तो झाईं परी, पंथ निहारि निहारि ।
जीहड़ियाँ छाला पड़्या, नाम पुकारि पुकारि ॥ १ ॥
बिरह कमंडल कर लिये, बैरागी दो नैन ।
माँगै दरस मधूकरी, छके रहैं दिन-रैन ॥ २ ॥
सब रंग ताँत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ॥ ३ ॥

१७८

पछा पछीके कारनै, सब जग रहा भुलान ।
निरपछ ह्वैके हरि भजै, सोई सन्त सुजान ॥ १ ॥
अंमृत केरी मोटरी, सिरसे धरी उतार ।
जाहिं कहौं मैं एक है, मोहिं कहै दो-चार ॥ २ ॥

१७९

दुलहिनि तोहि पियके घर जाना ।
काहे रोवो काहे गावो, काहे करत बहाना ॥
काहे पहिर्‍यौ हरि हरि चुरियाँ, पहिर्‍यौ प्रेमकै बाना ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, बिन पिया नाहिं ठिकाना ॥

१८०

सूतल रहलूँ मैं नींद भरि हो, पिया दिहलैं जगाय ।
चरन-कँवलके अंजन हो नैना ले लूँ लगाय ॥

१७७ जीहड़ियाँ = जीभमें ।
१८० सूतल रहलूँ = सोई हुई थी । दिहलैं = दिया ।

जासों निंदिया न आवै हो नहि तन अलसाय ।
पियाके बचन प्रेम-सागर हो चलूँ चली हो नहाय ।।
जनम जनमके पापवा छिनमें डारब धोवाय ।
यहि तनके जग दीप कियौ प्रीत बतिया लगाय ।।
पाँच तत्तके तेल चुआए ब्रह्म अगिनि जगाय ।
प्रेम-पियाला पियाइके हो पिया पिया बौराय ।।
बिरह अगिनि तन तलफै हो जिय कछु न सोहाय ।।
ऊँच अटरिया चढ़ि बैठ लूँ हो जहँ काल न जाय ।
कहैं कबीर विचारिके हो जम देख डराय ।।

१८१

अब तोंहि जान न दैहूँ राम पियारे,
ज्यूँ भावै त्यूँ होह हमारे ।
बहुत दिननके बिछुरे हरि पाये,
भाग बड़े घर बैठें आये ।
चरननि लागि करौं बरियाई,
प्रेम - प्रीतिं राखौं उरझाई ।
इत मन-मंदिर रहौ नित चोषै,
कहै कबीर परहु मति धोषै ।।

१८२

तन-मन-धन बाजी लागी हो ।
चौपड़ खेलूँ पीवसे रे, तन-मन बाजी लगाया ।

---

१८२ जुग्ग = चौसरके खेलमें दो गोटियोंका एक ही कोठेमें इकट्ठा होना । नर्द = चौसरकी गोटी । पौ = जीतका दाँव-विशेष ।

हारी तो पियकी भई रे, जीती तो पिय मोर हो।
चौसरियाके खेलमें रे, जुग्ग मिलनकी आस।
नर्द अकेली रह गई रे, नहिं जीवनकी आस हो।
चार बरन घर एक है रे, भाँति भाँतिके लोग।
मनसा-बाचा कर्मना कोइ, प्रीति निबाहो ओर हो।
लख चौरासी भरमत भरमत, पौंपै अटकी आय।
जो अबके पौ ना पड़ी रे, फिर चौरासी जाय़ हो।
कहैं कबीर धर्मदाससे रे, जीती बाजी मत हार।
अबके सुरत चढ़ाय दे रे, सोई सुहागिन नार हो।

१८३

नाम-अमल उतरै ना भाई।
और अमल छिन छिन चढ़ि उतरै, नाम-अमल दिन बढ़ै सवाई।
देखत चढ़ै सुनत हिय लागै, सुरत किये तन देत घुमाई।
पियत पियाला भये मतवाला, पायो नाम मिटी दुचिताई।
जो जन नाम अमल रस चाखा, तर गई गनिका सदन कसाई।
कह कबीर गूँगे गुड़ खाया, बिन रसना का करै बड़ाई॥

१८४

हमरी ननँद निगोड़िन जागे।
कुमति लकुटिया निसि-दिन ब्यापै, सुमति देखि नहिं भावै।
निसि-दिन लेत नाम साहबको, रहत रहत रँग लागै।
निसिदिन खेलत रही सखियन-सँग, मोहिं बड़ो डर लागै।
मोरे साहबकी ऊँची अटरिया, चढ़तमें जियरा काँपै।

१८३ अमल = नशा।

जो सुख चहै तो लज्जा त्यागै, पियसे हिलि-मिलि लागै।
घूँघट खोल अंग-भर भेंटै, नैन आरती साजै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, चतुर होय सो जानै।
निज प्रीतमकी आस नहीं है, नाहक काजर पारै।

१८५

कैसे दिन कटिहैं जतन बताये जइयो।
एहि पार गंगा ओहि पार जमुना,
बिचवाँ मड़इया हमकाँ छवाये जइयो।
अँचरा फारिके कागज बनाइन,
अपनी सुरतिया हियरे लिखाये जइयो।
कहत कबीर सुनो भाई साधो
बहियाँ पकरिकें रहिया बताये जइयो।

१८६

कैसें जीवेगी विरहिनी पिया बिन, कीजे कौन उपाय।
दिवस न भूख रैन नहिं सुख है, जैसे करि जुग जाम।
खेलत फाग छाँड़ि चलु सुंदर, तज चलु धन औ धाम।
बन-खँड जाय नाम लौ लावो, मिलि पियसे सुख पाय।
तलफत मीन बिना जल जैसे, दरसन लीजे धाय।
बिना अकार रूप नहि रेखा, कौन मिलेगी आय।
आपन पुरुष समझि ले सुंदरि, देखो तन निरताय।
सब्द सरूपी जिव पिव बूझो, छाँड़ो भ्रमकी टेक।
कहैं कबीर और नहिं दूजा, जुग जुग हम-तुम एक॥

१८७

भींजै चुनरिया प्रेम-रस बूँदन।
आरत साजके चली है सुहागिन पिय अपनेको ढूँढ़न।
काहेकी तोरी बनी चुनरिया काहेको लगे चारों फूँदन।
पाँच तत्तकी बनी चुनरिया नामके लागे फूँदन।
चढ़िगे महल खुल गई रे किबरिया दास कबीर लागे झूलन ॥

१८८

मैं अपने साहब संग चली।
हाथमें नरियल मुखमें बीड़ा, मोतियन माँग भरी।
लिल्ली घोड़ी जरद बछेड़ी, तापै चढ़िके चली।
नदी किनारे सतगुर भेंटे, तुरत जनम सुधरी।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, दोउ कुल तारि चली।

१९९

गुरु मोहिं घुँटिया अजर पियाई।
गुरु मोहिं घुँटिया पियाई, भई सुचित मेटी दुचिताई।
नाम-औषधी अधर-कटोरी, पियत अघाय कुमति गई मोरी,
ब्रह्मा-विस्नु पिये नहीं पाये, खोजत संभू जन्म गँवाये।
सुरत निरत करि पियै जो कोई, कहैं कबीर अमर होय सोई ॥

१९०

कबीर भाटी कलालकी, बहुतक बैठे आइ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया न जाइ ॥ १ ॥

---

१९० मैमंता = मदमाता।

हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहूँ न जाइ खुमार ।
मैमंता घूमत रहे, नाहीं तनकी सार ।। २ ।।
सबै रसायण मैं किया, हरि-सा और न कोइ ।
तिल इक घटमैं संचरै, तो सब कंचन होइ ।। ३ ।।

१९१

पीछे लागा जाइ था, लोक वेदके साथि ।
आगेथैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ।। १ ।।
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट ।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट ।। २ ।।
कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटै लूँण ।
जाति-पाँति-कुल सब मिटै, नाँव धरौगे कौंण ।। ३ ।।
सतगुरु हमसूँ रीझि करि एक कह्या परसंग ।
बरस्या बादल प्रेमका, भीजि गया सब अंग ।। ४ ।।

१९२

वै दिन कब आवेंगे भाइ ।
जा कारनि हम देह धरी है, मिलिबौ अंगि लगाइ ।
हौ जांनूँ जे हिल-मिलि खेलूँ, तन मन प्रान समाइ ।।
या कांमनां करौं परिपूरन, समरथ हौ रांम राइ ।।

---

१९१ अघट्ट = कभी न घटनेवाली, अक्षय । शरीर दीपक है, आयु तेल है और आत्मा अक्षय बत्ती है । विसाहुणा = खरीदना । गुरु गरवा मिल्या = गुरु गले मिले । लूँण = नमक ।

१९२ स्यंघ = सिंह ।

मांहि उदासी माधौ चाहै,
चितवत रैनि बिहाइ ॥
सेज हमारी स्यंघ भई है,
जब सोऊँ तब खाइ ॥
यहु अरदास दासकी सुनिये,
तनकी तपनि बुझाइ ॥
कहै कबीर मिलै जे साईं,
मिलि करि मंगल गाइ ॥

१९३

मेरी अंखियाँ जांन सुजांन भई ।
देवर ननद सुसर संग तजि करि, हरि पीव तहाँ गई ॥
बालपनैंके करम हमारे, काटे जानि दई ।
बाँह पकरि करि किरपा कीन्हीं, आप समींप लई ॥
पानींकी बूँदथे जिनि प्यँड साज्या, ता संगि अधिक रई ॥
दास कबीर पल प्रेम न घटई, दिन दिन प्रीति नई ॥

१९४

इहि बिधि रामसूं ल्यौं लाइ ।
चरन पाषैं निरति करि, जिभ्या बिना गुंण गाइ ।
जहाँ स्वाँतिबूँद न सीप साइर, सहजि मोती होइ ।
उन मोतियन मैं नीर पोयौ, पवन अम्बर धोइ ।

---

१९३ रई = रत हुई ।

१९४ चरण पाषैं निरति करि = चरणोंके पंखपर नृत्य करो । जिभ्या बिना = जीभसे उच्चारण किए बिना, सहज भावसे । जहाँ···धोइ = स्वातिका बूँद, सीपी और सागरके बिना भी एक सहज मोती तुम्हारे पास है । इस सहज मोतीके

जहाँ धरनि बरपै गगन भीजै, चन्द-सूरज मेल।
दोइ मिलि तहाँ जुड़न लागे, करत हंसा केलि।
एक बिरष भीतरि नदी चाली, कनक कलस समाइ।
पंच सुवटा आइ बैठे, उदै भई बनराइ।
जहाँ बिछुरयौ तहाँ लाग्यौ, गगन बैठो जाइ।
जन कबीर बटाऊवा, जिनि मारग लियौ चाइ।

१९५

करो जतन सखी साँई मिलनकी।
गुड़िया गुड़वा सुपलिया,
तजि दे बुधि लरिकैयाँ खेलनकी।
देवता पित्तर भुइयाँ भवानी
यह मारग चौरसी चलनकी।
ऊँचा महल अजब रँग बँगला,
साँईकी सेह वहाँ लगी फूलनकी।

पानीसे आकाश और हवाको धो दो। यह मोती विरहके अश्रु हैं। जहाँ··केलि = एक ऐसा स्थान है जहाँ पृथ्वीसे पानी बरसता है और आकाश भींजता रहता है (मूलाधारके रससे सहस्रार सिक्त होता है), जहाँ सूर्य (नाभिके ऊपरका मूलाधार पद्म) और चन्द्र (ब्रह्मरंध्र) मिल गए होते हैं और हंस केलि करता है। एक··बनराइ = एक वृक्ष (शरीर है) जिसमें नदी (कुण्डलिनी) बह रही है जो कनककलश (सहस्रार) में गिरी है और पाँच सुग्गे (प्राण) उस वृक्षपर बैठे हैं और इनके कारण सारी वनराजि प्रसन्न हुई है। जहाँ··चाइ = जहाँसे बिछुड़े थे वहीं जाकर लगो, शून्यमें जाकर बैठो, कबीर बटोहीने रास्ता देख लिया है।

१०५ गुड़िया··सुपलिया = बच्चोंके खिलौने (गृहस्थीके द्योतक हैं।)

तन मन धन सब अपनि कर वहाँ,
सुरत सम्हार परु पइयाँ सजनकी।
कहैं कबीर निर्भय होय हंसा,
कुंजी बता यौ ताला खुलनकी॥

१९६

मोरे लगि गये बान सुरंगी हो।
धन सतगुरु उपदेश दियो है, होइ गयो चित्त भिरंगी हो।
ध्यान पुरुषकी बनी है तिरिया, घायल पाँचों संगी हो॥
घायलकी गति घायल जाने, की जानै जात पतंगी हो।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, निसि दिन प्रेम उमंगी हो॥

१९७

गुरु बड़े भृंगी हमारे गुरु बड़े भृंगी।
कीटसों ले भृंग कीन्हा आपसों रंगी।
पाँव औरै कोई सब भये भृंगी पंख औरै और रँग रंगी।
जाति कुल ना लखें कोई सब भये भृंगी।
नदी-नाले मिले गंगै कहलावैं गंगी।
दरियाव-दरिया जा समाने संगमें संगी।
चलत मनसा अचल कीन्ही मन हुआ पंगी।
तत्तमें निःतत्त दरसा संगमें संगी।
बंधतें निर्बंध कीन्हा तोड़ सब तंगी।
कहैं कबीर किया अगम गम नाम रँग रंगी॥

---

१९६ पाचों संगी = पाँच प्राण।

१९८

पिया मेरा जागे मैं कैसे सोई री।
पाँच सखी मेरे संगकी सहेली,
उन रँग रँगी पिया रंग न मिली री॥
सास सयानी ननद देवरानी,
उन डर डरी पिय सार न जानी री।
द्वादस ऊपर सेज बिछानी,
चढ़ न सकौं मारी लाज लजानी री।
रात दिवस मोहिं कूका मारे,
मैं न सुनी रचि नहि सँग जानी री।
कहैं कबीर सुनु सखी सयानी,
बिन सतगुरु पिया मिले न मिलानी री।

१९९

बहुत दिननकी जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुझ मिलनकूँ, मनि नाहीं विसराम॥ १॥
बिरहिनि ऊठै भी पड़े, दरसन कारनि राम।
मूवा पीछे देहुगे, सो दरसन केहि काम॥ २॥
मूवा पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर-घाटा-लोह सब पारस कौणैं काम॥ ३॥
बासरि सुख ना रैंणि सुख, ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या रामसूं, नां सुख धूप न छाँहि॥ ४॥

---

१९८ द्वादस ऊपर = १० इंद्रिय, मन और बुद्धि इन बारहोंसे परे। रात दिवस···जानी री = रातदिन मेरे हृदयमें विरह-वेदना उमड़ती रहती है, पर मैंने उसकी आवाज नहीं सुनी और न उसके सहवासको ही जान सकी।

२००

परबति परबति मैं फिरया, नैन गँवाए रोइ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवन होइ ॥१॥
नैंन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ै तुज्झ।
नां तूं मिलै न मैं खुसी, ऐसी बेदन मुज्झ ॥२॥
सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवै ॥३॥

२०१

आइ न सकौं, तुज्झपै सकूँ न तुज्झ बुलाइ।
जियरा यौंही लेहुगे, विरह तपाइ तपाइ ॥१॥
यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अग्गि ॥२॥
यहु तन जालौं मसि करौं, लिखौं रामका नांउँ।
लेखणि करूँ करंककी, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥३॥
इस तनका दीवा करौं, बाती मेलूँ जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ॥४॥
कै बिरहिनकूँ मींच दे, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहरका दाझणां, मोपै सहा न जाइ ॥५॥

२०१—वह राम दया मत करे। मैं यह शरीर जलाऊँगी, जलाकर राख कर दूँगी ताकि धुआँ आकाशमें जाय (और बादल बनकर वही) इस आगको बरसकर बुझा दे। विरहकी आगसे ही वह रस पैदा होगा जो इस तापको बुझा सकेगा।

करंक = ठठरी। लोही = लहू, रक्त।

२०२

कबिरा प्याला प्रेमका, अंतर दिया लगाय ।
रोम रोममें रमि रह्या, और अमल क्या खाय ॥१॥
राता-माता नामका, पीया प्रेम अघाय ।
मतवाला दीदारका, माँगै मुक्ति बलाय ॥२॥

२०३

ए कबीर, तैं उतरि रहु, संबल परो न साथ ।
संबल घटे न पगु थके, जीव बिराने हाथ ॥१॥
कबीरका घर सिखरपर, जहाँ सिलहली गैल ।
पाँव न टिकै पिपीलिका, खलकन लादे बैल ॥२॥

२०४

काल खड़ा सिर ऊपरे, जागु बिराने मीत ।
जाका घर है गैलमें, सो कस सोय निचीत ।

२०५

छाकि पर्यौ आतम मतवारा ।
पीवत रांमरस करत बिचारा ॥
बहुत मोलि मंहगै गुड़ पावा ।
लै कसाब रस राम चुवावा ।
तन पाटन मैं कीन्ह पसारा ।
माँगि माँगि रस पीवै बिचारा ॥
कहैं कबीर फाबी मतवारी ।
पीवत रांमरस लगी खुमारी ॥

---

२०३ सिलहली=पिच्छिल, फिसलने लायक । गैल=रास्ता । खलकन=दुनिया ।
२०५ कसाब = कषाय रस । पाटन = पट्टण, शहर ।

२०६

सब दुनी सयानी मैं बौरा।
हम बिगरे बिगरौ जनि औरा।
मैं नहिं बौरा राम कियो बौरा,
सतगुरु जार गयौ भ्रम मोरा।
विद्या न पढ़ूँ वाद नहिं जाँनूँ,
हरि गुन कथत-सुनत बौराँनूँ॥
काम-क्रोध दोऊ भये बिकारा,
आपहि आप जरैं संसारा॥
मीठो कहा जाहि जो भावै
दास कबीर राम गुन गावै॥

२०७

नैहरमैं दाग लगाय आय चुनरी।
ऊ रँगरेजवाकै मरम न जानै,
नहिं मिलै धोबिया कौन करै उजरी।
तनकै कूँडी ज्ञानकै सौंदन
साबुन महँग बिचाय या नगरी।
पहिरि-ओढ़िके चली ससुररिया,
गौवाँके लोग कहैं बड़ी फुहरी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
बिन सतगुरु कबहूँ नहिं सुधरी।

२०८

सील-संतोखते सब्द जा मुख बसै, संतजन जौहरी साँच मानी।
बदन बिकसित रहै ख्याल आनंदमैं, अधरमैं मधुर मुसकात बानी।

साँच गेलै नहीं झूठ बोलै नहीं, सुरतमैं सुमति सोइ स्रेष्ठ ज्ञानी ।
कहत हौं ज्ञान पुकारि कै सबनसों, देत उपदेस दिल दर्द जानी ।
ज्ञानको पूर है रहनिको सूर है, दयाकी भक्ति दिलमाहिं ठानी ।
ओरते छोर लौं एक रस रहत है, ऐस जन जगतमैं बिरले प्रानी ।
ठग्ग बटपार संसारमें भरि रहे, हंसकी चाल कहँ काग जानी ।
चपल और चतुर हैं बने बहु चीकने, बातमैं ठीक पै कपट ठानी ।
कहा तिनसों कहों दया जिनके नहीं, घात बहुतैं करैं बकुलध्यानी ।
दुर्मती जीवकी दुबिध छूटै नहीं, जन्म जन्मान्त पड़ नर्क खानी ।
काग कूबुद्धि सूबुद्धि पावै कहाँ, कठिन कठोर बिकराल बानी ।
अगिनके पुंज हैं सितलता तन नहीं, अमृत औ विष दोऊ एक सानी ।
कहा साखी कहे सुमति जागा नहीं, साँचकी चाल बिन धूर धानी ।
सुकृति औ सत्तकी चाल साँची सही, काग बक अधमकी कौन खानी ।
कहैं कब्बीर कोउ सुघर जन जौहरी, सदा सवधान पिये नीर छानी ।

२०९

अपनपौ आप ही बिसरो ।
जैसे सोनहा काँच मंदिरमैं भरमत भूँकि मरो ।
जो केहरि बपु निरखि कूप-जल प्रतिमा देखि परो ।
ऐसेहिं मदगज फटिक शिलापर दसननि आनि अरो ।
मरकट मुठी स्वाद ना बिसरै घर घर नटत फिरो ।
कह कबीर ललनीकै सुवना तोहि काने पकरो ॥

---

२०९ सोनहा = कुत्ता । काचके मंदिरमें कुत्ता अपने ही अनेक प्रतिबिंबोंको देखकर भौंका करता है, वैसे ही जीव भी जगत्में अपने ही प्रतिबिंबोंको

२१०

दरस दिवाना बावरा अलमस्त फकीरा।
एक अकेला है रहा अस मतका धीरा॥
हिरदेमें महबूब है हर दमका प्याला।
पीयेगा कोई जौहरी गुरु मुख मतवाला॥
पियत पियाला प्रेमका सुधरे सब साथी।
आठपहर झूमत रहै जस मैगल हाथी॥
बंधन काटे मोहके बैठा निरसंका।
वाके नजर न आवता क्या राजा रंका॥
धरतीका आसन किया तंबू असमाना।
चोला पहिरा खाकका रह पाक समाना॥
सेवकको सतगुरु मिले कछु रहि न तबाही।
कह कबीर निज घर चलो जहं काल न जाही॥

२११

गगनकी ओट निसाना है।
दहिने सूर चंद्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है।
तनकी कमान सुरतका रोदा, सब्द-बान ले ताना है।
मारत बान बेधा तन ही तन, सतगुरुका परवाना है।
मार्‍यौ बान घाव नहिं तनमें, जिन लागा तिन जाना है।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, जिन जाना तिन माना है॥

अपनेसे भिन्न समझकर लड़ता फिरता है। केहरि बपु = सिंह कुएँमें अपनी परछाहीं देखकर कूद पड़ा था, ऐसी कहानी है। स्फटिक-शिलामें अपनी परछाहीं देख हाथी अपने दाँतोंसे लड़नेको अड़ जाय। ललनीकै सुवना (सुग्गा) = जीव (जो मायाके बंधनमें है)।

२१० मैगल = मदमस्त।

२१२

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोले।
हलकी थी जब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों तोले।
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल-तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घटमाँही, बाहर नैना क्यों खोले।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिलि गये तिल ओले।।

२१३

सोच-समुझ अभिमानी, चादर भई है पुरानी।
टुकड़े टुकड़े जोड़ि जगत-सौं, सीके अँग लिपटानी।
कर डारी मैली पापन-सौं, लोभ-मोहमें सानी।
ना यहि लग्यो ज्ञानकै साबुन, ना धोई भल पानी।
सारी उमिर ओढ़ते बीती, भली बुरी नहिं जानी।
संका मान जान जिय अपने, यह है चीज बिरानी।
कहत कबीर धरि राखु जतनसे, फेर हाथ नहिं आनी।।

२१४

जियरा मेरा फिरै रे उदास।
राम बिन निकसि न जाई सास,
अजहूँ कौन आस।
जहाँ जहाँ जाऊँ राम मिलावै न कोई।
कहौ संतो कैसें जीवन होई।।

---

२१२ मदवा˙˙˙तोले=बिना तोलेसे अपरमित मद पी गई। ओले=ओटमें।

जरै सरीर यहु तन कोई न बुझावै ।
अनल दहै निस नींद न आवै ॥
चंदन घसि घसि अंग लगाऊँ ।
राम बिना दारुन दुख पाऊँ ॥
सत-संगति मति मन करि धीरा ।
सहज जानि भजै राम कबीरा ॥

२१५

इब न रहूँ माटीके घर मैं,
इब मैं जाइ रहूं मिलि हरि मैं ॥
छिनहर घर अरु झिरहर टाटी
घन गरजन कंपै मेरी छाती ॥
दसवै दारि लागि गई तारी
दूरि गवन आवन भयौ भारी ॥
चहुँ दिसी बैठे चारि पहरिया
जागत मूसि गये मोर नगरिया ॥
कहै कबीर सुनहु रे लोई,
भाँनड़ घड़ण संवारण सोई ॥

२१६

सेजैं रहूँ नैन नहीं देखौं,
बहु दुख कासौं कहूं हो दयाल ॥
सासुकी दुखी सुसरकी प्यारी
जेठकै तरसि डरौं रे ।

---

२१५ इब=अब । माटीका घर=भौतिक शरीर । छिनहर=टूटा-फूटा । झिरहर=जर्जर । दसवें द्वारि = दसवें मुकामपर । चार पहरिया=चार पाहरू (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) भाँनण घड़ण=तोड़ना और गढ़ना ।

ननद सुहेली गरब गहेली
देवरकै विरह जरों हो दयाल ॥
आप सबनकौ करै लराई,
माया सोउ मतवाली ॥
सगौ भईया लै सलि चढ़ि हूँ
तब ह्वै हूँ पीयहि पियारी ॥
सोचि बिचारि देखौ मन माँही
औसर आइ बन्यूं रे
कहैं कबीर सुनहु मति सुंदरि
राजा राम रमूं रे ॥

२१७

पीले प्याला हो मतवाला, प्याला नाम अमीरसका रे।
बालपना सब खेलि गँवाया, तरुन भया नारी बसका रे।
बिरध भया कफ-बायने घेरा, खाट पड़ा न जाय खसका रे।
नाभि कँवल बिच है कस्तूरी, जैसे मिरग फिरे बनका रे।
बिन सतगुरु इतना दुख पाया, बैद मिला नहिं इस तनका रे।
माता पिता बंधु सुत तिरिया, संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लग जीवै गुरु गुन लेगा, धन जोबन है दिन दसका रे।
चौरासी जो उबरा चाहे, छोड़ कामिनाका चसका रे।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नख-सिख पूर रहा बिसका रे।

---

२१६ सलि=चितापर; माया = माता।

जैसा कि पहले ही बताया गया है ये पद समासोक्ति-पद्धतिपर लिखे गए हैं। प्रत्येक शब्दका लक्ष्यार्थ खोजना सब समय ठीक नहीं होता। सास-ससुर, जेठ आदि पद केवल नाना प्रकारके भय, मोह और लाजके निदर्शक हैं।

२१८

खेल ले नैहरवा दिन चार।
पहिली पठौनी तीन जन आये, नौवा बाम्हन बारि।
बाबुलजी मैं पैयां तोरी लागौं, अबकी गवन दे टारि।
दुसरी पठौनी आपै आये, लेके डोलिया कहार।
धरि बहियाँ डोलिया बैठारिन, कोउ न लागै गोहार॥
ले डोलिया जाइ बनमें उतारिन, कोइ नहीं संगी हमार।
कहैं, कबीर सुनो भाई साधो, इक घर हैं दस द्वार॥

२१९

मैं भँवरा तोंहि बरजिया, बन बन बास न लेय।
अटकेगा कहुँ बेलसे, तड़पि तड़पि जिय देय॥ १॥
बाड़ीके बिच भँवरा था, कलियाँ लता बास।
सो तो भँवरा उड़ि गया, तजि बाड़ीकी आस॥ २॥

२२०

चलती चक्की देखिके, दिया कबीरा रोय।
दुइ पट भीतर आयके, साबित गया न कोय॥ १॥
भाई बीर बटाउआ, भरि भरि नैन न रोय।
जाका था सो ले लिया, दीन्हा था दिन दोय॥ २॥

२२१

देह धरेका दंड है, सब काहूको होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि मूरख भुगतै रोय॥ १॥

---

२१९ भँवरा = मुग्ध जीव। बाड़ी=संसार-वाटिका।

तकत तकावत तकि रहे, सके न बेझा मारि ।
सबै तीर खाली परे, चले कमानी डारि ॥ २ ॥

२२२

सुपनेमें साईं मिले, सोवत लिया जगाय ।
आँखि न खोलूँ डरपता, मत सुपना है जाय ॥ १ ॥
साईंकेरे बहुत गुन, लिखे जो हिरदे माँहि ।
पिऊँ न पानी डरपता, मत वै धोये जाँहि ॥ २ ॥

२२३

अनप्रापत वस्तुको कहा तजे, प्रापतको तजे सो त्यागी है ।
सु असील तुरंग कहा फेरे, अफतर फेरे सो बागी है ।
जगभवका गावना क्या गावै, अनुभव गावै सो रागी है ।
बन गेहकी बासना नास करै, कब्बीर सोई बैरागी है ॥

२२४

तोको पीव मिलैंगे घूँघटके पट खोल रे ।
घट घटमें वही साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे ।
धन जोबनको गरब न कीजै, झूठा पंचरंग चोल रे ।
सुन्न महलमें दियना बार ले, आसासों मत डोल रे ।
जोग जुगत सो रंग महलमें, पिय पाई अनमोल रे ।
कहै कब्बीर आनंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे ।

---

२२३ अनप्रापत = जो मिला ही नहीं । असील तुरंग = खानदानी घोड़ा । अफतर = बिगड़ैल । बागी = बाग पकड़नेवाला सवार । जगभव = संसारका अनुभव । बन···करै = घरमें बना हुआ भी घरकी वासना जो त्याग करै, या वन और गृह दोनोंकी वासना जो त्याग करे ।

२२५

पायो सतनाम गरैके हरवा ।
साँकर खटोलना रहनि हमारी, दुबरे दुबरे पाँच कहँरवा ।
ताला कुंजी हमैं गुरु दीन्ही, जब चाहौं तब खोलौं किवरवा ।
प्रेम प्रीतिकी चुनरी हमारी, जब चाहौं तब नाचौं सहरवा ।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, बहुरि न ऐबै एही नगरवा ।। (९५)

२२६

मुरसिद नैंनों बीच नबी है ।
स्याह सपेद तिलों बिच तारा, अवगति अलख रबी है ।
आँखी मद्धे पाँखी चमके, पाँखी मद्धे द्वारा ।
तेहि द्वारे दुर्बीन लगावै, उतरै भवजल पारा ।
सुन्न सहरमें बास हमारी, तहँ सरबंगी जावै ।
साहब कबीर सदाके संगी, सब्द महल ले आवै ।।

२२७

पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली ।

---

२२५ साँकर खटोलना = सँकरा खटोला ।

२२६ मुरसिद = मुरशिद, उपदेशक । नबी = रसूल । रबी = रब, पालनकर्ता । भाव यह है कि ऐ मुरशिद, रसूल तुम्हारी आँखोंके भीतर है । ईश्वर इन आँखोंके स्याह-सफेद हिस्सोंके बीचवाली ताराके पीछे अविगत अलक्ष्य होकर वर्तमान है—वही आँखोंको देखनेकी शक्ति देता है । पांखी = पक्षी । आँखोंमें दूरदर्शक यंत्र लगाकर देखनेसे ही भवसागरके पार उतरना संभव है । मेरा वास उस शून्य शहरमें है जहाँ सर्वांगीण (संपूर्ण, अखण्ड) भावसे जाया जाता है ।

ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लगी नामकी डोरी।
चाँद सुरज सम दियना बरतु है, ता बिच झूली डगरिया।
पाँ पचीस तीन घर बनिया, मनुवाँ है चाधरिया।
मुन्सी है कुतवाल ग्यानको, चहुँ दिस लागी बजरिया।
आठ मरातिब दस दर्वाजा, नौमें लगी किवरिया।
खिरकी बैठ गोरी चितवन लागी, उपराँ झाँप झोपरिया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, गुरुके चरन बलिहरिया।
साध संत मिलि सौदा करि हैं, झींखै मूरक अनरिया॥

२२८

जहवाँसे आयो अमर वह देसवा।
पानी न पान धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा।
बाम्हन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।
आदि जोति नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा बिस्नु महेस न सेसवा।
जोगी न जगम मुनि दुरबेसवा, आदि न अन्त न काल कलेसवा।
दास कबीर ले आये सँदेसवा, सार सब्द गहि चलौ वहि देसवा।

२२९

साहेब है रँगरेज चुनरी मेरी रंग डारी
स्याही रंग छुड़ायके रे दियो मजीठा रंग।
धोयसे छूटे नहीं रे दिन दिन होत सुरंग॥

२२७ पाँच प्राण; पचीस तत्त्व; तीन गुण। आठ मरातिब = मरातिब महलके खंडोंको कहते हैं। आठसे आठ धातुओंका तात्पर्य है। सात धातुओंके साथ केश मिलाकर आठ धातु होते हैं (दे० ऊपर १३५ वें पदकी टिप्पणी)। दस दरवाजा= दो नेत्र, दो कान, दो नासा-छिद्र, मुख, मूत्रद्वार, मलद्वार और ब्रह्मरंध्र। इनमें प्रथम नौमें किवाड़ लगे हैं, प्राणायामके द्वारा योगी इन्हें बंद कर सकता है।

भावके कुंड नेहके जलमैं प्रेम रंग देइ बोर ।
दुख देह मैल लुटाय दे रे खूब रंगी झकझोर ॥
साहिबने चुनरी रंगी रे पीतम चतुर सुजान ।
सब कुछ उनपर वार दूँ रे तन मन धन और प्रान ॥
कहैं कबीर रंगरेज पियारे मुझपर हुए दयाल ।
सीतल चुनरी ओढ़िके रे भई हौं मगन निहाल ॥

२३०

हद चले सो मानवा, बेहद चले सो साध ।
हद बेहद दोऊ तजे, ताकर मता अगाध ॥

२३१

गगन दमामा बाजिया, पड़त निसाने घाव ।
खेत पुकारै सूरमा, अब लड़नेका दाँव ॥ १ ॥
जा मरनेसे जग डरै, सो मेरे आनंद ।
कब मरिहौं, कब देखिहौं, पूरन परमानन्द ॥ २ ॥

२३२

अब गुरु दिलमें देखिया, गावनको कछु नाहिं ।
कबिरा जब हम गावते, तब जाना गुरु नाहिं ॥ १ ॥
सुन्न मँडलमें घर किया, बाजै सब्द रसाल ।
रोम रोम दीपक भया, प्रगटे दीन दयाल ॥ २ ॥
सुन्न सरोवर मीन मन, नीर तीर सब देव ।
सुधा सिंधु सुख बिलसही, बिरला जाने भेव ॥ ३ ॥

२३३

लिखा लिखी की है नही, देखा देखी बात।
दुलहा दुलहिनि मिलि गये, फीकी परी बरात ॥ १ ॥
कागद लिखै सो कागदी, की व्यवहारी जीव।
आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव ॥ २ ॥

२३४

लाली मेरे लालकी, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गइ लाल ॥ १ ॥
जिन पावन भुइँ बहु फिरे, घूमें देस विदेस।
पिया मिलन जब होइया, आँगन भया बिदेस ॥ २ ॥

२३५

उलटि समाना आपमें, प्रगटी जोति अनंत।
साहेब सेवक एक सँग, खेलैं सदा बसंत ॥ १ ॥
जोगी हुआ झलक लगी, मिटि गया ऐंचातान।
उलटि समाना आपमें, हूआ ब्रह्म समान ॥ २ ॥

२३६

सखि, वह घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा।
जहाँ न सुख-दुख साँच-झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा ॥
नहिं दिन रैन चंद नहिं सूरज, बिना जोति उजियारा ॥
नहिं तहँ ग्यान-ध्यान नहिं जप-तप, बेद-कितेब न बानी।
करनी, धरनी, रहनी, गहनी ये सब उहाँ हेरानी ॥

घर नहिं अधर न बाहर-भीतर, पिंड-ब्रह्मंड कछु नाहीं।
पांच तत्त गुन तीन नहीं तहँ, साखी सब्द न ताहीं।
मूल न फूल बेल नहिं बीजा, बिना बृच्छ फल सोहै।
ओहं-सोहं अध ऊरध नहिं, स्वासा लेखन को है।
नहिं निरगुन नहिं अविगत भाई, नहिं सूछम-अस्थूल।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जगके मूल॥
जहाँ पुरुष तहँवा कछु नाहीं, कह कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखे जो कोई, पावै पद निरवाना॥ २३॥

२३७

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समँदमें, सो कत हेरी जाइ॥ १॥
हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
समँद समाना बूँदमें, सो कत हेर्या जाइ॥ २॥

२३८

हद छाँड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर बास।
कँवल जु फूल्या फूल बिन, को निरपै निज दास॥
कबीर मन मधुकर भया, भया निरंतर बास।
कँवल जु फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास॥ २॥
अंतरि कँवल प्रकासिया, ब्रह्म-बास तहँ होइ।
मन भँवरा तहँ लुबधिया, जाणैगा जन कोइ॥ ३॥

२३९

हद छाँड़ि बेहद गया, किया सुंन्नि असनान।
मुनिजन महल न पावई, तहाँ किया बिस्राम॥ १॥

---

२३६ ओहं = ओंकार।

देखौ कर्म कबीरका, कछु पूरब-जनमका लेख ।
जाका महल न मुनि लहैं, सो दोसत किया अलेख ॥ २ ॥

२४०

नींव बिहूँणा देहरा, देह बिहूँणा देव ।
कबीर तहाँ विलंबिआ, करै अलखकी सेव ॥ १ ॥
देवलमाँहैं देहुरी, तिल जे है बिसतार ।
माँहैं पाती माँहि जल, माँहैं पूजणहार ॥ २ ॥

२४१

तूँ तूँ करता तुझ गया, मुझमें रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥ १ ॥
लंबा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु भार ।
कहो संतो क्यूँ पाइए, दुरलभ हरि-दीदार ॥ २ ॥

२४२

अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति ।
जहाँ कबीरा बंदगी, पाप-पुन्न नहीं होति ॥ १ ॥

२४३

दौंकी दाधी लाकड़ी, ठाढ़ी करै पुकार ।
मति बसि पड़ौ लुहारके, जालै दूजी बार ॥ १ ॥
जो उग्या सो आँथवै, फूल्या सो कुम्हलाइ ।
जो चिणियाँ सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥ २ ॥

---

२३९ दोसत किया अलेख = अलख पुरुषको दोस्त बनाया ।

२४० नींव बिंहूणा देहरा = बिना नींवका देवालय । देहरी = देहली । माँ हैं ‥ जल = उसीमें पत्र-पुष्प और उसीमें जल ।

२४१ हूँ = अहंभाव ।

२४३ दौंकी दाधी = दावाग्निकी जली हुई ।

२४३ आँथवै = अस्त होता है । चिणियाँ = जो चुना गया ।

२४४

दूर वे दूर वे दूर वे दूरमति, दूरकी बात तोहि बहुत भावै ।
अहै हज्जूर हाजीर साहब धनी, दूसरा कौन कहु काहि गावै ॥
छोड़ दे कलपना दूरको धावना, राज तजि खाक मुख काहि लावै ।
पेड़के गहेतं डार-पल्लव मिलै, डारके गहे नहिं पेड़ पावै ॥
डार औ पेड़ और फूल-फल प्रगट है, मिले जब गुरू इतनी लखावै ।
संपति-सुख-साहबी छोड़ जोगी भये, सून्यकी आस बनखंड जावै ।
कहहिं कब्बीर बनखंडसे क्या मिलै, दिलहिंको खोज दीदार पावै ।

२४५

मालन आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार ।
फूले फूले चुनि लिए, काल्हि हमारी बार ॥ १ ॥
फागुन आवत देखि करि, बन सूना मनमाँहिं ।
ऊँची डाली पात हैं, दिन दिन पीले थाँहिं ॥ २ ॥
पात पड़ंता यौं कहै, सुन तरवर बनराइ ।
अबके बिछुड़े ना मिलैं, कहिं दूर पड़ेंगे जाइ ॥ ३ ॥

२४६

कहना था सो कह दिया, अब कछु कहा न जाय ।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय ॥ १ ॥
उनमुनिसों मन लागिया, गगनहिं पहुँचा आय ।
चाँद-बिहूना चाँदना, अलख निरंजन राय ॥ २ ॥
गगन गरजि बरसै अमी, बादल गहिर गँभीर ।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर ॥ ३ ॥

---

२४६ उनमुनि = समाधि । चाँदबिहूना चाँदना = अखण्ड ज्योति । बादल= धर्ममेघ (दे० पद ६८ की टिप्पणी)

२४७

अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिंदू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्याके पायन-तर सोवै यह देखो हिंदुआई।
मुसलमानके पीर-औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
ग्वाला केरी बेटी ब्याहैं घरहिमें करै सगाई।
बाहरसे इक मुर्दा लाये धोय-धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं घर-भर करै बड़ाई।
हिंदुनकी हिंदुवाई देखी तुरकनकी तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई॥

२४८

साधो, एक आपु जगमाहीं।
दूजा करम-भरम है किरतिम ज्यों दरपनमें छाहीं॥
जल-तरंग जिमि जलतें उपजै फिर वा माहिं रहाई।
काया झाईं पाँच तत्तकी बिनसै कहाँ समाई।
या विधि सदा देह गति सबकी या बिधि मनहिं बिचारो।
आया होय न्याव करो न्यारो परम तत्त निरवारो॥
सहजै रहै समाय सहजमें ना कहुँ आय न जावै।
धरै न ध्यान करै नहिं जप-तप राम-रहीम न गावै॥
तीरथ-व्रत सकल परित्यागै सुन्न डोर नहिं लावै।
यह धोखा जब समझि परै तब पूजे काहि पुजावै॥
जोग-जुगतमें भरम न छूटै जब लग आप न सूझै।
कह कबीर सोइ सतगुरु पूरा जो कोइ समझै बूझै॥

२४९

(भाई रे) दुई जगदीस कहाँते आया, कहु कवने भरमाया।
अल्लह-राम-करीमा केसो, (हरी) हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनकतें गढ़ना, इनि महँ भाव न दूजा।
कहन-सुननको दुर करि पापिन, इक निमाज इक पूजा॥
वही महादेव वही महंमद, ब्रह्मा-आदम कहिये।
को हिन्दू को तुरुक कहावै, एक जिमींपर रहिये॥
वेद-कितेब पढ़े वे कुतुबा, वे मोलना वे पाँड़े।
वेगरि वेगरि नाम धराये, एक मटियाके भाँडे॥
कहँहि कबीर वे दूनौं भूले, रामहिं किनँहु न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावैं, वादहिं जन्म गँवाया॥

२५०

संतो, राह दुनो हम डीठा।
हिंदु-तुरुक हटा नहिं मानैं, स्वाद सबन्हिको मीठा॥
हिंदू बरत-एकादसि साधैं, दूध-सिंघारासेती।
अनको त्यागैं मनको न हटकैं, पारन करैं सगोती॥
तुरुक रोजा-नीमाज गुजारैं, बिसमिल बाँग पुकारैं।
इनकी भिस्त कहाँतें होइहै, साँझै मुरगी मारैं॥
हिन्दुकी दया मेहर तुरुकनकी, दोनौं घटसों त्यागी।
वे हलाल वे झटके मारैं, आगि दुना घर लागी॥
हिंदु-तुरुककी एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, राम न कहेउ खुदाई॥

२५१

बन्दे तोहि बन्दिगीसों काम, हरि बिन जांनि और हराम ।
दूरि चलणाँ कूँच बेगा इहाँ नहीं मुकाम ॥
इहाँ नहीं कोई यार दोस्त, गाँठि गरथ ना दाम ।
एक एकै संगि चलणां, बीचि नहीं विश्राम ॥
मंसार-सागर विषम तिरणां, सुमरि लै हरि-नाम ।
कहै कबीर तहाँ जाइ रहणा, नगर बसत निधांन ॥

२५२

वेद-कतेब इफतरा भाई दिलका फिकर न जाई ।
टुक दम करारी जो करहु हाजिर हजूर खुदाई ॥
बंदे खोजु दिल हर रोज ना फिरि परेसानी माहिं ।
इह जु दुनिया सहरु मेला दस्तगीरी नाहिं ॥
दरोग पढ़ि पढ़ि खुशी होइ बेखबर बाद बकाहि ।
हक सच्चु खालक खलकम्याने स्याम मूरति नाहिं ॥
असमान म्याने लहँग दरिया गुसल करद न बूद ।
करि फिकरु दाइन लाइ चसमे जहँ तहाँ मौजूद ॥
अल्लह पाक पाक है सक करो जो दूसर होइ ।
कबीर कर्म करीमका उहु करे जानै सोइ ॥

---

२५१ कूँच बेगा = अपरिचित स्थानकी यात्रा ।

२५२ इफतरा = मिथ्या । दरोग = झूठ । हक़ = सत्य । खालिक = सृष्टि-कर्ता । खलक = जगत् ।

२५३

मन, तुम नाहक दुंद मचाये।
करि असमान छुवो नहिं काहू, पाती फूल चढ़ाये।
मूरतिसे दुनिया फल माँगै, अपने हाथ बनाये।
यह जग पूजै देव-देहरा, तीरथ-वर्त-अन्हाये।
चलत-फिरतमें पाँव थकित भे, यह दुख कहाँ समाये।
झूठी काया झूठी माया, झूठे झूठे झूठल खाये।
बाँझिन गाय दूध नहिं देहै, माखन कहँसे पाये।
साँचेके सँग साँच बसत है, झूठे मारि हटाये।
कहै कबीर जहँ साँच वस्तु है, सहजै दरसन पाये॥

२५४

यह जग अंधा मैं केहि समुझावों।
इक-दुई हों उन्हें समुझावों सब ही भुलाना पेटके धंधा।
पानीके घोड़ा पवन असवरवा ढरकि परै जस ओसके बुंदा।
गहरी नदिया अगम बहै धरवा खेवनहारा पड़िगा फंदा॥
घरकी वस्तु निकट नहिं आवत दियना बारिके ढूँढ़त अंधा।
लागी आग सकल बन जरिगा बिन गुरुग्यान भटकिया बंदा।
कहै कबीर सुनो भई साधो इक दिन जाय लँगोटी झार बंदा॥

---

२५४ पानीकै घोड़ा = क्षणभंगुर शरीर। पवन-असवरवा = प्राण। गहरी नदी = मायाप्रवाह। खेवनहारा = जीवात्मा। घर''अंधा = घरमें पड़ी हुई वस्तुके नजदीक तो जाता नहीं, यह अन्धा (मुग्ध मनुष्य) सारी दुनियामें उसे दिया जलाकर खोजता फिरता है। लागी आग = मोहकी आग लगी हुई है।

२५५

बाजन दे बाजंतरी, कलि ककुही जनि छेड़ ।
तुझे बिरानी का परी, अपनी आप निबेर ॥ १ ॥
देश-विदेसन हौं फिरा, गाँव गाँवकी खोरि ।
ऐसा जियरा ना मिला, लेवे फटकि पिछोरि ॥ २ ॥

२५६

शून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय ।
राम-सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय ॥

---

२५५ बाजंतरी = यंत्री, वीणा । कलि ककुही = निकृष्ट वाद्य । टीकाकारोंका कहना है कि बाजंतरीसे संसारके लोगोंकी नाना मतवाली वाणी और कलि ककुहीसे बेदुआ शास्त्री पुराणिक, आदिका तात्पर्य है (त्रिज्या० पृ० ६४७) परन्तु सीधा अर्थ यह जान पड़ता है कि तेरे भीतर जो उत्तम आनन्द-ध्वनि है उसे ही बजने दे, दुनियावी टण्टोंमें न पड़ । तुझे दूसरोंकी क्या पड़ी है, अपनी ही सम्हाल । विश्व० में कलि-कुकुरी पाठ है और अर्थ यह किया गया है कि यह शरीर यन्त्र (वीणा) है और बजानेवालेके अधीन है । वह जैसा चाहेगा, बजाएगा । तू मनको 'जो बैकल कुकुरियोंके समान है' मत छेड़, नहीं तो उसका विप तुझे भी बैकल कर देगा ।

२५६ रामके प्रति प्रेम भक्तिशून्य समाधि, अजपाजाप और अनहद नादकी अनुभूतिकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और शाश्वत है ।

अनुक्रमणिका

लेखककी अन्य रचनायें

१.	हिन्दी साहित्यकी भूमिका	...	४·५०
२.	बाणभट्टकी आत्मकथा	...	५·००
३.	मेघदूत—एक पुरानी कहानी	...	३·००
४.	प्राचीन भारतके कलात्मक विनोद	...	३·००
५.	सूर-साहित्य	...	३·००
६.	विचार-प्रवाह	...	५·००
७.	विचार और वितर्क	...	३·००
८.	हिन्दी साहित्य	...	६·५०
९.	सन्देश रासक (सम्पादित)	...	८·००
१०.	नाथ सम्प्रदाय	...	५·००
११.	अशोकके फूल	...	३·००
१२.	मध्यकालीन धर्म-साधना	...	४·००
१३.	कल्पलता	...	२·५०
१४.	निबन्ध संग्रह	...	५·००
१५.	सं० पृथ्वीराज रासो (सम्पादित)	...	४·५०
१६.	साहित्यका मर्म	...	१·००
१७.	हिन्दी साहित्यका आदिकाल	...	३·२५

●

प्राप्ति-स्थान :

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड,

हीराबाग, बम्बई ४.